अनुवादकीय

राजनीति-शास्त्र (द्वितीय भाग) के इस पंचम संस्करण को पाठकों के हाथों में देते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। पिछले कई वर्षों से लगातार मैं इस ग्रन्थ को सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न कर रहा हूं ताकि विद्यार्थी राजनीति-शास्त्र के गूढ़ विषयों को सरलता से समझ सकें और उन्हें यह विषय सरल प्रतीत होने लगे। हिन्दी संस्करण की बढ़ती हुई मांग देखकर मुझे ऐसा लगता है कि कदाचित् मुझे अपने प्रयत्न में सफलता मिली है और यही मेरी प्रसन्नता का कारण है। पुस्तक के अन्त में अनुक्रमणिका भी दे दी गयी है। आशा है कि इससे पाठकों को बहुत लाभ होगा।

राजनीति-शास्त्र के विषयों को भली प्रकार से समझने के इच्छुक पाठकों को प्रसिद्ध विचारकों के मूलग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। जितना ही विस्तृत उनका अध्ययन होगा उतना ही अधिक उनको विषय का ज्ञान होगा।

—नरोत्तम भार्गव

१५ मई, १९६१

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

मार्केकी बात यह है कि सामाजिक विधिमें उस प्रकारका जोर दबाव नहीं होता जैसा कि राजनीतिक विधिमें होता है। 'प्रत्येक संघ अपने-अपने नियम या विधियां बनाता हैं' परन्तु मैकाइवर के शब्दोंमें 'एक विकसित राज्य में राज्यके अलावा अन्य संघों की विधियां अपने सदस्यों को तभी तक बन्धन में रख सकती हैं जब तक कि ये सदस्य सपकी सदस्यतासे प्राप्त लाभोंको खोनेके बजाए उन बन्धनोंको स्वीकार करना पसन्द करते हैं (५५.१७) अर्थात् 'एक उन्नत समाजमें राज्यकी विधि ही अनिवार्य और दबाव पूर्ण होती है।' सामाजिक विधियोंको माननेकी प्रेरणा पूर्णरूप से हमारे ही भीतर रहती है, पर राजनीतिक विधियां बाहरी होती हैं और व्यवस्था कायम रखनेके लिए उनका पालन करना अनिवार्य कर दिया जाता है।

विधिकी परिभाषा

विधिका विश्लेषणात्मक सिद्धान्त जिसे रूढ़ या शास्त्रीय सिद्धान्त भी कहते हैं, ऑस्टिन के नामसे सम्बन्धित है (The analytical theory of law known also as the orthodox or classical theory is associated with the name of Austin)। उनका कहना है कि विधि वह आदेश है जो कि राजनीतिक दृष्टिसे अधिक शक्तिमान द्वारा राजनीतिक दृष्टिसे कम शक्तिमानको दिया जाता है। अन्तिम विश्लेषणमें विधिको एक निश्चित उच्चतर सत्ताका आदेश कहा जा सकता है।

सर हेन्री मेन को इस दृष्टिकोण पर आपत्ति है। वह इस परिभाषाको अत्यन्त संकीर्ण मानते हैं, क्योंकि समाजमें जो प्रचलन (usages) हैं वे भी विधि के अंग हैं किन्तु उनको इस परिभाषामें कोई स्थान नहीं दिया गया है। न्यायशास्त्र (jurisprudence) के इस ऐतिहासिक मतके अनुसार विधि विभिन्न सामाजिक शक्तियोंका प्रतिफल है।

विधिके निम्नलिखित तीन मुख्य स्रोत हैं: (१) सार्वजनिक स्वीकृति, (२) रीति-रिवाज तथा प्रथाएं (customs and conventions), और (३) राजनीतिक अधिकार सत्ता। इनमें से प्रथम दोनों विधिके तात्त्विक स्रोत (material source) हैं और तीसरा औपचारिक (formal) स्रोत है। इस दृष्टिकोणसे विधिकी परिभाषा यह की जा सकती है कि वह समाज के भीतर काम करने वाले कुल ऐतिहासिक, नैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियोंका योग है।

वुड्रो विल्सन की परिभाषा उक्त दोनों, अर्थात्, विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणोंका सुन्दर सामञ्जस्य है। उनके अनुसार विधि हमारे वे आचार-विचार हैं जिनको सर्वसम्मत नियमोंके रूपमें निश्चित मान्यताएं प्राप्त हो जाती हैं और जिनको सरकार की शक्ति और सत्ताका समर्थन प्राप्त रहता है (Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules

backed by the authority and power of government.)। (गिलक्राइस्ट द्वारा उद्धृत २८ : १६१)

हॉलैण्ड जो ऑस्टिन की परम्पराके अनुयायी मालूम पड़ते हैं, विधिकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं : 'विधि हमारे बाहरी आचरणो को नियंत्रित करनेवाले वह सामान्य नियम हैं जिनको कि एक निश्चित मानवी सत्ता लागू करती है और यह सत्ता एक राजनीतिक समाजमें उपलब्ध सभी मानवी सत्ताओंमें सर्वोपरि होती है ; या सक्षेपमें विधि हमारे बाहरी आचरणको नियंत्रित करनेवाले वह सामान्य नियम हैं जिनको कि एक सम्प्रभु राजनीतिक सत्ता लागू करती है।' (गिलक्राइस्ट से उद्धृत, २८ : १६१)

ऊपर दी गयी परिभाषाओंसे यह स्पष्ट है कि विधिके लिए एक नागरिक समाज का होना आवश्यक है। इसके अलावा, ऊपर की परिभाषाओंसे विधि की निम्नलिखित विशेषताएं प्रकट होती हैं : (१) विधि किसी राज्यकी सामाजिक दशाको प्रतिबिम्बित करती है; (२) विधि एक नियम निकाय है (law is a body of rules), (३) विधि व्यक्तिके बाहरी व्यवहारका नियंत्रण करनेवाली शक्ति है, (४) विधिमें दबाव निहित है जो कि नैतिककी अपेक्षा भौतिक अधिक है (more physical than moral)।

विधिके स्रोत
(Sources of Law)

राज्यकी तरह विधिका विकास भी क्रमशः हुआ है और वह अनेक कारको (factors) का प्रतिफल है। हॉलैण्ड विधिके निम्नलिखित स्रोत बताते हैं :

(१) रीति-रिवाज. प्रत्येक समाजमें विधिका सबसे पहला स्वरूप रीति-रिवाज है। जहा सामाजिक संगठन सरल या सीधासादा है वहा रीति-रिवाज बहुत महत्व रखते हैं। रीति-रिवाज ही वहा के राजा हैं। उनका पालन विविध कारणोंसे किया जाता है। एक तो रीति-रिवाजोंको माननेकी आदत हो जाती है। दूसरे उनके पालनमें सुरक्षा प्राप्त होती है। आज भी विधिका बहुत बड़ा अंश रीति-रिवाज ही है। यह सही है कि लोग रीति-रिवाजोंका पालन आदत या अभ्यासवश ही करते हैं पर इस आदतके पीछे सामाजिक उपयोगिता है। उदाहरणार्थ रक्त सम्बन्धकी कुछ शृंखलाओं तक विवाह यदि निषिद्ध है तो वह सिर्फ इसलिए नहीं कि आदतवश लोगों में इस रिवाजका अन्धानुकरण हो रहा है बल्कि इस रिवाज के पीछे प्राणिशास्त्र और सन्ततिशास्त्रके गम्भीर कारण भी हैं। जब रीति-रिवाज राज्य द्वारा स्वीकृत हो जाते हैं और उन्हें जबर्दस्ती भी मनवाने का बल प्राप्त हो जाता है तब वे विधिके पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इसी सम्बन्ध में मैकाइवर लिखते हैं :—"विधिके विशाल ग्रन्थ में राज्य केवल एकाध नये वाक्य लिख देता है और इधर उधर एकाध पुराने वाक्य काट देता है। ग्रन्थका अधिकांश राज्य द्वारा कदापि नहीं लिखा गया है (५५:

मार्केकी बात यह है कि सामाजिक विधिमें उस प्रकारका जोर दबाव नहीं होता जैसा कि राजनीतिक विधिमें होता है। 'प्रत्येक संघ अपने-अपने नियम या विधियां बनाता है' परन्तु मैकाइवर के शब्दोंमें 'एक विकसित राज्य में राज्यके अलावा अन्य संघों की विधियां अपने सदस्यों को तभी तक बन्धन में रख सकती हैं जब तक कि ये सदस्य संघकी सदस्यताले प्राप्त लाभोंको खोनेके बजाए उन बन्धनोंको स्वीकार करना पसन्द करते हैं (५५ १७) अर्थात् 'एक उन्नत समाजमें राज्यकी विधि ही अनिवार्य और दबाव पूर्ण होती है।' सामाजिक विधियोंको माननेकी प्रेरणा पूर्णरूप से हमारे ही भीतर रहती है, पर राजनीतिक विधियां बाहरी होती हैं और व्यवस्था कायम रखनेके लिए उनका पालन करना अनिवार्य कर दिया जाता है।

विधिकी परिभाषा

विधिका विश्लेषणात्मक सिद्धान्त जिसे रूढ़ या शास्त्रीय सिद्धान्त भी कहते हैं, ऑस्टिन के नामसे सम्बन्धित है (The analytical theory of law known also as the orthodox or classical theory is associated with the name of Austin)। उनका कहना है कि विधि वह आदेश है जो कि राजनीतिक दृष्टिसे अधिक शक्तिमान द्वारा राजनीतिक दृष्टिसे कम शक्तिमानको दिया जाता है। *अन्तिम विश्लेषणमें विधिको एक निश्चित उच्चतर सत्ताका आदेश कहा जा सकता है।*

सर हेनरी मेन को इस दृष्टिकोण पर आपत्ति है। वह इस परिभाषा को अत्यन्त संकीर्ण मानते हैं, क्योंकि समाजमें जो प्रचलन (usages) हैं वे भी विधि के अंग हैं किन्तु उनको इस परिभाषामें कोई स्थान नहीं दिया गया है। न्यायशास्त्र (jurisprudence) के इस इतिहासीय मतके अनुसार विधि विभिन्न सामाजिक बलोंका प्रतिफल है।

विधिके निम्नलिखित तीन मुख्य स्रोत हैं (१) सार्वजनिक स्वीकृति, (२) रीति-रिवाज तथा प्रथाएं (customs and conventions), और (३) राजनीतिक अधिकार सत्ता। इनमें से प्रथम दोनों विधिके तात्त्विक स्रोत (material source) हैं और तीसरा औपचारिक (formal) स्रोत है। इस दृष्टिकोणसे विधिकी परिभाषा यह की जा सकती है कि वह समाज के भीतर काम करने वाले कुल इतिहासीय, नैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक बलोंका योग है।

वुड्रो विल्सन की परिभाषा उक्त दोनों, अर्थात्, विश्लेषणात्मक और इतिहासीय दृष्टिकोणोंका सुन्दर सामंजस्य है। उनके अनुसार विधि हमारे वे आचार-विचार हैं जिनको सर्वसमान नियमोंके रूपमें निश्चित मान्यताएं प्राप्त हो जाती हैं और जिनको सरकार की शक्ति और सत्ताका समर्थन प्राप्त रहता है (Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules

backed by the authority and power of government.)। (गिलक्राइस्ट द्वारा उद्धृत २८ : १६१)

हॉलैण्ड जो ऑस्टिन की परम्पराके अनुयायी मालूम पड़ते हैं, विधिकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं : 'विधि हमारे बाहरी आचरणों को नियंत्रित करनेवाले वह सामान्य नियम हैं जिनको कि एक निश्चित मानवी सत्ता लागू करती है और यह सत्ता एक राजनीतिक समाजमें उपलब्ध सभी मानवी सत्ताओंमें सर्वोपरि होती है ; या संक्षेपमें विधि हमारे बाहरी आचरणको नियंत्रित करनेवाले वह सामान्य नियम हैं जिनको कि एक सम्प्रभु राजनीतिक सत्ता लागू करती है।' (गिलक्राइस्ट में उद्धृत, २८ : १६१)

ऊपर दी गयी परिभाषाओंमें यह स्पष्ट है कि विधिके लिए एक नागरिक समाज का होना आवश्यक है। इसके अलावा, ऊपर की परिभाषाओंमें विधि की निम्नलिखित विशेषताएं प्रकट होती हैं : (१) विधि किसी राज्यकी सामाजिक दशाको प्रतिबिम्बित करती है; (२) विधि एक नियम निकाय है (law is a body of rules); (३) विधि व्यक्तिके बाहरी व्यवहारका नियंत्रण करनेवाली शक्ति है; (४) विधिमें दबाव निहित है जो कि नैतिककी अपेक्षा भौतिक अधिक है (more physical than moral)।

विधिके स्रोत
(Sources of Law)

राज्यकी तरह विधिका विकास भी क्रमशः हुआ है और वह अनेक कारकों (factors) का प्रतिफल है। हॉलैण्ड विधिके निम्नलिखित स्रोत बताते हैं :

(१) रीति-रिवाज प्रत्येक समाजमें विधिका सबसे पहला स्वरूप रीति-रिवाज है। जहां सामाजिक संगठन सरल या सीधासादा है वहां रीति-रिवाज बहुत महत्त्व रखते हैं। रीति-रिवाज ही वहां के राजा हैं। उनका पालन विविध कारणोंसे किया जाता है। एक तो रीति-रिवाजोंको माननेकी आदत हो जाती है। दूसरे उनके पालनमें सुरक्षा प्राप्त होती है। आज भी विधिका बहुत बड़ा अंश रीति-रिवाज ही हैं। यह सही है कि लोग रीति-रिवाजोंका पालन आदत या अभ्यासवश ही करते हैं पर इस आदतके पीछे सामाजिक उपयोगिता है। उदाहरणार्थ रक्त सम्बन्धकी कुछ शृंखलाओं तक विवाह यदि निषिद्ध है तो वह सिर्फ इसलिए नहीं कि आदतवश लोगों में इस रिवाजका अन्धानुकरण हो रहा है बल्कि इस रिवाज के पीछे प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञानके गम्भीर कारण भी हैं। जब रीति-रिवाज राज्य द्वारा स्वीकृत हो जाते हैं और उन्हें जबर्दस्ती भी मनवाने का बल प्राप्त हो जाता है तब वे विधिके पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इसी सम्बन्ध में मैकाइवर लिखते हैं :—"विधिके विशाल ग्रन्थ में राज्य केवल एकाध नये वाक्य लिख देता है और इधर उधर एकाध पुराने वाक्य काट देता है। ग्रन्थका अधिकांश राज्य द्वारा कदापि नहीं लिखा गया है (५५:

अधिकारोको स्वीकार तो करती है पर उनकी प्राप्ति या रक्षाके लिए पर्याप्त नही होती। उन समस्याओ से सम्बन्धित साम्याधिकार सहायक कहलाता हैं जिनमें पर्याप्त साक्ष्य (evidence) नही प्राप्त हो सकता (equity is auxiliary where the necessary evidence cannot be procured) (२८ : १६८)।

(६) विधान (**Legislation**). यह विधिका अन्तिम लेकिन सबसे सबल स्रोत हैं। यह जनताकी इच्छाकी अभिव्यक्ति है। लोकतंत्रीय देशोमें यह अभिव्यक्ति जनता द्वारा चुनी गयी विधायिकाओ द्वारा होती है। साम्याधिकार, कानूनी फैसलो और वैज्ञानिक टीकाओ आदि का प्रभाव तो इस अभिव्यक्ति पर निरन्तर पड़ता रहता हैं पर यह उन सबको आत्मसात् कर लेती हैं।

वुड्रो विल्सन ने विधिके विकासकी सारी प्रक्रियाका निम्नलिखित शब्दोमें बडी विद्वत्तापूर्ण साराश दिया है—

रीति-रिवाज विधिका आदिम आधार है, लेकिन धर्म भी रीति-रिवाजके समकालीन और उसीके समान सफल स्रोत है। राष्ट्रीय विकास की समान अवस्थाओ में रीति-रिवाज और धर्म दोनो ही समान रूप से विधि के स्रोत हैं। पच-निर्णय (adjudication) का उदय ही एक अधिकार सत्ता के रूप में होता है। और यह पचनिर्णय बहुत पुराने समय से साम्याधिकार के साथ-साथ विधि के विकासमें भाग लेते आये है। रीति-रिवाज, धर्म, पचनिर्णय और साम्याधिकार इन चारो के आधार पर जब समाजमें विधिका पर्याप्त विकास हो चुका होता है उसके बाद ही विधान (विधि निर्माण) अर्थात् विधिका चेतन और सायाससगठन (conscious and deliberate organisation of law) और वैज्ञानिक विचार विमर्श (विधि के सिद्धान्तो का तर्कयुक्त प्रतिपादन (reasoned development of principles) ये दोनो विधि-निर्माण को प्रभावित कर विधि के स्रोत बनते हैं।

विधिके प्रकार
(Types of Law)

मैकवाइवर ने इस प्रकार विधिका वर्गीकरण किया है:

राजनीतिक विधि
- राष्ट्रीय विधि (Municipal law)
  - सावैधानिक विधि (Constitutional law)
  - साधारण विधि (Ordinary law)
    - सार्वजनिक विधि (Public law)
      - प्रशासी विधि (Administrative law)
      - सामान्य विधि (General law)
    - वैयक्तिक विधि (Private law)
- अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International law)
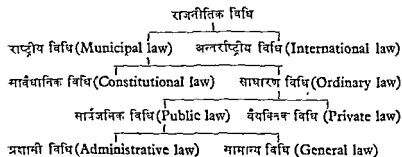
सांवैधानिक विधि (Constitutional law). जिस विधि द्वारा राज्य स्वत नियन्त्रित होता है और जिस विधि द्वारा राज्य जनता पर शासन करता है इन दोनों में प्रायः भेद किया जाता है। पहले प्रकारकी विधिको सांवैधानिक विधि और दूसरे प्रकारकी विधिको साधारण विधि कहते हैं। सांवैधानिक विधि अंशतः लिखित और अंशतः अलिखित होती है। साधारण विधि तो विधि निर्माणकी नियमित प्रक्रिया द्वारा अर्थात् विधायिका द्वारा बनायी जाती है किन्तु सांवैधानिक विधि विधायिका की इच्छाके भी ऊपर अन्तिम सम्प्रभुकी इच्छासे बनती है। मैकाइवर कहते हैं कि सांवैधानिक विधि सरकारके विभिन्न विभागोंके कृत्यों को निश्चित करती हैं और शासकों और शासितों के बीच सम्बन्ध निर्धारित करती हैं। इसका उद्गम समाजकी एकताके उत्तर में होता है जो निश्चित और स्पष्ट रूपसे यह स्थिर करता है कि राज्यको क्या करना चाहिए और उसका सगठन कैसा होना चाहिए। सांवैधानिक विधि सरकारकी सत्ता और शक्ति को मर्यादित कर देती है। फलत सरकार निर्धारित सीमाके भीतर ही अपनी अधिकार-सत्ता का उपयोग कर सकती है, उसके बाहर नहीं।

साधारण विधि (Ordinary law) मैकाइवर ने ठीक कहा है कि राज्य विधिसे बनता भी है और उसको बनाता भी है (५५ २७२)। जनके रूपमें राज्य विधायिकाओं द्वारा विधि बनाता है। ये विधियां नागरिकोंके पारस्परिक *सम्बन्धों और राज्यके साथ नागरिकोंके सम्बन्धों का नियमन करती हैं,* और इन्हें साधारण विधि या लिखित विधि (statute, स्टैट्यूट) कहते हैं। अदालतें उन्हें स्वीकार करती हैं और उन्हें भंग करने वालों को दण्ड देती हैं।

सार्वजनिक विधि और वैयक्तिक विधि (Public law and private law). साधारण विधिको सार्वजनिक और वैयक्तिक दो वर्गोंमें बाटनेका श्रेय हॉलैण्डको है। उनके अनुसार सार्वजनिक विधिका सम्बन्ध राज्यके सगठन, सरकारी कार्योंके परिसीमन (limitation of governmental functions) और राज्य तथा व्यक्तिके सम्बन्धोंसे है। इसके विपरीत वैयक्तिक विधि व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करती है। यह व्यक्तियोंके अधिकारों और उत्तरदायित्वोंको निश्चित करती है और उनका नियमन (regulation) करती है। स्वय हॉलैण्ड के शब्दोंमें वैयक्तिक विधिमें सम्बन्धित उभय-पक्ष अर्थात् दोनों पक्ष नागरिक होते हैं, राज्य जिनके ऊपर और जिनके बीच एक निष्पक्ष पचके रूपमें विद्यमान रहता है। यद्यपि सार्वजनिक विधिमें भी राज्य एक निष्पक्ष पचके रूपमें रहता है तथापि वह सम्बन्धित पक्षोंमें से एक पक्ष स्वय होता है।

राष्ट्रीय विधि (Municipal law). सार्वजनिक और वैयक्तिक विधि दोनों मिलकर राष्ट्रीय विधि कहलाती है। यह राज्यकी सीमाके अन्दर सभी व्यक्तियों और सघों पर लागू होती है और राज्यकी सर्वोच्च सत्ता द्वारा लागू की जाती है।

क्षेत्रमे घेर ले। और आगे चलकर यह आशाकी जाती है कि मालिकका ऐसा कृत्य वैधिक दृष्टिसे भी अनुचित ठहरा दिया जायगा। यह भी जरूरी नही है कि जो राज्य द्वारा निषिद्ध हो वह सब नैतिक दृष्टिसे अनुचित हो। भारत, ब्रिटेन और कई अन्य देशो में सडकके बाईं ओर से जाना वैधिक है पर इसमें नैतिक औचित्य का कोई विशेष प्रश्न नही है। बल्कि सयुक्त राज्य अमेरिका और योरोप के कई देशोमें तो दाहिनी ओरसे जानेका नियम है। विधि के निर्माणमे कार्यान्वित करनेकी क्षमता और सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है जब कि नैतिकता पूरी तौर से यह देखती है कि क्या सही है और क्या गलत, क्या उचित है और क्या अनुचित। वह नैतिकता ही क्या जो सुविधा से समझौता (compromise) कर ले।

राजनीतिक विधि बाह्य होती है पर नैतिक विधि आन्तरिक होती है। राजनीतिक विधि का सम्बन्ध उन कार्यो से होता है जिन्हे करने की इजाजत राज्य का कानून देता है या जिन्हें करनेसे वह रोकता है। दूसरी ओर सार्वलौकिक सत्यो (universal values) की जो धाराए व्यक्तिके अन्दर बन जाती है और उनके जो अर्थ वह लगाता है उन्हीसे नैतिकताका निर्माण होता है। "सभी नैतिक दायित्वोको वैधिक दायित्व बना देना नैतिकताको नष्ट करना होगा (५५ : १५७)।" इसका अर्थ यह है कि राज्य नैतिकताके आदेश नही दे सकता क्योंकि नैतिकता तो वह है जो स्वतःप्रेरित हो। राज्य द्वारा लादी गयी नैतिकता, जबर्दस्ती है, नैतिकता नही। जैसा कि ऊपर कहा गया है नैतिकता आन्तरिक विश्वास और अन्तःकरणका विषय है और इसलिए यह आसानीसे बाहरी नियत्रणमें नही आती।

नैतिकता और विधिमें समानता

फिर भी विधि और नैतिकतामें काफी हद तक समानता है। यदि जनता अच्छी है तो राज्य भी अच्छा होगा, और यदि राज्य अच्छा है तो जनता भी अच्छी होगी। प्लेटो के प्रसिद्ध शब्दो में 'सबसे अच्छा राज्य वह है जिसमें इतनी अच्छाइया हो जितनी कि एक व्यक्तिमें सम्भव है। यदि राज्यके किसी अगको क्षति पहुचती है तो पूरे राज्यकी हानि होती है।' या जैसा कि किसी अन्य लेखक ने कहा है: "यह सही है कि आत्माका उद्धार (salvation) मनुष्यके प्रयत्नोंसे ही सम्भव है, किन्तु आत्मा का घर अर्थात् मनुष्य तो राज्यमें ही रहता है।" दूसरे शब्दोंमें व्यक्ति अपना पूर्ण विकास राज्यमें ही, राज्यकी सहायता से ही कर सकता है। उसके नैतिक जीवनकी सबसे बड़ी शर्त यही है। व्यवस्था, समानता और न्यायके अभावमें आत्मा घुटने लगेगी और इन तीनो की व्यवस्था राज्य ही अपनी विधियों द्वारा करता है।

राज्य एक ओर उन परिस्थितियोंकी वृद्धि कर सकता है जो नैतिकताके लिए हितकर है और दूसरी ओर उन परिस्थितियोंको दूर कर सकता है जो उसके लिए अहितकर है। गिलक्राइस्ट इसी बातको इस प्रकार कहते है: 'नैतिक प्रश्नोंके रूपमें राज्य एक ओर तो अच्छी विधियां बनाता है अर्थात् ऐसी विधियां बनाता है जो

जनताके सर्वोच्च नैतिक हितोंके अनुकूल होती है, और दूसरी ओर उन विधियोंको रद्द करता चलता है जो जनताके लिए अहितकर हो गयी हो।'

विधि और नैतिकता का इतना गहरा सम्बन्ध है कि अक्सर अवैधिक और अनैतिक मे अन्तर करना मुश्किल हो जाता है। क्योंकि प्राय जो अवैधिक है वह अनैतिक भी है और जो वैधिक तौर पर ठीक है वह नैतिक भी है। किन्तु जो आज गैरकानूनी है वह कल नैतिक हो सकता है और इसलिए तब विधिको बदलनेकी आवश्यकता पड़ेगी अन्यथा नैतिकताका अहित हो सकता है। हर हालतमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि राज्य स्वयं साध्य नही है। साध्य तो मनुष्य के व्यक्तित्व की समृद्धि है। राज्य तो असली उद्देश्य तक पहुचनेका यानी मनुष्य के व्यक्तित्व की समृद्धि का एक साधन मात्र है।

विधि और राज्य
(Law and State)

कोकर के अनुसार, राज्यकी सत्ताको सीमित करनेके अनेक प्रयत्न, तीन दृष्टिकोणोंमे किये गये है। प्रथम तो यह कि व्यक्ति की कुछ जीवनचर्या ऐसी भी होती है जिसमे राज्य का दखल अनुचित होगा। अपने इस कार्यक्षेत्र को वह अपनी और अपने समाजकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार और सत्-असत्के सार्वलौकिक या निर्विवाद सिद्धान्तो के ऊपर आधारित करना चाहता है। इस दृष्टिकोणको राजनीतिशास्त्र में आमतौर पर व्यक्तिवाद कहा जाता है और इसके साथ प्राकृतिक अधिकारो और विवेककी स्वाधीनता जैसे सहगामी विचार जुड़े रहते है।

राज्यके अन्दर बहुतसे सामाजिक और आर्थिक सघ होते है जो स्थायी रूपसे क्रियाशील रहते है। कुछ लेखकोंका मत है कि इनको पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्यको इनके कार्योंमें किसी प्रकारका भी हस्तक्षेप नही करना चाहिए। क्योंकि राज्य सघोका सघ ही तो है। यह दूसरा दृष्टिकोण है जो राज्यकी सत्ताको सीमित कर देना चाहता है। इसको बहुलवाद (pluralism) कहते है।

कुछ विचारक विधिके दृष्टिकोणसे ही राज्यके ऊपर एक तीसरे प्रकारका प्रतिबन्ध लगाना चाहते है। इन विचारकों का कहना है कि विधि केवल राज्यकी सृष्टि मात्र नही है बल्कि वह राज्यसे पूर्वकालीन और उससे उच्चतर भी है। यूनानके दार्शनिक, राजकीय आज्ञप्तियों (State decrees) और विधियोंमें अन्तर मानते थे और विधियोंको उच्चतर स्थान देते थे। जहा एक ओर हर समुदायकी एक लिखित विधि होती थी जिसका उपयोग सीमित होता था और जो समयके साथ बदलती रहती थी, वहा उसके पीछे एक अलिखित विधि भी होती थी जिसे 'प्राकृतिक विधि', 'दैवी विधि' या 'सार्वलौकिक विधि' के नामोंसे पुकारा जाता था और जो समयके साथ बदलती नहीं थी। जिस राज्यमें 'मानव विधि' अर्थात् मनुष्यो द्वारा बनायी गयी विधि 'दैवी विधि' के अनुरूप नहीं होती थी उसे भ्रष्ट राज्य कहा जाता था।

क्षेत्रसे घेर ले। और आगे चलकर यह आशाकी जाती है कि मालिकका ऐसा कृत्य वैधिक दृष्टिसे भी अनुचित ठहरा दिया जायगा। यह भी जरूरी नहीं है कि जो राज्य द्वारा निषिद्ध हो वह सब नैतिक दृष्टिसे अनुचित हो। भारत, ब्रिटेन और कई अन्य देशोंमें सड़कके बाईं ओर से जाना वैधिक है पर इसमें नैतिक औचित्य का कोई विशेष प्रश्न नहीं है। बल्कि संयुक्त राज्य अमेरिका और योरोप के कई देशोंमें तो दाहिनी ओरसे जानेका नियम है। विधि के निर्माणमें कार्यान्वित करनेकी क्षमता और सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है जब कि नैतिकता पूरी तौर से यह देखती है कि क्या सही है और क्या गलत, क्या उचित है और क्या अनुचित। वह नैतिकता ही क्या जो सुविधा से समझौता (compromise) कर ले।

राजनीतिक विधि बाह्य होती है पर नैतिक विधि आन्तरिक होती है। राजनीतिक विधि का सम्बन्ध उन कार्यों से होता है जिन्हें करने की इजाजत राज्य का कानून देता है या जिन्हें करनेसे वह रोकता है। दूसरी ओर सार्वलौकिक सत्यों (universal values) की जो धाराएं व्यक्तिके अन्दर बन जाती हैं और उनके जो अर्थ वह लगाता है उन्हींसे नैतिकताका निर्माण होता है। "सभी नैतिक दायित्वोंको वैधिक दायित्व बना देना नैतिकताको नष्ट करना होगा (५५ - १५७)।" इसका अर्थ यह है कि राज्य नैतिकताके आदेश नहीं दे सकता क्योंकि नैतिकता तो वह है जो स्वतःप्रेरित हो। राज्य द्वारा लादी गयी नैतिकता, जबर्दस्ती है, नैतिकता नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है नैतिकता आन्तरिक विश्वास और अन्तःकरणका विषय है और इसलिए यह आसानीसे बाहरी नियंत्रणमें नहीं आती।

नैतिकता और विधिमें समानता

फिर भी विधि और नैतिकतामें काफी हद तक समानता है। यदि जनता अच्छी है तो राज्य भी अच्छा होगा, और यदि राज्य अच्छा है तो जनता भी अच्छी होगी। प्लेटो के प्रसिद्ध शब्दों में 'सबसे अच्छा राज्य वह है जिसमें इतनी अच्छाइयां हों जितनी कि एक व्यक्तिमें सम्भव हैं। यदि राज्यके किसी अंगको क्षति पहुंचती है तो पूरे राज्यकी हानि होती है।' या जैसा कि किसी अन्य लेखक ने कहा है: "यह सही है कि आत्माका उद्धार (salvation) मनुष्यके प्रयत्नोंसे ही सम्भव है, किन्तु आत्मा का घर अर्थात् मनुष्य तो राज्यमें ही रहता है।" दूसरे शब्दोंमें व्यक्ति अपना पूर्ण विकास राज्यमें ही, राज्यकी सहायता से ही कर सकता है। उसके नैतिक जीवनकी सबसे बड़ी शर्त यही है। व्यवस्था, समानता और न्यायके अभावमें आत्मा घुटने लगेगी और इन तीनों की व्यवस्था राज्य ही अपनी विधियों द्वारा करता है।

राज्य एक ओर उन परिस्थितियोंकी वृद्धि कर सकता है जो नैतिकताके लिए हितकर हैं और दूसरी ओर उन परिस्थितियोंको दूर कर सकता है जो उसके लिए अहितकर हैं। गिलक्राइस्ट इसी बातको इस प्रकार कहते हैं: 'नैतिक प्रहरीके रूपमें राज्य एक ओर तो अच्छी विधियां बनाता है अर्थात् ऐसी विधियां बनाता है जो

जनताके सर्वोच्च नैतिक हितोंके अनुकूल होती है, और दूसरी ओर उन विधियोंको रद्द करता चलता है जो जनताके लिए अहितकर हो गयी हो।'

विधि और नैतिकता का इतना गहरा सम्बन्ध है कि अक्सर अवैधिक और अनैतिक में अन्तर करना मुश्किल हो जाता है। क्योंकि प्राय जो अवैधिक है वह अनैतिक भी है और जो वैधिक तौर पर ठीक है वह नैतिक भी है। किन्तु जो आज गैरकानूनी है वह कल नैतिक हो सकता है और इसलिए तब विधिको बदलनेकी आवश्यकता पड़ेगी अन्यथा नैतिकताका अहित हो सकता है। हर हालतमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि राज्य स्वयं साध्य नहीं है। साध्य तो मनुष्य के व्यक्तित्व की समृद्धि है। राज्य तो असली उद्देश्य तक पहुंचनेका यानी मनुष्य के व्यक्तित्व की समृद्धि का एक साधन मात्र है।

विधि और राज्य
(Law and State)

कोकर के अनुसार, राज्यकी सत्ताको सीमित करनेके अनेक प्रयत्न, तीन दृष्टिकोणोंसे किये गये हैं। प्रथम तो यह कि व्यक्ति की कुछ जीवनचर्या ऐसी भी होती है जिसमें राज्य का दखल अनुचित होगा। अपने इस कार्यक्षेत्र को वह अपनी और अपने समाजकी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार और सत्-असत्के सार्वलौकिक या निर्विवाद सिद्धान्तों के ऊपर आधारित करना चाहता है। इस दृष्टिकोणको राजनीतिशास्त्र में आमतौर पर व्यक्तिवाद कहा जाता है और इसके साथ प्राकृतिक अधिकारों और विवेककी स्वाधीनता जैसे सहगामी विचार जुड़े रहते हैं।

राज्यके अन्दर बहुतसे सामाजिक और आर्थिक संघ होते हैं जो स्थायी रूपसे क्रियाशील रहते हैं। कुछ लेखकोंका मत है कि इनको पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्यको इनके कार्योंमें किसी प्रकारका भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। क्योंकि राज्य संघोंका संघ ही तो है। यह दूसरा दृष्टिकोण है जो राज्यकी सत्ताको सीमित कर देना चाहता है। इसको बहुलवाद (pluralism) कहते हैं।

कुछ विचारक विधिके दृष्टिकोणसे ही राज्यके ऊपर एक तीसरे प्रकारका प्रतिबन्ध लगाना चाहते हैं। इन विचारकों का कहना है कि विधि केवल राज्यकी सृष्टि मात्र नहीं है बल्कि वह राज्यसे पूर्वकालीन और उससे उच्चतर भी है। यूनानके दार्शनिक, राजकीय आज्ञप्तियों (State decrees) और विधियोंमें अन्तर मानते थे और विधियोंको उच्चतर स्थान देते थे। जहां एक ओर हर समुदायकी एक लिखित विधि होती थी जिसका उपयोग सीमित होता था और जो समयके साथ बदलती रहती थी, वहां उसके पीछे एक अलिखित विधि भी होती थी जिसे 'प्राकृतिक विधि', 'दैवी विधि' या 'सार्वलौकिक विधि' के नामोंसे पुकारा जाता था और जो समयके साथ बदलती नहीं थी। जिन राज्यमें 'मानव विधि' अर्थात् मनुष्यों द्वारा बनायी गयी विधि 'दैवी विधि' के अनुरूप नहीं होती थी उसे भ्रष्ट राज्य कहा जाता था।

आधुनिक विधिकी नींव रखनेमें प्राकृतिक विधि (natural law) के विचार ने रोमन युग, मध्ययुग और उसके बाद भी बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इसने विधिका एक आदर्श स्तर कायम किया। इसे सही विवेक का आदेश माना जाता था। आधुनिक युगमें अन्तर्राष्ट्रीय विधिके जन्मदाता ह्यूगो ग्रोशियसकी शिक्षाओंमें भी यह दृष्टिकोण पाया जाता है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्रके विवाद ग्रस्त प्रश्नोंमें से एक प्रश्न यह भी है कि क्या विधायिकाएं और न्यायालय इस बातका निर्णय करते हैं कि विधि क्या है और क्या होनी चाहिए? अथवा क्या राज्यके ये सस्थान कहीं अन्यत्र हुए वैधिक निर्णयोंको केवल अगीकार और लागू भर करते हैं? कुछ लोग विधिको समस्त राजनीतिक सत्तासे ऊंचा मानते हैं।

इतिहासीय मत (ऐतिहासिक नहीं) (Historical school) जिसको जर्मनीमें गुस्ताव फॉन ह्यूगो (१७६४–१८४४) ने प्रतिपादित किया और साविन्यी (Savigny, १७९९–१८६१) ने भी माना, यह है कि प्राकृतिक या सार्वलौकिक विधि जैसी कोई चीज नहीं है। विधि तो किसी राष्ट्रके निजी अनुभवों और लक्षणों (characteristics) से तय होती है। उसकी उत्पत्ति तो उसी राष्ट्रके विचारों और इच्छा (will) से होती है। भौतिक बल ऐसी विधिकी वास्तविक शक्ति नहीं होता। यह शक्ति तो राष्ट्रकी आदतोंमें, उसकी धारणाओं (opinions) में, उसके मनोवेगों (emotions) में और गलत तथा सही या पाप और पुण्यके उसके मानदण्डों में है।

आदेशवादियों (Positivists) का कहना है कि विधि निश्चित राजनीतिक सत्ताओंके आदेश हैं। उपयोगितावादी विधिको, मानवकल्याण का एक साधन—मानव सुखके स्थिर लक्ष्यका एक परिवर्तनशील उपाय—मानते हैं। फॉन जेरिंग (Von Jhering) के अनुसार विधि लक्ष्य प्राप्तिका एक साधन है और यह लक्ष्य व्यक्तिका अधिकार नहीं बल्कि समाजका कल्याण है।

डिग्वी, क्रैब और लास्की विधि का अन्तिम स्रोत राज्य के बाहर बतलाना चाहते हैं। डिग्वी सामाजिक एकता की धारणा (conception of social solidarity) को और क्रैब समाजके विवेक (sense of right) को विधि का स्रोत बताते हैं। डिग्वी के अनुसार, समाजमें रहनेवाले मनुष्योंके आचरणका नियन्त्रण करनेवाले नियमोंको विधिकी सज्ञा दी जाती है। लोग उनका पालन आदेशके रूपमें नहीं बल्कि सामाजिक जीवनकी आवश्यकताओंके रूपमें करते हैं। विधि राज्यसे स्वतंत्र उससे प्राचीन, उच्चतर और अधिक व्यापक है (Law is independent of, anterior to, above and more comprehensive than the state)। क्रैब ने विधिकी परिभाषा यह दी है: विधि उन नियमोंकी सम्पूर्ण महति है जो सामान्य या विशिष्ट, लिखित या अलिखित होते हैं और जिनका उद्भव मनुष्य के विवेक तथा उसकी न्याय भावनासे होता है। विधि समाजका वह नियम है जिसकी मांग समाजके सही बुद्धिवाले

बहुमतकी न्याय भावना करती है। विधि इस प्रकार राज्यसे ऊपर और उससे स्वाधीन है।

"विधिकी कसौटी क्या है?" इस प्रश्नका उत्तर देते हुए लास्की कहते है कि केवल वैधिक औचित्य ही सरकारको इस बातका अधिकार नहीं देता कि वह अपनी आज्ञाओंका बलात् पालन कराये, बल्कि इस अधिकारमें नैतिक औचित्य का भी होना आवश्यक है। इस दृष्टिकोणको मानते हुए लास्की ने हॉब्स के परम्परागत सम्प्रभुताके दृष्टिकोणकी आलोचना की है। लास्की का मत है कि जिन लोगों ने चार्ल्स प्रथमके विरुद्ध, १८वीं शतीके फ्रांसीसी राजतन्त्र के विरुद्ध और १९१७ में रूसके ज़ार के विरुद्ध विद्रोह किया था, उन्होंने विधिकी कोई अवज्ञा नहीं की। अपितु वे लोग उस विधि के प्रति निष्ठावान थे जो राज्यके ऊपर है। लास्की का कहना है कि विधिका स्रोत न तो राज्य है और न समुदाय; बल्कि विधिका स्रोत व्यक्ति है जो अपने अन्तःकरणके अनुसार चलता है। विधिका स्रोत वे विचार हैं जिनकी कि मन गवाही देता है। इस प्रकार विधिका असली स्रोत व्यक्तिकी सहमति है। उत्तम विधि वह है जो व्यक्तिकी यथासम्भव अधिकसे अधिक आकांक्षाओंको पूरा करे। ऐसी ही विधि पालनकी जानेकी अधिकारिणी है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि

अपनी प्रसिद्ध कृति 'इण्टरनेशनल पॉलिटिक्स' में एफ० जी० शूमन ने लिखा है कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समाजकी निम्नलिखित तीन आधारशिलाए हैं

राष्ट्रीय सम्प्रभुताकी धारणा (concept of national sovereignty), शक्ति सन्तुलनकी राजनीति (politics of balance of power) और अन्तर्राष्ट्रीय विधिके सिद्धान्त (principles of international law)।

हम यहा इनमें से तीसरी, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विधि, पर विचार करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी प्रकृति और अर्थ (The Nature and Meaning of International law).

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधिका आरम्भ बहुत पुराने ज़मानेमें हुआ था; किन्तु यह अधिकतर योरोपीय इतिहासकी पिछली तीन शताब्दियोंमें प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय मसलोंमें अनुभवोंकी देन है। श्वार्जेनबेर्जर (Schwarzenberger) और ब्रायर्ली (Brierly) के अनुसार निम्नलिखित कारकों (factors) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधिके विकासमें बहुत अधिक योग दिया है।

(१) अमेरिकाकी खोज और भारतके लिए नये जलमार्ग मिलनेसे व्यापार और साहसिक अभियानोंको मिली नयी प्रेरणा और शक्ति।

(२) आधुनिक युगकी नवजागृति द्वारा निर्मित सामान्य बौद्धिक पृष्ठभूमि (The common intellectual background created by the renaissance).

(३) योरोपके विभिन्न देशोंमें रहनेवाले ईसाई धर्मावलम्बियोंमें परस्पर सहानुभूति । सहानुभूतिकी इस भावनाके कारण एक देशमें रहने वाले ईसाई अन्य देश या देशोंमें रहने वाले स्वधर्मावलम्बियोंके प्रति सहानुभूति रखने लगे। फलतः एक ऐसी निष्ठा का उदय हुआ जिसने राज्यों की सीमाओं से सीमित न रह कर और इन सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण किया ।

(४) आधुनिक युगके आरम्भमें जिस नृशंसताके साथ युद्ध लड़े गये उसके कारण सब लोगोंमें उत्पन्न युद्धके विरुद्ध घृणा और विरक्तिकी भावना। ह्यूगो ग्रोशियस ने ड्यूर बेली ए पासी (De jure belli et pacis) नामक जो ग्रन्थ रचा उसने युद्धों को हमेशाके लिए बन्द करने की नहीं तो कमसे कम उन्हें तर्क सगत (rational) बनानेकी सफल प्रेरणा तो दी ही ।

राष्ट्रीय सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय विधि.

राष्ट्रीय सम्प्रभुताकी चरम धारणा और प्रकृतिवादियों द्वारा इस धारणाकी अस्वीकृतिके झगड़ेको ग्रोशियस ने सम्प्रभुताकी परिमार्जित परिभाषा देकर तय कर दिया है। उनके अनुसार राष्ट्रीय सम्प्रभुता बाहरी कारकोंसे सीमित होती है। उन्होंने सम्प्रभुताकी परिभाषा इस प्रकारकी "वह शक्ति जिसके कृत्य किसी दूसरी शक्ति के नियन्त्रणमें न हों ताकि उन कृत्योंको कोई दूसरी मानवी इच्छा अपने कृत्यों द्वारा प्रभावहीन न कर सके"। ग्रोशियस सम्प्रभुता को निरंकुश नहीं मानते थे। उनका कहना था कि सम्प्रभुता दैवी विधि द्वारा, प्रकृति की विधि द्वारा, राष्ट्रोंकी विधि द्वारा तथा शासक और शासितोंके बीच हुए करार द्वारा सीमित है। ग्रोशियस के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि जहां एक ओर सम्प्रभुताको ऊपर बताये गये कारक सीमित करते हैं वहां दूसरी ओर यदि कोई राज्य बाहरी तौरसे किसी दूसरे राज्यके नियन्त्रणसे मुक्त है तो अन्य राज्योंके साथ अपने सम्बन्धोंमें वह सम्प्रभुतासम्पन्न है। जैसा कि एक आधुनिक लेखक ने कहा है, 'आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी पूरी इमारत इसी विचारकी नींव पर खड़ी की गयी है'।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी परिभाषाएं.

लॉरेंस (Lawrence) अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं, 'वे नियम जो सभ्य राष्ट्रोंके समुदायके पारस्परिक व्यवहारोंमें उनके आचरणका निर्धारण करते हैं।' ब्रायर्ली (Brierly) के अनुसार, 'यह आचरणके उन नियमों और सिद्धान्तोंका समूह है जो सभ्य राष्ट्रों पर उनके पारस्परिक सम्बन्धोंमें लागू होते हैं।' फेन्विक (Fenwick) के लिए इसका अर्थ है 'उन सामान्य सिद्धान्तों और निर्दिष्ट नियमोंका समूह जो अन्तर्राष्ट्रीय समाजके सदस्यों पर उनके पारस्परिक सम्बन्धोंमें लागू होते हैं।' पिट कॉबेट (Pitt-cobbet) का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि 'उन नियमोंका निष्कर्ष है जो सभ्य राष्ट्रों द्वारा एक दूसरेके

प्रति और एक दूसरेकी प्रजाके प्रति उनके आचरणोंके लिए स्वीकार किये गये हों। ओपेनहेम (Oppenheim) इसकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं: 'रीति-रिवाजों और प्रथाओं पर आधारित ऐसे नियमोंका समूह जो सभ्य राष्ट्रों द्वारा उनके पारस्परिक व्यवहारमें वैध रूपसे मान्य माने जायें।'

सबसे मुख्य प्रश्न तो यह है कि विधिकी प्रकृतिको देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधिका विधि माने जानेका दावा कहां तक उचित है? अब हम इस प्रश्नका उत्तर देंगे।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तवमें विधि है?

यदि विधिकी व्याख्या 'सम्प्रभुताकी इच्छा' के उसी अर्थमें करनी है जिसमें हॉब्स और ऑस्टिनने की है तब तो अन्तर्राष्ट्रीय विधिका विधि होनेका दावा चूर-चूर हो जायगा। ओपेनहेम (इण्टर नेशनल लॉ, पृष्ठ ७) ठीक ही कहते हैं कि विधिकी ऐसी सकीर्ण और जकड़ी परिभाषा रीति-रिवाज पर आधारित विधि (customary law) के अस्तित्वको भुला देती है और साथ ही यह परिभाषा गलत ही मान बैठती है कि विधिके पूर्व एक ऐसी प्रभुताका होना जरूरी है जो विधि का निर्माण करे और विधि तभी विधि कही जा सकती है जब इसे मान्यता मिल चुकी हो। विधिकी जिस धारणा पर यहां विचार किया जा रहा है वह केवल अंशतः ठीक है क्योंकि यह विधिके तत्त्व और व्याप्ति (essence and comprehension) की सम्पूर्णताकी उपेक्षा करती है।

ओपेनहेम विधिकी और अधिक वैज्ञानिक परिभाषा देकर इस उलझन को दूर करते हैं। वह परिभाषा यह है: "समाजके भीतर मानव आचरण सम्बन्धी ऐसे नियमोंका समूह जिन्हें समाजकी सामान्य स्वीकृतिसे बाहरी शक्ति द्वारा लागू किया जाय।" इसका अर्थ है कि विधिके निम्नलिखित तीन तात्त्विक अंग हैं: (१) एक समाज, (२) उस समाज के भीतर मानव आचरणके लिए नियमोंका एक समूह (प्रथागत और रीति-रिवाज दोनों हों) और (३) इन नियमोंका बाहरी शक्ति द्वारा लागू किया जाना। ओपेनहेम कहते हैं कि समाज ऐसे व्यक्तियोंका एक समूह है जो न्यूनाधिक रूपमें सामान्य हितों द्वारा एक दूसरेसे बंधे हों। ये ऐसे सामान्य हित होते हैं जो सदस्योंके बीच एक निरन्तर और बहुमुखी सम्बन्ध बनाये रखते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्योंके उन समूहसे भिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समाज हो सकता है। जहां कहीं भी ऐसा समाज है वहीं आचरणके कुछ प्रथागत और रीति-रिवाजगत नियम हमें मिलते हैं। फिर भी उन नियमोंको लागू करनेके बारेमें कठिनाई पैदा होती है। यह तो स्पष्ट है कि राष्ट्रीय विधिके कार्यान्वयनकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय विधिका कार्यान्वय शिथिल रहता है। इस शिथिलताका कारण एक ऐसी 'स्थायी व्यवस्था' की कमी है जो अन्तर्राष्ट्रीय समाजकी सामान्य स्वीकृतिको प्रकट कर सके। पर जहां ऐसी

सामान्य स्वीकृति मौजूद रहती है, जैसा कि प्रायः होता है, वहां अन्तर्राष्ट्रीय विधिका लागू किया जाना सम्भव हो जाता है।

जो लोग ऊपरकी इस व्याख्या पर आपत्ति करते हैं वे यह कह सकते हैं कि जिसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि कहा जाता है वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकतासे अधिक कुछ नहीं है। ओपेनहेम इसका समुचित उत्तर यह देते हैं: "कोई नियम यदि वह समाज की सामान्य स्वीकृतिसे केवल मनुष्य के अन्तःकरण पर ही लागू होता है तो वह नैतिकताका नियम है, इसके विपरीत कोई भी नियम, यदि समाजकी सामान्य स्वीकृतिसे अन्ततोगत्वा बाहरी बल द्वारा लागू किया जाता है तो वह विधिका नियम हो जाता है।"

इस प्रकार विधिके अस्तित्वके लिए न तो विधि बनानेवाली प्रभुता (authority) की और न एक न्यायालयकी अनिवार्य आवश्यकता है—अपने आपमें ये दोनों चाहे जितने महत्त्वपूर्ण हों। इस सत्यके बावजूद यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रोंके बीचकी विधि राष्ट्रीय या स्थानीय विधिकी तुलनामें शिथिल रहती है। यदि यह सही भी हो तो इसे मान लेनेसे राष्ट्रोंकी विधि अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विधिका विधिपन मिट नहीं जाता है। शिथिलताका कारण यह तथ्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रोंके बीच है, उनके ऊपर नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिके स्रोत.

राष्ट्रोंकी सामान्य स्वीकृति राष्ट्रोंके बीच विधिका आधार है, पर इसका मतलब यह नहीं है कि यह स्वीकृति एक साथ एक समय पर ही दी जाय। इसका अर्थ केवल यह है कि कोई भी राष्ट्र अकेले वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विधिमें एकपक्षीय परिवर्तन नहीं कर सकता।

यह स्वीकृति व्यक्त या मौन दोनों ही प्रकारकी हो सकती है, जिन्हें क्रमशः प्रथागत (conventional) और रीति-रिवाजगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयकी विधि-संहिताकी ३८वीं धारामें न्यायालयको निम्नलिखित आधारों (canons) का उपयोग करनेका आदेश दिया गया है। यही आधार राष्ट्रीय विधिका स्रोत है (देखिए ब्रायर्ली—दि लॉ आफ नेशन्स, पृष्ठ ५७६)।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाएं चाहे वह सार्व राष्ट्रीय हों या विशिष्ट, जिनकी स्वीकृति प्रतियोगी (contesting) राष्ट्रों द्वारा घोषित की जा चुकी हो।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजें। जिन रिवाजोंका सामान्यतया इतना चलन है कि वह विधि समझे जाने लगे हों।

(ग) विधिका सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत सामान्य सिद्धान्त।

(घ) ५९वीं धाराके प्रतिबन्धके साथ, न्यायाधीशोंके निर्णय और विविध

राष्ट्रोंके सर्वोच्च योग्य लेखकों (publicists) के उपदेश, विधिके नियमोंका निर्धारण करनेके उपसाधनोंके रूपमें ।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिके स्वरूपके सम्बन्धमें वाद.

(१) प्राचीनतम वादोंमें से एक वाद है, प्रकृतिवादी (naturalist)। पूफेन्डॉर्फ (Pufendorf) इस मतके जनक हैं। उनके विचारोंको १८वीं शताब्दीमें रदरफोर्ड (Rutherford) ने विकसित किया। इस वादके अनुसार प्रकृतिकी विधि ही राष्ट्रोंकी विधिका एक मात्र स्रोत है। यह सिद्धान्त रीति-रिवाजगत अन्तर्राष्ट्रीय विधिको विधि ही नही मानता। इसके अनुसार राष्ट्रोंकी विधि प्रकृति की सर्वव्यापी विधिका ही एक अंग है।

(२) दूसरा वाद अस्तिवादी (positivist) है जिसके नेता रिचार्ड ज्यूश (Richard Zouche, १५९०-१६६०) और व्याख्याता ओपेनहेम हैं। इस वादके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्योंके ऊपर न होकर उनके बीच हैं। दूसरे शब्दोंमें राष्ट्रोंके बीचकी विधिका मुख्य स्रोत राज्योंकी स्वीकृति है और इसलिए प्राकृतिक विधिका इससे बहुत कम सम्बन्ध है।

(३) उक्त दोनो वादोंके बीचका रास्ता ग्रोशियस (Grotius) के मतावलम्बियो ने अपनाया है। इस मतका विकास वूल्फ (Wolf, १६७९-१७५४) और वाटेल (Vattel, १७१४-१७६७) ने किया। ओपेनहेम के शब्दों में "जैसे प्रकृतिकी विधि मनुष्यों पर व्यक्तिगत रूपमें लागू होती है उसी प्रकार वह मनुष्यों पर सामूहिक रूपमें यानी संगठित राज्यों पर भी लागू होगी"।[१] इस प्रकार राष्ट्रीय सम्प्रभुताके दावोंको स्वीकार करते हुए भी यह मत जोरदार शब्दोंमें घोषणा करता है कि उस सम्प्रभुताको सीमित करनेवाले बाहरी तत्त्व भी प्रकृतिकी विधिके ही अंग हैं।

उक्त तीनों मतोंमें से प्रकृतिवादी मतका मध्ययुगके अन्त तक बोलबाला रहा। इस मतको यूनानी, रोमन और मध्ययुगके लेखकों जैसे अरस्तू, सिसरो, और एक्विनास के ग्रन्थोंसे बहुत अधिक समर्थन मिला। आधुनिक युगके आरम्भमें सम्प्रभुताके सिद्धान्तकी स्थापनासे अस्तिवादी मतका उत्थान हुआ। बोदां, हॉब्स तथा ऑस्टिन की रचनाओंसे इस मतको और अधिक बल मिला।

बीसवीं सदीकी घटनाओंको ग्रोशियस मतका ही अधिक तर्कसंगत रूपमें पुनरुत्थान कहा जा सकता है। इस पुनरुत्थानके दो कारक हैं, पहला कारक है अन्तर्राष्ट्रीय संधों व प्रथाओं (conventions) का पनपना (growth) जो राष्ट्रीय सम्प्रभुताके निरंकुशताके दावोंको सीमित करते हैं। उदाहरणके लिए हेग सम्मेलन (१८९९-१९०७), राष्ट्रसंघका प्रसंविदा (covenant) (१९१९);

---

[१] पृष्ठ ९३-९४

हम यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विधिसे बाध्य नहीं हैं और वे ऐसी विधियोंको भी लागू कर सकते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधिके प्रतिकूल हों। पर इस बातसे केवल अन्तर्राष्ट्रीय विधि व संगठनकी शिथिलता ही प्रकट होती है। इसलिए मौलिक समस्या तो यह है कि इन दोनों विधियोंमें ऐसा युक्तिसंगत सम्बन्ध स्थापित किया जाय जिससे राष्ट्रीय विधिके निर्जीव बोझसे अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी प्रगतिमें बाधा न पड़े।

SELECT READINGS

DICEY, A. V.—*The Law of the Constitution.*
FINER, H.—*Theory and Practice of Modern Government—Vol.* 2.
GARNER, G. W.—*Political Science and Government.*
GETTELL, R. G.—*Introduction to Political Science.*
GILCHRIST, R. N.—*Principles of Political Science.*
IYENGAR, S. S.—*Problems of Indian Democracy.*
MARRIOTT, J. A. R.—*The Mechanism of the Modern State—Vol.* 2.
RAMAIYER—*Politics.*

राजनीति में उपयोगितावाद
(Utilitarianism in Politics)

उपयोगितावाद सारतः अंग्रेजी विचारधारा है। उन्नीसवीं सदीके ब्रिटेनमें, विशेषकर पूर्वार्द्धमें, इसके प्रभावसे व्यापक सुधार हुए। आज भी यह विचारधारा निर्जीव नहीं है। जब तक समाजमें दुर्व्यवस्थासे होने वाले क्लेश रहेंगे तब तक उपयोगितावादका महत्त्व बना रहेगा। उपयोगितावाद एक ओर राज्यकी अन्ध भक्ति और दूसरी ओर इसकी विरोधी भाव-सूक्ष्म प्राकृतिक अधिकारकी धारणा, इन दोनोंकी गलतियोंको ठीक कर, सही मार्ग दिखलाने वाली स्वस्थ विचारधारा है। हैलोवेल (Hallowell) के अनुसार उपयोगितावादका आधार उन्नीसवीं सदीका उदारवाद था जिसमें 'स्वतन्त्रताकी कल्पना प्राकृतिक अधिकारकी अपेक्षा सामाजिक उपयोगिताके रूपमें अधिकाधिक की जाती थी।' उनके ही शब्दोंमें: 'नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्रको एक व्यापक वैज्ञानिक अनुभववादके आधार पर प्रतिष्ठित करनेका उपयोगितावाद एक प्रयास था (३१ : १९८)।' उपयोगितावादी विचारधारा का आधार मानव-प्रकृति की वास्तविकताएं हैं। इसका लक्ष्य व्यावहारिक है।

१. उपयोगितावाद की परिभाषा और आलोचना
(Statement and Criticism of Utilitarianism)

उपयोगितावाद मुख्यतः एक नैतिक सिद्धान्त है, जिसका आधार वह मनोवैज्ञानिक मत है जिसे सुखवाद (hedonism) कहा जाता है। सुखवादी सिद्धान्तके अनुसार हर व्यक्ति सुख की खोज करता है और दुखसे बचना चाहता है। मनुष्यके काम और भी प्रेरकों (motives) से प्रभावित हो सकते हैं, पर अन्तिम प्रेरक सुख बनाम दुख ही होता है। सुखवादी विचारधारा किसी प्रकार भी आधुनिक नहीं है। इसका आरम्भ यूनानी युगमें, विशेषतया सेरेनायक विचारधारा (Cyrenaic school) के संस्थापक एरिस्टिपस (Aristippus) की शिक्षाओंमें, और कुछ-कुछ एपिक्यूरस (Epicurus) की शिक्षाओंमें हुआ था। यद्यपि आधुनिक सुखवाद प्राचीन सुखवादसे बहुत भिन्न है फिर भी सुखकी प्राप्ति ही दोनोंका मुख्य उद्देश्य है। प्राचीन सुखवादका स्वरूप स्वार्थवादी था जबकि आधुनिक सुखवाद परोपकारवादी है। उपयोगितावाद परोपकारवादको ही अपना आधार बनाता है इसीलिए इसे कभी-कभी परोपकारवाद या सार्वजनीय सुखवाद कहा जाता है। इसका लक्ष्य अधिकतम लोगोंका अधिकतम सुख अथवा सार्वजनिक सुख (the greatest happiness of the greatest number)

है पर उपहास करने वालों का कहना है कि अधिकतम संख्या एक है यानी अधिकतम लोगों के सुखका असली मतलब अपना सुख है।

आजकल यह साधारणतया स्वीकार कर लिया गया है कि उपयोगितावादके मनोवैज्ञानिक और नैतिक आधार स्वस्थ नहीं है। मनुष्य निस्सन्देह अपने सुखकी खोज करता है अर्थात् स्वार्थी होता है परन्तु स्वार्थ ही उसकी एकमात्र प्रवृत्ति नहीं है। सभीमें अपनी भलाई और दूसरोंकी भलाईकी भावनाएं विभिन्न मात्राओंमें पायी जाती हैं। हेन्री ड्रमण्ड (Henry Drummond) के शब्दों में: "प्रत्येक मनुष्यके भीतर केवल अपने अस्तित्वके लिए ही नहीं बल्कि दूसरोंके अस्तित्वके लिए भी संघर्ष चलता रहता है।" इसीलिए दूसरे पक्षों पर ध्यान न देकर मानव-स्वभावके केवल एक पक्षके आधार पर ही मनोवैज्ञानिक और नैतिक सिद्धान्त बनाना अत्यन्त दोषपूर्ण है। बेन्थम (Bentham) यह कह कर इस समस्याको टाल जाते हैं कि हर मनुष्य स्वार्थी तो होता है पर यह स्वार्थ दूसरोंकी भलाई करनेका रूप ग्रहण कर लेता है। यह मानना होगा कि शुद्ध परोपकारवाद मनुष्यके लिए सम्भव है।

सुखवादीके लिए इन्द्रिय-जन्य सन्तोष ही सुख है। जैसा जेम्स सेठ (James Seth) कहते हैं, इन्द्रियचेतना (sensibility) मानव जीवनमें एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है परन्तु वह अन्तिम और लाक्षणिक तत्त्व नहीं है (it is not the ultimate and characteristic element)। अनुभूति ही मनुष्यके लिए सब कुछ नहीं है। मनुष्यमें तर्कका तत्त्व भी रहता है। 'जीवनका सुखवादी सिद्धान्त अत्यधिक सरल है, पर इस सिद्धान्तको यह सरलता गहराई और व्यापकता खोकर ही मिली है। इसका सूत्र आवश्यकतासे अधिक सरल है (१७ ११५)।' इन्हीं लेखकके शब्दोंमें 'सुखवाद कल्याणकी गुणमूलक व्याख्या नहीं कर सकता, वह तो केवल कल्याणकी परिमाणमूलक व्याख्या ही कर सकता है।' वह केवल 'अधिक' और कम का विभेद ही कर सकता है 'उच्चतर' और 'निम्नतर' का नहीं। वह सर्वाधिक कल्याणकी ओर तो संकेत करता है पर सर्वोच्च कल्याणकी ओर नहीं।

उपर्युक्त आलोचनाओंको करते समय हम यह नहीं भूल सकते कि उपयोगितावाद मनुष्यकी परोपकार भावनाको सबल रूपसे आकृष्ट करनेका दावा करता है। पर हमारा कहना है कि ऐसा करके वह स्वयं अपना विरोध करता है। सार्वजनीन सुखवाद (universalistic hedonism) आत्मविरोधी है। जो बात 'सार्वजनीन' होगी वह (आत्म) सुखवादी नहीं हो सकती और इसी प्रकार जो बात (आत्म) सुखवादी होगी, वह 'सार्वजनीन' नहीं हो सकती। सुख स्वभावतः व्यक्तिगत होता है। यह आत्मगत (subjective) अनुभव है। अतः उपयोगितावादियोंकी भांति सार्वजनिक सुखमें सार्वजनिक आनन्दके अर्थ निकालना निरर्थक है। 'क' यह जानता है कि उसे किस चीजसे आनन्द मिलता है और 'ख' भी जानता है कि उसे किस बातसे आनन्द मिलता है पर 'क' और 'ख' दोनोंमें से किसीको भी यह पता नहीं है कि सार्वजनिक आनन्द क्या है? हम दूसरोंके आनन्द और पीड़ामें सहानुभूति कर

सकते हैं पर स्वयं उसका अनुभव नहीं कर सकते। आनन्द इस अर्थमें भी वैयक्तिक होता है कि हर व्यक्ति अपने सुखका निर्णायक स्वयं ही है। केवल वही यह बतला सकता है कि कोई चीज उसे आनन्द प्रदान करती है अथवा नहीं। परन्तु उपयोगितावादियोंका नैतिक माप दण्ड (criterion) तो सार्वजनिक सुख है। हमारा कहना है कि आनन्दके लक्ष्यको सार्वजनिक सुखके लक्ष्यमें परिणत करना युक्ति संगत नहीं है।

इस कारण उपयोगितावादीको अपने सिद्धान्तका विकास करनेमें इस विरोध का सामना करना पड़ा कि व्यक्ति समूचे समाजके सुखकी उन्नति क्यों करे? जे० एम० मिल ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि प्रत्येक व्यक्तिका आनन्द दूसरोंके आनन्दके साथ जुड़ा होता है जैसे कि माता-पिता और बच्चोंका आनन्द। मिल का तर्क है कि व्यक्ति पर सदैव जोर देना आवश्यक नहीं है क्योंकि हमारे बहुतसे आनन्द दूसरोंके आनन्दके साथ घनिष्ठ रूपसे जुड़े हुए हैं। पर बेन्थम का उत्तर भिन्न है। वह यह मानते हैं कि व्यक्ति बहुधा समुदायके हितोंको हानि पहुचाकर अपने आनन्दकी खोजमें रहता है। फिर भी 'सार्वजनिक सुख' के लिए बेन्थम की इच्छा इतनी प्रबल है कि वह चाहते हैं कि व्यक्तिको कभी-कभी तो इस बातके लिए मजबूर किया जाया करे कि वह समाजके सुखके लिए अपने सुखका बलिदान करे। इसके लिए वह अनुशास्ति (sanction) के सिद्धान्तका सहारा लेते हैं। ये अनुशास्तियां (sanctions) चार हैं : शारीरिक, राजनीतिक (अथवा देशकी विधि), नैतिक (अथवा लोकमतका दबाव) और धार्मिक।

यद्यपि उपयोगितावाद एक दोषपूर्ण नैतिक सिद्धान्त है फिर भी इसके प्रभाव से व्यावहारिक राजनीतिमें अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार हुए हैं। इस अन्तर्विरोधका क्या कारण है? इसका उत्तर यह तथ्य है कि उपयोगितावादी जब नैतिक क्षेत्रको छोड़कर राजनीति के क्षेत्रमें आता है तब उसका रूप एकदम उलटा हो जाता है। एक नैतिक विचारकके रूपमें उपयोगितावादी सार्वजनिक सुखका अर्थ सार्वजनिक आनन्द समझता है। उनके विचारमें मनुष्यके व्यवहारका अन्तिम उद्देश्य यह है कि वह यथासम्भव अधिक से अधिक मनुष्योंको आनन्द देनेवाले अधिक से अधिक काम करे। उसका विश्वास है कि चूंकि आनन्दमें केवल मात्राका अन्तर होता है, गुणका नहीं इसलिए उसकी वृद्धि की जा सकती है (पर जे० एस० मिल के अनुसार जो उपयोगितावादके अन्यानुयायी नहीं हैं, आनन्दमें गुण और मात्रा दोनोंका अन्तर होता है)। इस विचारधाराके नेता बेन्थम का कहना है कि "आनन्दकी मात्रा समान होनेसे बच्चोंका खेल उतना ही अच्छा है जितनी अच्छी कविता होती है।" आनन्दकी वृद्धि करनेमें और सार्वजनिक आनन्द तथा सार्वजनिक सुखको एक करनेमें जो कठिनाइयां होती हैं वे इतनी स्पष्ट हैं कि उनके विषयमें कुछ लिखना अनावश्यक है। उपयोगितावादी स्वयं यह निष्फल प्रयत्न करनेको अत्यधिक इच्छुक नहीं हैं।

एक राजनीतिक विचारकके रूपमें उपयोगितावादी सार्वजनिक सुखकी व्याख्या बड़े ढीले-ढाले तरीकेसे करता है और उसका अर्थ सार्वजनिक भलाई या सामाजिक

कल्याण निकालता है। वह आनन्दकी धारणाको कमसे कम महत्त्व देता है और उपयोगिता पर ध्यान केन्द्रित करता है। यह तो स्पष्ट है कि 'सामाजिक कल्याण' और 'उपयोगिता' जैसे शब्द इतने व्यापक और व्यावहारिक हैं कि जो कोई भी इन्हें अपने राजनीतिक कार्यक्रमका आधार बनायेगा वह अवश्य ही जनताका बहुत हित कर सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपयोगितावादियों द्वारा की गयी अपने उद्देश्यकी व्याख्यामें जो असगति है, उसीके कारण उन्होंने व्यावहारिक राजनीतिमें बड़े हितकर कार्य किये। उनका राजनीति-शास्त्र, राज्य-शास्त्र (theory of state)की अपेक्षा शासन-शास्त्र (theory of government)ही अधिक था।

यदि उपयोगितावादकी आलोचना करने चलें तो हम हैलोवेल की तरह यह कह सकते हैं कि *अधिकतम लोगोंके अधिकतम सुखके लिए अल्पसंख्यकों के बन्दी-*शिविरों (concentration camps) को भी उचित ठहराया जा सकता है। इसी प्रकार निरकुशता और दासताको भी उचित कहा जा सकता है। हैलोवेल के अनुसार बेन्थमवाद एक ऐसा उदारतावाद है जो निरकुशताके लिए बहुत ही अनुकूल है (१३.२१७)। परबेन्थमने उपयोगितावादकी व्याख्या इस रूपमें नहीं की थी और न उसका यह अर्थ ही निकाला था।

२. उपयोगितावाद का मूल्यांकन
(Appreciation of Utilitarianism)

ऊपर उपयोगितावादकी एक नैतिक सिद्धान्तके रूपमें जो आलोचनाकी गयी है उसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिके क्षेत्रमें भी हम इसकी उचित प्रशंसा न करें। उपयोगितावाद मनुष्य जातिके कल्याणमें हमारी अभिरुचिका द्योतक है। अभिरुचि के साथ ही तर्क-सगत सिद्धान्तोंके आधार पर मानव जीवनकी परिस्थितियोंको सुधारनेके व्यावहारिक प्रयत्न इसमें शामिल हैं। इसका विश्वास है कि प्रभावपूर्ण सरकारी विधियों द्वारा जनताका जीवन स्तर उठाया जा सकता है। सभी उपयोगिता-वादियोंके मनमें सार्वजनिक कल्याणकी भावना रहती है। उन्हें सबसे पहली और सबसे अधिक चिन्ता मानव जीवन, मानव कार्य-कलाप और मानव कल्याणकी रहती है। वे निरकुशता और अन्यायके प्रबल विरोधी और वैयक्तिक स्वातंत्र्यके प्रबल समर्थक हैं। वे सभी प्रकारके 'कुटिल' स्वार्थोंके विरोधी हैं। अतः उपयोगितावाद निश्चित रूपसे एक व्यावहारिक सिद्धान्त है। यह सुधारवादी है। उपयोगितावाद मानववादका ही दूसरा नाम है।

बहुधा उपयोगितावादकी अनुचित आलोचना इसे एक लाभमूलक सिद्धान्त या सुविधामूलक दर्शन कहकर की जाती है। लाभका अर्थ है किसी उद्देश्य या लक्ष्यकी सिद्धि। सामान्य बोलचालकी भाषामें इसका अर्थ बहुधा निम्नकोटिका उद्देश्य या लक्ष्य होता है। उपयोगितावादी मनुष्यकी कल्पना केवल एक व्यक्तिके रूपमें ही न

करके उसे एक ऐसा व्यक्ति मानते हैं जो स्वभावतः सामाजिक होता है। उपयोगितावादी के लिए उपयोगिताका अर्थ है "वह वस्तु जो मानव स्वभावके सभी तत्त्वोंके लिए सबसे अधिक उपयोगी हो, जिससे उसके पूर्ण और चरम कल्याणके साथ ही साथ उसके साथियोंके पूर्ण और चरम कल्याणकी सिद्धि हो सके।" उपयोगितावादके सिद्धान्तोंको इन वाक्यांशोंमें व्यक्त किया गया है: 'अधिकतम लोगोंका अधिकतम् सुख', 'प्रबुद्ध उदारता' (enlightened benevolence) और 'सार्वजनिक सुख' (general happiness) (१३:१३)।

उपयोगितावादको कभी-कभी निम्नतम कोटिके भौतिकवादका पर्याय भी माना गया है। इस गलत धारणासे बचनेके लिए यह सोचा गया है कि 'उपयोगिता' और 'सुख' के स्थान पर 'कल्याण' और 'भलाई' शब्दोंका उपयोग किया जाय। 'कल्याण' में वे सभी तत्त्व आ जाते हैं जिनसे मानव सुखी होता है। इस सुझावके विरुद्ध केवल एक यही आपत्ति है कि यह उपयोगितावादी सुखवादके प्रस्थान बिन्दुसे बहुत दूर है। यदि उपयोगितावादी सुखवादके साथ अपने सम्बन्धको छोड़नेको तैयार हो तो उनका सिद्धान्त स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्श उपयोगितावाद सुखवादको अस्वीकार करता है और आदर्शवाद तथा उपयोगितावादके सर्वोत्तम तत्त्वोंका समन्वय करता है। यह मानव व्यक्तित्वके विकासको सामाजिक कल्याणके साथ सम्बद्ध करता है। टी० एच० ग्रीन जिनमें यह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है, और जिनके विचार अनेक प्रश्नों पर मिलके विचारोंसे मिलते-जुलते हैं, यह तर्क देते हैं कि सुखवादसे आरम्भ होनेवाले उपयोगितावादको सामाजिक कल्याणके परखनेका कोई अधिकार नहीं है। 'स्थायी आत्म सन्तोषकी सिद्धिको अपना लक्ष्य बनाते हुए ग्रीन आनन्द और पीडाका सन्तुलन करनेमें पड़नेवाली कठिनाइयोंको टाल जाते हैं।' उपयोगितावादके विषयमें ग्रीन के विवेचन पर टीका करते हुए डी० जी० रिची (D. G. Ritchie) लिखते हैं: 'इस बातका कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता कि सुखवादके सम्बन्धमें अपनी आपत्तियोंको स्पष्ट कर देनेके बाद आदर्शवादी उपयोगितावादियोंसे मेल क्यों न करें।' इन्हीं लेखक का कहना है कि ग्रीनकी नैतिक व्यवस्था मिल का उपयोगितावाद ही है। हां, उसमें मिलके उपयोगितावादके अतिरिक्त एक सुदृढ़ आधार और एक मापदण्ड भी है।

यदि हम उपयोगितावादके सर्वोत्तम रूप पर विचार करें तो उपयोगितावादीका कहना है कि दूसरोंका ख्याल किये बिना स्वतन्त्र रूपसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि व्यक्तिको केवल एक व्यक्तिमात्र समझना भूल है। उसका विश्वास है कि व्यक्तिका सुख राज्यके अस्तित्व और संगठन पर आवश्यक तौर पर निर्भर करता है। रीति-रिवाजों, विधि और विधानको व्यक्तिको सुखी बनानेमें और साथ ही उनके सुखको सीमित करनेमें योग देना चाहिए। क्योंकि व्यक्तिका स्वार्थमूलक सन्तोष ही सुख नहीं है। उपयोगितावादीके अनुसार विधायकको सामान्य जनताके

कल्याणका ध्यान सबसे अधिक रखना चाहिए। उपर्युक्त विधानके निषेधात्मक और आदेशात्मक दो पहलू होते हैं। निषेधात्मक रूपमें उसे उन परिस्थितियोंको समाप्त करना चाहिए जो पतन लानेवाली और कष्टकारक होती हैं और इन परिस्थितियोंके स्थान पर राज्यको आदेशात्मक रूपमें अनुकल प्रोत्साहनोंकी व्यास्था करनी चाहिए।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि उपयोगितावादमें आदर्शवादिताकी कमी है। यह आरोप ठीक नहीं है। 'समाजके भावी उत्थान और मानव जातिके सुधारके आदर्श स्वप्न ही उपयोगितावादी को प्रेरणा देते, उत्साहित करते और सक्रिय बनाते हैं तथा कठिनाइयों और असफलताओंके मध्य उसे स्थिर रखते हैं (१३ : २६)।' उपयोगितावादीके आदर्श मूलत. व्यावहारिक और मानवी हैं। जिन आदर्शोंको उपयोगितावादी अस्वीकार करता है वे उसकी दृष्टिमें या तो अवाछनीय या अप्राप्य, या दोनोंही प्रकारके हैं। उपयोगितावादी न तो हठधर्मी होता है और न स्वप्नदर्शी। उसके पैर ठोस भूमि पर ही रहते हैं।

उपयोगितावाद अनुभव पर आधारित है। अनुभव ही इसकी अन्तिम कसौटी है। उपयोगितावादीके लिए परिणाम ही सब कुछ है। वह अनुभवको ही ज्ञानका मूल स्रोत और उद्गम तथा सत्यका अन्तिम मापदण्ड मानता है। वह कोरी कल्पना और भाव-सूक्ष्मताका विरोधी है।

इस प्रकार उपयोगितावाद एक अत्यन्त मानवी और अत्यंत व्यावहारिक दर्शन है। यह कोई नवीन नीतिशास्त्र नहीं है। 'यह राजनीतिके क्षेत्रमें प्रवेश करके अपनेको राज्य विधानमें व्यक्त देखना चाहता है (१३ : २९)।' लोगोंकी सक्रियता और उनकी अभिरुचियोंके साथ इसका सीधा सम्बन्ध रहता है (१३ : २९)। समय ने इसमें बहुत कुछ सुधार किये हैं—इसकी बहुत-सी बातोंका तिरस्कार भी किया गया है और समय इससे बहुत आगे बढ गया है परन्तु अन्यायका तीव्र विरोध करना, दीनों और दलितोंकी सहायता करना और मानव कल्याणके लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न करना उपयोगितावादियोंकी विशेषताएं रही हैं और स्पष्ट रूपसे अब भी हैं (१३ : २४९-५८)। उपयोगितावादियोंमें कमियां भी रही हैं और उन्होंने असफलताएं भी पायी हैं पर उनकी दृष्टि सदैव भविष्यकी ओर लगी रही है।

३. उपयोगितावादी विचारक (Utilitarian Thinkers)

ब्रिटेन में उपयोगितावादके नेता जरमी बन्थम (Jeremy Bentham) थे। सौभाग्यवश उनके साथ योग्य और श्रद्धालु लोगोंका एक दल था। इन लोगोंने ब्रिटेन के सामाजिक जीवनके विभिन्न पहलुओंमें उपयोगितावादी सिद्धान्तोंका प्रयोग करनेमें अपनेको अर्पित कर दिया था। इनमें जेम्स मिल (James Mill) और उनके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill), इतिहासकार ग्रोटे

(Grote), मनोवैज्ञानिक अलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain), विधि-वेत्ता जॉन ऑस्टिन (John Austin) और अर्थशास्त्री रिकार्डो (Recardo) मुख्य थे। आंशिक रूपमें एकको छोड़कर शेष सब क्रान्तिकारी, दार्शनिक और व्यवहार कुशल व्यक्ति थे। तत्कालीन ब्रिटेन सामाजिक कुरीतियोंसे कराह रहा था और इस दुर्व्यवस्थाने उन्हें अपनी 'सुधारकी प्रबल इच्छा' को कार्यान्वित करनेका पर्याप्त अवसर दिया।

१. जेरमी बेन्थम (१७४८-१८३२) ने उपयोगितावादी विचारधाराकी आधारशिला रखी। उन्होंने अन्यायको दूर करने और स्थायी सुधार करानेमें बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया। अपने गहरे वैधिक शिक्षण, स्वस्थ व्यावहारिक बुद्धि और पददलित तथा दुःखी लोगोंके प्रति अपनी गहरी सहानुभूतिके कारण बेन्थम अपने इस महान् कार्यके लिए विशेष तौर पर उपयुक्त थे। उनके दर्शनका सार यह है 'प्रकृतिने मनुष्यको दो सम्प्रभु अधिपतियोंके अधीन रखा है। ये अधिपति हैं—दुःख (क्लेश) और सुख (आनन्द)। हम जो कुछ भी करते हैं, जो कुछ भी कहते हैं और जो कुछ भी सोचते हैं—सबमें हम इनके अधीन हैं और अपनी इस अधीनताको दूर करनेके लिए हम जो भी प्रयत्न करते हैं उनसे भी इसी तथ्यकी पुष्टि होती है और इसी बातका प्रमाण मिलता है। उनके अनुसार उपयोगिताका सिद्धान्त इस अधीनताको स्वीकार करता है क्योंकि सुखकी वृद्धि करने अथवा दुःखका विरोध करनेकी प्रवृत्तिके अनुसार ही यह प्रत्येक कार्यको स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है। आगे चलकर वह इस सिद्धान्तको 'सर्वाधिक सुख-सिद्धान्त' (greatest happiness principle) कहते हैं। उनका कहना है कि सुखका बटवारा करते समय प्रत्येककी गणना 'एक और केवल एक इकाईके रूपमें' की जानी चाहिए किसीको एक इकाईसे अधिक नहीं माना जाना चाहिए। दूसरे शब्दोंमें व्यक्तियोंके साथ पूर्ण निष्पक्षताका व्यवहार किया जाना चाहिए।

बेन्थम के अनुसार प्रगाढ़ता (intensity), अवधि (duration), निश्चयात्मकता (certainty) और सम्बन्ध-सामीप्य (propinquity) की दृष्टिसे सुखोंमें अन्तर होता है। पर गुणकी दृष्टिसे वे सब एक ही हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक सुख या आनन्दको दूसरेकी अपेक्षा 'उत्तम' या 'उच्चतर' नहीं मान सकते। इसके माने यह भी हुए कि सुखोंको गणितके नियमोंके अनुसार जोड़कर उनका योग भी निकाला जा सकता है।[1] यह कथन बिल्कुल निस्सार मालूम पड़ता है। परन्तु बेन्थमका व्यावहारिक उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि सद्भावनापूर्ण व्यक्ति, दूसरोंके बारेमें, यह तय करनेका ठेका स्वयं न ले लें कि उनके लिए क्या यथार्थ सुख होगा। बेन्थम का सिद्धान्त निस्सन्देह संकीर्ण और मनोवैज्ञानिक दृष्टि

---

[1] उन्होंने लिखा है कि 'पूरे समुदायका हित' 'उस समुदायके सब सदस्योंके हितों का पूर्ण योग' ही है न उससे कम और न उससे अधिक।

मे गलत है। फिर भी जैसा कि आइवर ब्राउन (Ivor Brown) ने कहा है, 'यह सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह इस बातको माननेसे इन्कार करता है कि वे बड़े लोग अभ्रान्त (infallible) हैं और कभी कोई गलती नहीं कर सकते जो नैतिकता और सुख सम्बन्धी अपनी धारणाको दूसरो पर इस विश्वासके सहारे लाद देनेका प्रयत्न करते हैं कि दूसरे लोग अज्ञानताके दयनीय दास हैं (६: ९६)।' 'अपने दोषोंसे मुक्त होकर बेन्थमवाद मानववाद ही है (६:१०२)।'

बेन्थमका मूल उद्देश्य समाजका हित अथवा कल्याण था। उनका विश्वास था कि उनके उपयोगिताके सिद्धान्तका सभी सामाजिक समस्याओंमें विशेषकर सावैधानिक, विधायी और विधि-सुधार सम्बन्धी प्रश्नोंमें सफल और लाभप्रद प्रयोग हो सकता है। एक सजीव और व्यावहारिक हित उनका लक्ष्य था।

जिस समय बेन्थम एक महान् सुधारक और विचारकके रूपमें आये, उस समय नैसर्गिक अधिकार-सिद्धान्तका और अंग्रेजी सविधान तथा विधिकी महत्ताके बारेमें ब्लैक्स्टन (Blackstone) के भारीभरकम सिद्धान्तका बोलबाला था। बेन्थमने इन दोनोंकी खूब खिल्ली उड़ाई और उनकी निर्मम आलोचना की। नैसर्गिक अधिकारोंको उन्होंने केवल एक प्रलाप नैसर्गिक और अविच्छेय अधिकारको आलकारिक प्रलाप और मूर्खताका नगा नाच बताया। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तके स्थान पर बेन्थमने अपने उपयोगिता के सिद्धान्तको रखा। यद्यपि नैसर्गिक अधिकारो के प्रबल समर्थक टॉमस पेन(Thomas Paine)और बेन्थमके दार्शनिक दृष्टिकोणों में बहुत अधिक अन्तर था, फिर भी दोनोंने अनेक उदार सुधारोंका समर्थन किया। जैसा कि आइवर ब्राउन ने लिखा है, 'शायद ही कभी अन्य दो व्यक्ति इतने पृथक् मार्गोसे एक ही लक्ष्यकी ओर बढे होंगे (६.९८)।'

बेन्थम ने १७७६ में प्रकाशित अपनी पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक '*A Fragment on Government*' में ब्लैक्स्टन की कड़ी आलोचना की। ब्लैक्स्टन ने अंग्रेजी सविधान को दैवी इच्छाके अनुसार एक क्रमिक स्वाभाविक विकास बताते हुए इसकी बड़ी प्रशसाकी थी। 'बेन्थम ने सिद्ध किया कि अंग्रेजी विधि-व्यवस्था केवल दुर्बल और गरीबोंको सतानेवाली एक निर्लज्ज निरकुशता थी। यह शिक्षित और शक्ति सम्पन्न लोगोंको सहायता देनेकी एक व्यापक योजना थी ताकि ये लोग अज्ञानी और दलित लोगोंको दबाए रख सके(६ १०२)।' बेन्थम ने ब्लैक्स्टन की आलोचना इसलिए भी की कि ब्लैक्स्टन ने प्रारम्भिक सामाजिक सविदा को राजनीतिक दायित्वका आधार माना था। बेन्थमका कहना था कि अतीतकालमें कभी कोई ऐसी सविदा नहीं हुई और यदि हुई भी हो तो वर्तमान पीढ़ी उससे बाध्य नहीं है। आज्ञापालनका एकमात्र न्याय सगत कारण है उपयोगिता अथवा सार्वजनिक कल्याण। सरकारोका अस्तित्व इसलिए कायम है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि उनके द्वारा उनके अधीन लोगोंकी सुख वृद्धि होती है। बेन्थमकी अपनी विशिष्ट भाषामें 'आज्ञापालन से जिन बुराइयोंकी सम्भावना है वह उन बुराइयोंकी अपेक्षा कम है' जो

आज्ञापालन न करनेसे सम्भव है। डनिंग (Dunning) का यह कहना ठीक ही है कि रूढ़िवादी ब्रिटेन के आदरणीय सिद्धान्तों और रीतियोंका परखना और उनका मूल्य समझना बेन्थम के लिए उतना ही मुश्किल था जितना बन्दर के लिए अदरक का स्वाद समझना (२७:२१२)।

शासन-सिद्धान्त (Theory of Government). अपने समकालीन विचारकोंकी भांति अंग्रेजी संविधानकी अत्यधिक प्रशंसा करनेके बजाय बेन्थम ने दृढ़ता और विश्वासपूर्ण उत्साहके साथ उसकी आलोचना की। उन्होंने वार्षिक संसद (annual parliaments), मत-पत्र द्वारा मतदान का समर्थन किया और मांगकी कि पढ़नेकी योग्यता रखने वाले सभी बालिग पुरुषोंको मताधिकार दिया जाय। उनके सभी सुझावोंका उद्देश्य जनता का वास्तविक और प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व कायम करना और राजनीतिक भ्रष्टाचारको रोकना था। यह उल्लेखनीय है कि इन सुझावों में से दो सुझाव तब से अब तक विधि बन चुके हैं। वार्षिक संसदकी मांग छोड़ दी गयी है और अब यह सम्भावना नहीं है कि यह मांग फिरसे की जायगी। बेन्थमकी कामना थी कि लोकतन्त्रका पूरा बोलबाला हो। इसी उद्देश्यसे उन्होंने निर्वाचन क्षेत्रोंकी समानता और समाचारपत्रोंकी स्वतन्त्रताकी भी सिफारिशकी। उन्होंने हाउस आफ लार्डस् और राजतन्त्रकी उपयोगिता पर भी इस आधार पर आपत्तिकी कि इनके हितोंका सामान्य जनताके हितोंसे कोई मेल नहीं बैठता। उन्हें इस बातका विश्वास हो गया था कि एक सदनात्मक विधायिका जिसका निर्माण प्रतिवर्ष हुआ करे, लोक-तंत्रीय सिद्धान्तोंके सबसे अधिक अनुकूल है। बेन्थम गणतंत्रमें विश्वास करते थे और उनका विचार था कि गणतन्त्रसे कार्य-निपुणता बढ़ने और शासन-व्ययमें कमी होनेके साथ ही जनताकी सर्वोच्चता भी कायम हो जायगी।

सांविधानिक संहिता (constitutional code) की सहायतासे जिसको उन्होंने बड़े परिश्रम से तैयार किया था वह 'इस कुटिल संसारको गणतन्त्रोंका जाल बिछाकर' अच्छा बनानेकी आशा करते थे। उनके विचारमें न तो पूर्ण राजतंत्र और न सीमित राजतंत्र ही जनताको सर्वाधिक सुख प्रदान कर सकता है। 'जब लोकतंत्रात्मक शासन होता है तभी शासन और शासितोंके हित एक हो जाते हैं क्योंकि तब अधिकतम् लोगोंका अधिकतम् सुख ही चरम् लक्ष्य होता है (१३:७८-८९)।'

विधान (Legislation). इसी क्षेत्रमें बेन्थमका सबसे अधिक योगदान रहा है। अपनी पुस्तक *Principles of Morals and Legislation* के प्रकाशित होनेपर वह विधानके एक प्रकारके नये पैगम्बर बन गये। संसारके विभिन्न देशोंके राजनीतिज्ञ व्यावहारिक पथ प्रदर्शनके लिए उनकी ओर ताकने लगे। प्लेटोकी धारणाके अनुसार बेन्थम एक आदर्श विधायक होनेके लिए विशेष उपयुक्त थे, क्योंकि वह राजनीतिक दलों और व्यक्तिगत स्वार्थोंसे ऊपर उठे हुए सार्वजनिक कल्याणमें रत व्यक्ति थे। उनके अनुसार विधान के लक्ष्य हैं—सुरक्षा, आजीविका

प्राचुर्य और समानता। सीधी-सादी भाषामें जनताका कल्याण ही उनका उद्देश्य है। बेन्थमका कथन है कि यदि विधियोंका पालन कराना है तो यह आवश्यक है कि विधिको जनताका समर्थन प्राप्त हो। बलपूर्वक कानून मनवाने और सार्वजनिक असन्तोषका परिणाम अन्ततोगत्वा क्रान्ति होता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि जनता प्रसन्नतापूर्वक विधियोंका पालन करे तो जनताको विधानकी आवश्यकता सरल और स्पष्ट शब्दोंमें समझायी जानी चाहिए। भय और पारितोषिकके द्वारा लोगोंको अपनी स्वार्थ-सिद्धिमें लगनेसे रोका जाना चाहिए।

बेन्थम ने बहुत सारे व्यावहारिक सुधारोंकी सिफारिश की थी। डैविड्सनके अनुसार उन सुधारोंमें मुख्य ये है—भ्रष्ट और सीमित संसदीय पद्धतिका सुधार; नगरपालिकाओंका व्यापक सुधार; तत्कालीन अत्यन्त कठोर दण्ड-विधिको नरम करना; जेल और जेल-प्रबन्धमें सुधार; ऋणके लिए कारावास-दण्डका अन्त; सूदखोरी-सम्बन्धी विधियोंकी समाप्ति; धार्मिक परीक्षणका अन्त; दरिद्र-रक्षा विधि (poor law) में सुधार; 'स्वस्थ भिखमगों' की भिक्षा वृत्तिको रोकना; शरीर से समर्थ दरिद्रोंका उपयोग; भिखमगोंके बच्चोंका प्रशिक्षण; राष्ट्रीय शिक्षा की एक व्यापक योजना बनाना और कार्यान्वित करना: 'मितव्ययिता बैंकों' (जिन्हें आजकल बचत बैंक्स (savings banks) कहते हैं और 'सहायता देने वाली संस्थाओं' (friendly societies) की स्थापना करना; वाणिज्य जहाजरानीके लिए विधि-संहिता बनाना; आविष्कारकोंकी रक्षा; स्थानीय न्यायालयोंको प्रोत्साहन देना; स्वास्थ्यके सम्बन्धमें व्यापक विधान, गरीबोंके लिए सरकारी अधिवक्ताओं (prosecutors) और वकीलोंकी व्यवस्था; वंशानुगत अधिकारोंका व्यापक संशोधन; वैज्ञानिक और दार्शनिक संस्थानोंकी देख-रेख रखना और जन-पदाधिकारियोंका प्रत्यावर्तन (recall)। यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि जिन सुधारोंका बेन्थम ने इतनी तत्परता और लगनके साथ समर्थन किया था उनमें से अनेक सुधार विभिन्न देशोंमें विधिका रूप पा चुके हैं।

विधि सुधार (Law reform). बेन्थम एक महान् विधि-सुधारक बनना चाहते थे। वह इस बातके लिए बहुत व्यग्र थे कि 'दलितों और योग्य व्यक्तियों को न्याय और सुख मिले (१३:९२)।' इसी उद्देश्यसे उन्होंने तत्कालीन विधियों की और उन विधियोंको लागू करने वाली व्यवस्थाकी आलोचना की। पर वह केवल विध्वंसक आलोचक नहीं थे। उनका उद्देश्य मौलिक रूपसे रचनात्मक था और आलोचना तो इस लक्ष्यकी प्राप्तिका साधन थी। उन्होंने न केवल विभिन्न योरोपीय देशोंकी विधियोंको, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी भी विवेचना की और बड़े महत्व-पूर्ण सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये। सर हेन्री मेनने न्यायिक-सुधारके इतिहासमें बेन्थमके योग-दानकी प्रशंसा यह कह कर की है कि 'बेन्थमके समयसे लेकर आज तक ऐसा कोई भी विधि-सुधार मेरी दृष्टिमें नहीं आता जिस पर उनका प्रभाव न हो।'

बन्थम ने यह अनुभव किया कि तत्कालीन विधियां बहुत अस्त-व्यस्त अव
थी और उन विधियोंको सहितावद्ध करनेकी जिम्मेदारी स्वयं उन्होंने अपने
ली । पर अपने देशमें उन्हे कोई प्रोत्साहन नही मिला। हां, अन्य देशोंसे—वि
कर फ़्रांस और रूसमे—उन्हे प्रोत्साहन मिला। इन देशोंकी विधि-व्यवस्थामें अ
उपयोगितावादी सिद्धान्तो को लागू करके बेन्थम ने यह दिखा दिया कि किस प्रक
उनका सिद्धान्त व्यावहारिक रूपसे कार्यान्वित किया जा सकता है ।

विधियों को संहितावद्ध करनेके अलावा उन्होंने अपना ध्यान उनके स्वरूप
संगठनकी ओर भी दिया। बेन्थम उस अनावश्यक पारिभाषिकता और प्राविधिकता
(technicality), व्यर्थ के शब्दजाल और अप्रचलित शब्दावलीसे चिढते
थे जो विधि-निर्माताओंको बहुत प्रिय थी । उनका कहना था कि विधियोंको सीधे-
सादे, आसानीसे समझमें आनेवाले छोटे-छोटे वाक्यो में व्यक्त किया जाना चाहिए ।
विधियां उन लोगोंके लिए सुलभ और सुगम होनी चाहिए, जिन पर उनके पालन
करनेका उत्तरदायित्व है । बेन्थमने विधियोंको लागू करनेकी उस पद्धतिकी कड़ी
आलोचना की जिसके फलस्वरूप गरीवों पर अत्यधिक बोझ पडता था । न्यायाधीशोंके
उन विलम्बकारी तरीकोंकी उन्होंने बडी भर्त्सना की जिनसे मुकदमोंसे सम्बन्धित
पक्षोंका अनावश्यक खर्च बढ़ जाता है और कानून की प्राविधिकताके कारण न्याय
ही नहीं हो पाता है । न्यायाधीशोंके प्रति उनके हृदयमें बहुत कम सम्मान था और
न्यायाधीशोंकी निरंकुशताकी रोक-थामके लिए वह जूरियोंका बहुत समर्थन करते
थे । 'न्यायिक पदाधिकारियों पर व्यक्तिगत उत्तरदायित्व डालने पर वह बहुत जोर
देते थे और इसीलिए वह एक न्यायाधीशकी अदालतको उस अदालतसे अच्छी मानते
थे जिसमें कई न्यायाधीश एक साथ बैठकर मुकदमोंका फैसला करते हैं। उनका
कहना था कि मुकदमेंकी सुनवाईमें अनेक न्यायाधीशोंके होनेका मतलब है हरेक
न्यायाधीशके उत्तरदायित्वकी शिथिलता(१३ : ९७)।'

शिक्षा (Education). मानव-जातिका सुधार करनेमें शिक्षाकी शक्ति
पर बेन्थम का अटल विश्वास था। उन्होंने दो प्रकारकी शिक्षा-पद्धतियोंकी रूप-
रेखाएं बनायी थी—एक गरीब वालकोंके लिए और दूसरी धनी बालकोंके लिए।
उनकी शिक्षा-पद्धतिका प्रस्थान-बिन्दु यह था : 'सबसे पहले उस बातकी शिक्षा दो जो
उपयोगी है—जो आगे चलकर विद्यार्थीके जीवनमें सबसे अधिक लाभप्रद हो
सके (१३ : ८९) ।' उन्होंने ही इस वर्तमान सिद्धान्तकी नींव डाली कि 'सबसे पहले
वही चीजें सिखाओ जो सबसे अधिक सुगमतासे सीखी जा सकती हैं अर्थात् विद्यार्थी
की सामर्थ्यका ध्यान रखो और उसे उसकी रुझान और स्वाभाविक प्रवृत्तिके विरुद्ध
विवश मत करो(१३ : ९०)।'

दण्ड और कारावास सम्बन्धी सुधार (Punishment and prison reforms). बेन्थम का कहना था कि दण्डका प्रधान उद्देश्य अपराधोंको
रोकना है। दण्ड केवल प्रतिहिंसात्मक नही होना चाहिए। बेन्थम यह मानते थे कि

प्रतिहिंसासे सन्तोष मिलता है पर उनका मत था कि दण्ड देनेमें प्रतिहिंसाको गौण स्थान दिया जाना चाहिए। दण्ड अपने उद्देश्यके ठीक अनुकूल होना चाहिए—न उससे अधिक और न उससे कम। इस दण्डसे समाजको लाभ होना चाहिए। यदि समाज की सुरक्षा और प्रतिष्ठाके लिए मृत्यु-दण्ड आवश्यक हो तो वह उचित और न्यायपूर्ण है, अन्यथा नही। हत्याके अपराधोंके अलावा अन्य अपराधोंमें मौतकी सजा दी जाय या नही, इसका निर्णय बेन्थम की सम्मतिसे, उपयोगिताके आधार पर यानी इस बात पर होना चाहिए कि सार्वजनिक कल्याण पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा। जहा तक सम्भव हो, दण्ड जनताकी आखोंके सामने ही दिया जाय जिससे अपराधी प्रवृत्तिवाले उसे देखकर भयभीत हो और अपराध न करें। यह मत आधुनिक विचारधाराके विपरीत है।

बेन्थम निरोधात्मक दण्ड-सिद्धान्त (deterrent theory of punishment) पर जोर देते थे। पर अपराधीका सुधार उसकी परिधिसे बाहर नही है। बेन्थमका कहना था कि दण्डसे होने वाले परिणामोंका अन्दाज लगाते समय अपराधीके सुधारका भी ध्यान रखा जाय (१३ : १०१)। उनका विश्वास था कि अनेक अपराधी और दुर्वृत्ति वाले लोग सुधारे जा सकते हैं और समाजके उपयोगी और सम्मानित सदस्य बनाये जा सकते हैं। इसी विश्वासके बल पर उन्होने अपराधियोंके पुनर्वासके लिए अनेक महत्वपूर्ण सुधारोका समर्थन किया था, जैसे कारावासमें अपराधियों को औद्योगिक शिक्षा देना। अपराधियोंके दैनिक जीवनको व्यवस्थित देख-रेखके लिए 'उन्होने एक योजना बनायी थी जिसका उन्होंने 'पैनोप्टिकन' (panopticon) नामकरण किया। इस योजनाके अनुसार कारागारकी इमारते इस ढंगसे अर्द्धचन्द्राकार बनायी जानी चाहिएं कि जेलका सुपरिन्टेन्डेन्ट अपने निवास-स्थानसे जेलकी सभी कोठरियोको देख सके। इस योजनाकी मुख्य बातें थी—सावधानीपूर्वक निरीक्षण, सहानुभूतिपूर्वक अनुशासन और उन्नत वातावरण। अपराधियोको लाभप्रद व्यवसायोंकी शिक्षाके अतिरिक्त प्रारम्भिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए। अपराधियोको नैतिक और धार्मिक प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। उनके सामने आदर्श चरित्रोंको इस ढगसे रखना चाहिए कि वे स्वयं अपने चरित्रका सुधार करने लगें। इस योजनाके अनुसार कारावाससे छूटने पर अपराधियोंके लिए तब तक रोजी की व्यवस्था कीजानी चाहिए जब तक उन्हें जनताका विश्वास फिरसे न मिल जाय और वे स्वयं अपने पैरो पर न खड़े हो जायें। यद्यपि इनमेंसे अनेक सुधार बेन्थमके जीवन-कालमें कार्यान्वित न हो सके, फिर भी 'उनके समयसे अब तक कारागारों और अनुतापालयों (penitentiaries) में जो व्यापक सुधार हुए है और औद्योगिक विद्यालयों तथा सुधार-शालाओ (reformatories) की जो स्थापना हुई है उन सबकी प्रेरणा उन्हींसे प्राप्त हुई है और उनका आधार वही सिद्धान्त है जिन्हें वह प्रतिष्ठित कर गये थे (१३ : १११)।'

एक और दृष्टिसे भी बेन्थम अपने समयसे आगे थे। उनका विश्वास था कि

दण्ड अपराधीके अनुरूप होना चाहिए न कि अपराधी दण्डके अनुरूप बनाया जाय। उनका विश्वास था कि अपराधियोंको दण्ड देते समय इन बातों पर ध्यान देना चाहिए. अपराध कैसा था, अपराध करनेसे पहले अपराधी का चरित्र कैसा रहा है, अपराधीका वंशानुक्रम, वह परिस्थितियां जिनमें अपराध किया गया, अपराधीका उद्देश्य क्या था और जिन्हें क्षति पहुंची है वे किस कोटिके व्यक्ति हैं। दण्ड सुनिश्चित और पक्षपात रहित होना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दीके आरम्भमें बेन्थमने समाज सुधारका जो प्रयत्न किया उसकी उपर्युक्त विस्तृत रूपरेखासे पाठकोंको यह स्पष्ट हो गया होगा कि उपयोगितावादका स्वरूप कितना अधिक व्यावहारिक और सुधारवादी है। पर यह याद रखना चाहिए कि इन सब सुधारोंका आधार 'सार्वजनिक सुख' का सिद्धान्त नहीं है, बल्कि सार्वजनिक कल्याण या सामाजिक सुविधा अथवा सार्वजनिक उपयोगिताका सिद्धान्त है। बेन्थमके सम्बन्धमें यह ठीक ही कहा जाता है कि उन्होंने सभी संस्थाओंकी परख यह रखी थी कि उनके अस्तित्वका औचित्य उनकी उपयोगितासे प्रदर्शित होता है या नहीं।

२. जेम्स मिल (१७७३–१८३६) आजीवन बेन्थम के श्रद्धालु अनुयायी रहे। वह 'बेन्थम के सभी शिष्योंमें से सबसे अधिक उद्यमी, सम्भवतः सबसे अधिक बुद्धिमान् और किसी बात पर न झुकने वाले व्यक्ति थे (१३ : ११४)।' सामाजिक और राजनीतिक समस्याओंमें उनकी सबसे अधिक रुचि थी। उपयोगितावादकी प्रयोगात्मक और आगमनात्मक (experimental and inductive) पद्धति पर उनकी निष्ठा थी। बेन्थम की भांति समाजके निम्न और उच्च दोनों ही वर्गोंके लिए शिक्षाकी उपयोगिता पर उनको पूरा विश्वास था। बेन्थम की तरह उनकी भी विधि में और विधिके सुधारमें गहरी दिलचस्पी थी। राजतन्त्रके विरुद्ध उन्हें ज्यादा आपत्ति नहीं थी। उनका विश्वास था कि एक सुव्यवस्थित प्रतिनिधि-पद्धतिसे सरकारोंकी स्वार्थ-सिद्धि पर रोक लगती है। यद्यपि बेन्थम की तरह उन्होंने लॉर्ड-सभाके उन्मूलन का समर्थन नहीं किया फिर भी उसके अधिकारोंको कम करनेके लिए उन्होंने क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखे और इस मानेमें ब्रिटेन के सन् १९११ के अधिनियमकी पूर्वकल्पना उन्होंनेकी थी। उनका विश्वास था कि यदि देशके मध्यवर्गके हाथोंमें राजनीतिक सत्ता रहेगी तो उसमें व्यवस्था और प्रगतिको सबसे अधिक बल मिलेगा। डैविड्सन (Davidson) के कथनानुसार जेम्स मिल 'बेन्थम के बाद आमूल परिवर्तनवादी (radical) उपयोगितावादियोंके नेता थे और इस विचारधाराके व्यावहारिक सुधारोंको कार्यान्वित करवानेमें उनका प्रधान योग था (१३ : १४२)।'

३. जॉन स्टूअर्ट मिल (John Stuart Mill, १८०६–७३) जेम्स मिलके पुत्र थे और अपने पितासे अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने बेन्थमकी कठोर नैतिक मान्यताओंको नरम बनाया और ऐसा करके 'उन्होंने उपयोगितावादको अधिक मानवी, पर साथ ही कम संगत (consistent) बना डाला (६ : ११९)।' उन्होंने यह

स्वीकार किया कि सुखमें केवल मात्राका ही नहीं, गुणका भी भेद होता है। उनके इन शब्दोंका बहुधा उल्लेख किया जाता है कि 'एक सन्तुष्ट सुअर होनेकी अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है और एक सन्तुष्ट मूर्ख बने रहनेकी अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात (बुद्धिमान्) होना अधिक अच्छा है और यदि उस मूर्ख या सुअर की राय इससे भिन्न है तो वह इसलिए कि वह प्रश्नके केवल एक पहलू—अपने पहलू को ही देखता है। तुलनाका दूसरा पक्ष दोनों पहलुओंको देखता है।'[1] स्वार्थ और सार्वजनिक सुखके अन्तरको कम करनेमें भी मिलकी मान्यताएं बेन्थमसे भिन्न हैं। मिल कहते हैं—'उपयोगितावादी मानदण्ड व्यक्तिका अधिकतम सुख न होकर अधिकतम सामूहिक सुख है।' 'अपने और अन्य लोगोंके सुखके बीच व्यक्तिको, उपयोगितावाद की मान्यताओंके अनुसार, एक निरपेक्ष और उदार दर्शककी तरह पक्षपातहीन होना चाहिए।' नजारेथ के ईसामसीह के स्वर्णिम सिद्धान्तमें हमें उपयोगिताकी पूर्ण नैतिक भावना मिलती है। 'जैसे व्यवहारकी हम दूसरोंसे अभिलाषा करते हैं, दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करना और अपने पड़ोसीको आत्मवत् प्रेम-भावनासे अपनाना—इन दोनों उपदेशोंमें उपयोगितावादी नैतिकताकी पूर्णता है (६१ : अध्याय ११)।' बेन्थमका कहना था कि केवल बाह्य अनुशास्तियों (external sanctions) से ही व्यक्ति को सार्वजनिक सुख की वृद्धि के लिए विवश किया जा सकता है। पर मिल का कहना था कि बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकारकी अनुशास्तियों से ऐसा किया जा सकता है। मिलका कहना था कि प्रत्येक व्यक्तिमें 'मानव जातिके सुखकी भावना' रहती है और इसीलिए उसे सार्वजनिक सुखके लिए उत्सुक होना चाहिए और उसे बढ़ाना चाहिए। उनका तर्क यह है कि 'चूंकि 'क' का सुख कल्याणकारी है, 'ख', 'ग' आदिका भी सुख कल्याणकारी हैं, इसलिए इन सब सुखों का योग भी अवश्य कल्याणकारी होगा (६१ : ११–११६)।'

मिलको समाज-सुधारमें उतनी ही रुचि थी जितनी दार्शनिक चिन्तन में। १८५९ में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'स्वतन्त्रता' (*Liberty*) में वैयक्तिक स्वतन्त्रताका उन्होंने निर्भीक समर्थन किया। उनकी यह रचना बड़ी योग्यतासे, विचार-स्वातन्त्र्य, भाषण-स्वातन्त्र्य और कर्म-स्वातन्त्र्यका औचित्य तर्कपूर्वक सिद्ध करती है। लोकतन्त्रके प्रबल समर्थक होते हुए भी मिलको इस बातकी आशंका थी कि लोकतन्त्रमें व्यक्तित्व और मौलिकताके कुचलनेकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिए उन्होंने विचार, भाषण और कर्मके क्षेत्र में यथासम्भव अधिकसे अधिक स्वतन्त्रताका समर्थन किया। वह मतभेदको सहानुभूतिपूर्वक सहन करनेमें और विचार-विमर्शकी पूर्ण स्वतंत्रतामें विश्वास करते थे। उनका यह पक्का विश्वास था कि विचारोंके संघर्ष में

---

[1] उपयोगितावादका इस प्रकार संशोधन करनेमें मिल ने एक प्रकारसे उसका खण्डन ही कर दिया। उनके विचारोंके अनुसार कुछ सुख दूसरोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सत्यकी ही अन्तमें विजय होगी। विचारोंके क्षेत्रमें उन्होंने योग्यताकी
(survival of the fittest)की ही शिक्षा दी है। उनका कहना था कि सामा
शान्तिके पहले सामाजिक चेतना का होना जरूरी है। उनका यह भी क
था कि व्यक्तियों और मशोंको काम करने की पूरी स्वतन्त्रता तब तक दी जानी चा
जब तक उनके कार्योंसे दूसरोंके हितों और अधिकारोंमें कोई गम्भीर हस्त
नहीं होता।

व्यावहारिक राजनीतिमें मिल आमूल परिवर्तनवादी (radical) थे। वह स्त्रि
के अधिकारोंके प्रबल समर्थक थे और स्त्रियोंको पुरुषोंको 'दासता' से 'मुक्त' करान
चाहते थे। उनका विश्वास था कि पुरुषों और महिलाओंमें असमानता मौलिक और
अनिवार्य नहीं है। १८६६ से १८६८ तक संसदमें एक आमूल परिवर्तनवादीके रूपमें
उन्होंने मजदूरोंके हितों, स्त्रियोंके मताधिकारों, राष्ट्रीय ऋणके कम किये जाने और
आयरलैण्ड में भूमि-सुधारका जोरोंसे समर्थन किया उन्होंने सभी प्रकारके वर्ग-
स्वार्थोंका और एकपक्षीय विधानका विरोध किया। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश
पार्लियामेण्टमें अल्पसंख्यकोंको उचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है। इसी कारण उन्होंने
आनुपातिक प्रतिनिधित्वका, जो हेअर महोदयके नामसे सम्बन्धित है, समर्थन किया।
सभी कर-दाताओंके मताधिकारका समर्थन करते हुए भी मिल उच्च चरित्र और
बौद्धिक शक्तिवाले व्यक्तियोंके लिए बहुल मताधिकारके पक्षपाती थे। सरकारकी
शुद्धता और दक्षताको बनाये रखनेके लिए वह संसद-सदस्योंको वेतन दिये जानेके
विरोधी थे और गुप्त मतदानका विरोध इस आधार पर करते थे कि इससे स्वार्थ
प्रेरित अनुत्तरदायित्वपूर्ण मतदानको प्रोत्साहन मिलता है। यद्यपि मिल कॉमन्स-
सभाकी उच्चतर विधायी अधिकार-शक्तिको मानते थे पर उनका विश्वास था कि
संसदके सम्मुख पेश किये जाने के लिए विधेयकोंकी रचनाका काम लॉर्ड-सभाको
सौंपा जाना चाहिए; क्योंकि उसमें वैधिक क्षमतावाले लोग होते हैं। वह राज्य
द्वारा व्यवस्थित अनिवार्य शिक्षाके पक्षपाती थे, यद्यपि उन्हें इस बातका भी भय
था कि इससे सरकारी विभाग द्वारा निर्धारित एक ही साँचेके ढले नागरिक निकलेंगे।
वह कहते थे कि अनिवार्य शिक्षा 'लोगोंको ठीक एक दूसरेके समान बनानेका तरीका
मात्र है।'

आर्थिक क्षेत्रमें मिल कट्टर व्यक्तिवादी न होकर उससे कहीं दूर थे। समाज
कल्याणके लिए किये जाने वाले व्यापक राजकीय कार्योंका उन्होंने समर्थन किया।
अपने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें वह ऐसे समाजवादी आदर्शोंकी ओर आकृष्ट हुए जिसमें
'संसारके कच्चे माल पर सार्वजनिक प्रभुत्व होगा और सभी लोग सामूहिक श्रमसे
होनेवाले फायदेके समान भागीदार होंगे।' उन्होंने राजनीतिक उदारवादके साथ
आर्थिक समाजवादको जोड़ दिया था। जैसा कि आइवर ब्राउन कहते हैं, 'जहाँ तक
समाजवादका आधार व्यक्तिगत कल्याण है मिलके राजनीतिक आदर्शोंका समाज-
वादके साथ पूरा-पूरा मेल बैठ जाता है (६:१२९)।'

मिल ने जो कुछ भी लिखा है और कहा है उस सबका मुख्य लक्ष्य सामाजिक कल्याण और व्यक्तित्वकी रक्षा है। उन्होंने अपनी पूरी ताकतसे विकास और उन्नति का समर्थन किया। उन्हे विश्वास था कि विवेकपूर्ण मानवी प्रयासोसे मानव-जाति का सुधार व उत्थान हो सकता है। एक सच्चे उपयोगितावादीकी तरह उन्होंने सुख को ही मानव व्यवहारका अन्तिम लक्ष्य माना और उसी पर जोर दिया। साथ ही साथ वह स्वतन्त्रताको भी अत्यन्त आवश्यक मानते थे। जिस स्वतन्त्रताका वह इतना जोरदार समर्थन करते थे वह स्त्री-पुरुषोकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता थी, वह गूटो और सूक्ष्म धारणाओ (abstractions) की स्वतंत्रता नही थी। उनकी मुख्य विशेषता यह है कि वह सभी सामाजिक समस्याओ पर मनुष्यको सामने रखकर विचार करते थे। यद्यपि उनके सामाजिक और राजनीतिक विचारोमें बडी आसानीसे छिद्रान्वेषण किया जा सकता है, पर इस बातसे इन्कार नही किया जा सकता कि उनकी विचार धारामें स्थायी महत्त्वकी बाते है। 'यही कारण है कि, यद्यपि उपयोगितावादी सिद्धान्तकी बहुत दिनोंसे निन्दा होती आई है, फिर भी उसमें स्थायित्वकी सम्भावना है (६:१२९)।'

अन्य उपयोगितावादी विचारको पर विस्तारसे विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। जॉन ऑस्टिन (१७७०–१८५९) की सबसे बडी देन न्याय-शास्त्रकी दृष्टिसे विधि दर्शनका व्यापक विवेचन है। व्यावहारिक राजनीतिमें उन्हें लोकतन्त्रीय सरकारके प्रति कोई अधिक उत्साह नही था। वह पक्के रूढिवादी थे और १८५९ के ससदीय सुधारके विरोधी थे। जॉर्ज ग्रोट (१७९४–१८७१) कट्टर वेन्थमवादी थे। वह व्यावहारिक राजनीतिज्ञ होनेके साथ ही राजनीतिक दार्शनिक भी थे। वह गुप्त मतदानके पक्षपाती थे। वह परिवर्धित मताधिकार (extended franchise) के उत्साही समर्थक थे (१३ : २३८)।' प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अलेक्जेण्डर वेन (१८१८–१९०३) ने उपयोगितावादी नीति-शास्त्रको एक वैज्ञानिक रूप दिया, जिसकी उसे आवश्यकता थी। उन्होंने 'अनुभव' (experience) को अपने साहचर्य-मूलक मनोविज्ञान (associationist psychology) का सकेत-सूत्र बना दिया।

ऊपर जिन आमूल परिवर्तनवादी उपयोगितावादियोका विवेचन किया गया है उनके प्रति ब्रिटेन बहुत ऋणी है। उन्नीसवी शताब्दीके अधिकांशमें उनके विचारो का बोलबाला रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि व्यावहारिक राजनीति, सामाजिक सुधार और कल्याणकारी विधानमें जनताकी रुचि इतनी अधिक रही जितनी पहले कभी कल्पना भी नही की गयी थी। उससे होने वाले लाभका आनन्द हम आज उठा रहे है। अपने सिद्धान्तोको उन्होंने क्रमश: एक-एक कदम आगे बढ़ाया। प्रत्येक महान् विचारकने स्थायी महत्त्वकी कुछ न कुछ नयी बात जोडी। प्रगति उनका सकेत-सूत्र था और स्वतन्त्रता तथा जन-हितके लिए उनके उत्साहसे उन्हें आगे बढ़नेकी प्रेरणा और शक्ति मिलती थी। आधुनिक युगके लिए यही उनकी देन है। उन्होंने संसारको

कोई पूर्ण दार्शनिक पद्धति नही दी, पर वह कुछ ऐसे सुनिश्चित सिद्धान्त दे गये हैं जो परिणामोंकी कसौटी पर खरे उतरे हैं और जिनमें भविष्यमें कल्याणकारी प्रयोग किये जानेकी अपरिमित क्षमता अब भी हैं (१३ : २४९–५०)।'

'अधिकतम सुखका सिद्धान्त' निस्सन्देह निरर्थक हैं। पर उपयोगिता और उपयोगितावादके नाम पर बहुतसे कल्याणकारी काम किये जा चुके हैं। उन्नीसवी सदीमें जो अंग्रेज नागरिक भारत आये थे उनमें से अधिकाशने सामाजिक सुधार और सामाजिक विधान का समर्थन किया था। ऐसा करनेमें वे लोग उपयोगितावाद के आदर्शोंसे ही प्रेरित थे। उन्होंने अनेक भारतीय सुधारकोंको भी प्रभावित किया था।

आज भी उपयोगितावाद या 'अधिकतम सुखका सिद्धान्त' बहुत कल्याण कर सकता है, बशर्ते कि उसकी व्याख्या करनेमें और उसे कार्यान्वित करने में उसके शब्दों पर अत्यधिक जोर न दिया जाय। उपयोगितावाद और आदर्शवादका समन्वय किया जा सकता है, जैसा कि टी० एच० ग्रीन ने, राजनीति-शास्त्रके क्षेत्रमें, किया है। व्यावहारिक राजनीतिके क्षेत्रमें इस प्रकारका समन्वय मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का और भारतमें कल्याणकारी-राज्यके आदर्शका पोषण कर सकता है।

SELECT READINGS

ALBEE, E.—*History of English Utilitarianism.*

BENTHAM, J.—*An Introduction to the Study of Morals and Legislation*
—*A Fragment on Government.*

BROWN, I.—*English Political Theory*—Chs. VIII and X.

DAVIDSON, W. L.—*Political Thought in England, The Utilitarians from Bentham to Mill.*

DUNNING, W. A.—*Political Theories, from Rousseau to Spencer*—Ch. VI.

HALLOWELL—*Main Currents in Modern Political Thought*—Ch. 7.

JOAD, G. E. M.—*Guide to Philosophy of Morals and Politics*—pp. 334-5.

MACCUNN, J.—*Six Radical Thinkers*—Chs. I-II.

MILL, J. S.—*Utilitarianism.*

POLLOCK, F.—*History of the Science of Politics*—pp. 98-III.

RITCHIE, D. G.—*Principles of State Interference.*

SETH, JAMES—*Ethical Principles*—Part I, Ch. I.

STEPHEN, LESLIE—*The English Utilitarians.*

WILLOUGHBY, W. W.—*Nature of the State*—Chs. IX and XI.

१८

राजनीतिमें आदर्शवाद

(Idealism in Politics)

१. राजनीतिमें आदर्शवादकी सरम्परा

(The Idealistic Tradition in Politics)

राज्यका आदर्शवादी सिद्धान्त अनेक नामोसे प्रसिद्ध है। कुछ लोग इसे परमवादी सिद्धान्त (absolutist theory), कुछ लोग इसे दार्शनिक सिद्धान्त (philosophical theory) और कुछ लोग इसे आध्यात्मिक सिद्धान्त (metaphysical theory) कहते हैं। मैकाइवर तो इसे 'रहस्यवादी' (mystical) सिद्धान्त तक कह डालते हैं। नाम चाहे जो कुछ हो पर आदर्शवादी परम्पराका एक लम्बा इतिहास है, यद्यपि इसकी शृंखला कहीं-कहीं टूटी हुई है। हमें इसकी पहली झलक प्लेटो और अरस्तू की रचनाओमें मिलती है। यह दोनों यूनानी विचारक, अपने अनेक समकालीन विचारकोकी तरह, राज्यको स्वाभाविक और आवश्यक मानते थे। वह राज्यको सब कुछ मानते थे। उनका कहना था कि राज्यसे अलग रह कर मनुष्य अपनी चरमपूर्णताको नही प्राप्त कर सकता। अरस्तूका मत था कि राज्यका उदय तो मानव जीवनकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए ही हुआ था, पर उसका अस्तित्व नैतिक जीवनकी आवश्यकताओंके कारण बना रहा। प्लेटो और अरस्तू दोनो ही राज्यको उसके सर्वोच्च रूपमें एक नैतिक सस्था मानते थे। सच्चा राज्य एक सद्गुण सम्पन्न जीवनकी 'साझेदारी' थी।

राज्य पर इस प्रकार एक नैतिक दृष्टिसे विचार करने और नीतिशास्त्रके अनुसार राजनीतिक सिद्धान्तकी विवेचना करनेका, बादके आदर्शवादी विचारकों पर, बहुत प्रभाव पडा। यूनानी दार्शनिकोका प्रभाव आधुनिक आदर्शवादियों पर एक और दृष्टिसे पडा है और वह है राज्य और समाज को करीब-करीब एक रूप मानना। यह प्रवृत्ति बोसाके के विचारोमें विशेष रूपसे दिखायी देती है। यूनानी चिन्तनका, विशेष कर प्लेटोके विचारोका, तीसरा प्रभाव आदर्शवादियो पर यह पडा है कि वे राज्यको एक जैविक इकाई (organic unity) मानते हैं। आदर्शवादियोंका प्रस्थान-बिन्दु यह है कि राज्य एक केन्द्रीय सामाजिक व्यवस्था है जिसमें व्यक्तिको अपना उपयुक्त स्थान बनाना होता है। व्यक्तिका स्वय अपने आपमें न कोई महत्व है न मूल्य। उसका जो कुछ भी महत्त्व है वह इसलिए है कि वह एक जैविक इकाईका अभिन्न अग है। व्यक्ति और राज्यके बीचके जिस तीव्र विभेद (the sharp contrast

between the individual and the state) से आज हम इतना अधिक परिचित हैं वह यूनानियोंको अज्ञात था। उनकी दृष्टिमें नागरिकताका जीवन ही सामाजिक जीवन था और नागरिकजीवन ही पूर्ण जीवन था। वह राज्यसे अलग व्यक्तिको एक 'अनैतिक सूक्ष्म भाव-मात्र' (unethical abstraction) मानते थे (७१.२८८)।

यूनानी युगमें भी प्लेटो और अरस्तू के राज्य-सम्बन्धी महान् आदर्शोंको सब लोग नहीं मानते थे। जैसाकि जेम्स सेठ कहते हैं, यूनानी नीति-शास्त्र "व्यक्तिवाद और विश्वबन्धुत्वकी पुकारके साथ समाप्त होता है (७१ २८९)।" इनका आभास एपीक्यूरियन और स्टोइक-विचारकोंके उपदेशोंमें क्रमश: मिलता है। मध्ययुगमें चर्च ने राज्यको पद-च्युत करके उसका स्थान बहुत कुछ ग्रहण कर लिया और चर्च (धर्म-संघ) तथा राज्यके अधिकार-क्षेत्रके बारेमें विवाद चल पडा। इस युगमें एक ओर तो धर्म-संघ और राज्यमें, और दूसरी ओर राजतंत्र और सामन्तशाहीके बीच संघर्ष चला। ऐसी हालतमें यूनानी चिन्तनके तत्त्वोंको सफलताके अनुकूल वातावरण न मिल सका। इस प्रकार लगभग एक हजार वर्ष तक यूनानी राजनीतिक दर्शन प्राय: सुप्तावस्थामें रहा। पुनर्जागरण (renaissance) और सुधार (reformation) के कालमें लोगोंकी अभिरुचि फिरसे यूनानी ज्ञानकी ओर अग्रसर हुई। यूटोपिया (*Utopia*) नामक-ग्रन्थ लिखनेमें सर टॉमस मूर पर प्लेटो की रचना 'रिपब्लिक' का काफी प्रभाव पडा। पर प्लेटो के जिन विचारों ने मूर को सबसे अधिक प्रभावित किया वह उनका साम्यवाद था न कि उनके आदर्शवादी उपदेश। व्यक्तिकी महत्ताके सुधारयुगीय सिद्धान्तने व्यक्तिको एक नयी स्वाधीनता दी और व्यक्तित्व-सिद्धान्तके लिए मार्ग प्रशस्त किया। यह सिद्धान्त ही आधुनिक आदर्शवाद की आधारशिला है। सुधार-युगके बाद व्यक्तिवाद, राष्ट्रीयता, प्रतियोगिता और वाणिज्यवादका जमाना आया। इनमें से अन्तिम दो का गठबन्धन हुआ जिससे पूंजी-वादका बेरोकटोक प्रसार बढा (६:२६)। इस युगमें भी आदर्शवादी परम्परा बहुत आगे न बढ सकी। राजाओंके दैवी अधिकार सिद्धान्तका काफी समय तक बोलबाला रहा इस प्रकार राज्यके दैवी अधिकार सम्बन्धी हीगेल के सिद्धान्तकी पूर्व-कल्पना दो शताब्दी पहले की जा चुकी थी।

आधुनिक विचार-धारा पर यूनानी राजनीतिक चिन्तनका स्थायी और निरन्तर प्रभाव रूसो के साथ आरम्भ होता है। इसलिए रूसो को यह श्रेय दिया जाना ठीक ही है कि सदियों पहले यूनानी दार्शनिकों द्वारा खोजे गये महान् सत्यों को उन्होंने फिरसे खोजकर हमारे सामने रखा।

रूसो के विचारों पर सबसे अधिक प्रभाव प्लेटो का पडा। प्लेटो की सहायतासे ही रूसो अपनेको लॉक के व्यक्तिवादी सिद्धान्तसे मुक्त कर सामाजिक संविदा (*Social Contract*) में निहित समष्टिवादी सिद्धान्त (collectivist theory) को अपना सके। अपनी युगान्तरकारी पुस्तक 'सामाजिक संविदा' में रूसो ने राज्यकी धारणा एक नैतिक प्राणी (moral organism) के रूपमें की है और लोकसम्मति

का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनकी रायमें राज्य मूलतः नागरिकोंके वैधिक अधिकारोंकी रक्षा करनेके लिए वैधिक सगठन नही है। तत्वतः राज्य एक नैतिक सगठन है जिसके सामान्य जीवन-यापनमे ही मनुष्य अपनी नैतिक पूर्णताको प्राप्त करता है। राज्यका सदस्य न रहनेसे व्यक्ति मूर्ख और सकुचित जीवमात्र रह जाता है। राज्यकी सदस्यताके कारण ही वह 'एक समझदार और मानवी प्राणी बनता है। राज्य मनुष्यकी नैसर्गिक प्रवृत्ति (instinct) के स्थान पर न्याय और क्षुधा (आकाक्षा) के स्थान पर विधिकी प्रतिष्ठा करता है। मनुष्यके कार्योंको वह ऐसी नैतिकता प्रदान करता है जो उन्हें पहले प्राप्त न थी। राज्यका प्रधान कर्त्तव्य अपने नागरिकोको भौतिक परतत्रतासे मुक्त कर उनके लिए नैतिक स्वतत्रताका जीवन सम्भव बनाना है। राज्यको चाहिए कि वह मनुष्यको स्वतत्र बननेके लिए विवश करे। प्लेटो की तरह रूसो को भी राज्यसे तीव्र अनुराग था, पर राज्य सम्बन्धी उनकी धारणा कुछ मानोंमें प्लेटो की धारणासे भिन्न थी। रूसो ने लोक-सम्मति (general will)के सिद्धान्तका और इस बातका प्रतिपादन किया कि इस सम्मतिके निर्माणमें हर व्यक्तिका भाग है।

रूसो के प्रगाढ उपदेशोंका प्रभाव काण्ट और अन्य समकालीन जर्मन दार्शनिकों के चिन्तन पर और उनके माध्यमसे अंग्रेज आदर्शवादियो पर पडा। उनकी विचार-धाराकी विस्तृत समीक्षा इसी अध्यायमें बादमें की जायगी। इस समय हम सामान्य आदर्शवादी धारणाका सक्षिप्त विवेचन करेगे।

२. राज्यके आदर्शवादी सिद्धान्तकी व्याख्या
(Statement of the Idealistic Theory of the State)

आदर्शवादियोंका विश्वास है कि राज्य एक नैतिक संस्था है बोसा के (Bosanquet) के शब्दोंमें राज्य नैतिक विचारका मूर्त रूप है। समाजकी अन्य महत्त्वपूर्ण नैतिक सस्थाए परिवार और धर्म-सघ (church) हैं। इन सभी सस्थाओंमें राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दृष्टिसे राज्यमें अन्य सब सस्थाए सम्मिलित है। संकुचित दृष्टिकोण से तो राज्य एक वैधिक सगठन जरूर है पर व्यापक दृष्टिकोणसे राज्य एक नैतिक सगठन है जो करीब-करीब समाजके साथ एक रूप होता है। व्यक्तिके प्रति न्याय इस बातमें है कि समाजके जीवन और कार्य-व्यापारमें उसे अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त हो और उस स्थानसे सम्बद्ध कर्त्तव्योंको वह पूरा करे।

राज्यके बिना मानव व्यक्तित्वका पूरा विकास और उत्थान सम्भव नहीं है। मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है और राज्य नैतिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए समाजका प्रभावपूर्ण सगठन है। व्यक्ति और राज्यके उद्देश्योंमें कोई वास्तविक विरोध नही है। दोनोका उद्देश्य व्यक्तित्वकी पूर्णता है। नैतिक दृष्टिसे राज्य स्वयं अपने आपमें उद्देश्य नही है। वह एक साधन है जिसके माध्यमसे लक्ष्य तक पहुचा जा सकता है।

व्यक्ति ही नैतिक इकाई है। 'राज्य व्यक्तिके लिए है, व्यक्ति राज्यके लिए नहीं। राज्यका काम व्यक्तिका अवक्रमण करना नहीं है। राज्यका काम यह है कि वह व्यक्तिको उसके व्यक्तित्वके विकासमें सहायता पहुंचाये और अपना विकास करनेका उसे अवसर दे। राज्य व्यक्तिका कार्य-क्षेत्र, उसके नैतिक जीवनका माध्यम है (७१ : २९३)।'

इस दृष्टिसे राज्य व्यक्तिका सबसे अच्छा मित्र है। मनुष्य और राज्यमें विरोध समझना एकदम गलत है। अराजकतावादी जो राज्यको शत प्रतिशत बुराई मानते हैं और व्यक्तिवादी जो राज्यको एक अनिवार्य बुराई मानते हैं, दोनों ही राज्यके सच्चे महत्त्वको नहीं समझे हैं। अराजकतावादका दुष्परिणाम है 'भीड़शाहीकी खराबियां (evils of mob rule)और आज दिन व्यक्तिवाद तो करीब-करीब हास्यास्पद हो चुका है(७१ : २९३)। यह आदर्श कि हर व्यक्तिको अपने ही लिए जीनेका अधिकार मिलना चाहिए, एक असम्भव और आत्मविरोधी आदर्श साबित हो चुका है। अति-वादी व्यक्तिवादकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप ही समाजवाद और आदर्शवादका उदय हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आदर्शवादके अनुसार व्यक्ति और राज्यके सच्चे हित एक ही हैं। दोनों ही का लक्ष्य है मनुष्यके व्यक्तित्वका पूर्ण और स्वतन्त्र विकास। आदर्शवादी इस पुरानी यूनानी धारणाको मानता है कि समाज व्यक्ति और व्यक्ति समाज पर निर्भर है। उसका विश्वास है कि 'राज्य व्यक्ति पर बाहरसे लादी गयी शक्ति नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूपमें राज्य और व्यक्ति एक रूप हैं (७१ : २९२)।' इसलिए राज्यकी आज्ञाका पालन करना नागरिकके स्वयं अपने ही उत्तम अंगकी आज्ञाका पालन है।

यद्यपि व्यक्ति ही नैतिक इकाई है और राज्यका अस्तित्व व्यक्तिके लिए है फिर भी आदर्शवादियोंका विश्वास है कि राज्यकी अपनी इच्छा और अपना व्यक्तित्व है। उसका अतीत इतिहास, वर्तमान जीवन और उसकी भावी सम्भावनाएं हैं और इस प्रकार कुछ अर्थोंमें राज्य व्यक्तियोंसे भिन्न है यद्यपि उनको मिलाकर ही वह बनता है। उसके उद्देश्यमें निरन्तरता और लक्ष्यमें स्थिरता है। एक आदर्श राज्य, जिसमें युक्ति-सगत इच्छा अपने पूर्ण रूपमें व्यक्त हुई हो, कभी कोई ऐसी इच्छा नहीं कर सकता जो उसके व्यक्तिगत सदस्योंके सर्वोच्च हितोंके विरुद्ध हो। आदर्श-वादी इस बात से विचलित नहीं हो जाते कि ऐसे राज्यका कभी कहीं अस्तित्व नहीं रहा।' वे उसे एक ऐसा लक्ष्य मानते हैं जिसके लिए सभी राज्योंको प्रयत्न करना चाहिए।

आदर्शवादीके अनुसार राज्यका आधार लोक इच्छा होती है, दबाव डालने वाली शक्ति नहीं। निस्सन्देह राज्य शक्तिका उपयोग करता है, पर शक्ति राज्यकी मुख्य विशेषता नहीं है। राज्य सामूहिक इच्छाका मूर्तरूप है। आदर्शवादीके अनुसार हमें राज्यका आदेश इसलिए मानना चाहिए कि हम यह अनुभव करते हैं कि इस आदेशपालन से एक ऐसे सार्वजनिक हितकी वृद्धि होती है, व्यक्तिका हित जिसका एक अभिन्न अंग है। आदर्शवादीका विश्वास है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है

और उसके विवेकको लगातार उद्बुद्ध करते रहनेसे स्थायी कल्याण हो सकता है। उसे विचारोंकी शक्ति पर विश्वास है।

सामान्यतः आधुनिक विचार और प्रयत्नोंकी प्रवृत्ति राज्यका प्रभावक्षेत्र घटानेकी ओर न होकर 'राज्यके सामाजीकरण अथवा समाजके राष्ट्रीयकरणकी ओर है (७१ · २९२)।' 'राज्यका सच्चा कर्तव्य यह है कि वह नागरिकके व्यक्तिगत जीवनको मुलझाये और उसे परिपूर्ण बनाये (७१ : २९४)।' व्यावहारिक भाषामें इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यको चाहिए कि वह सुन्दर जीवनके मार्गमें पड़नेवाली बाधाओंको दूर करे। धर्म और नैतिकताको न तो राज्य बलपूर्वक लागू कर सकता है और न उसे लागू करना ही चाहिए। व्यक्तिका चरम उद्देश्य है व्यक्तित्वका विकास, जिसे आत्मानुभूति (self-realization) या आत्मलोप भी कहते हैं। राज्यको व्यक्तिके इस सबसे महान् उद्देश्यको निरन्तर अपने सम्मुख रखना चाहिए। निष्पक्षतासे सबके लिए समान अधिकार लागू करके उसे स्वतन्त्रताकी वह परिस्थितिया बनाये रखनी चाहिए जो मनुष्यके सुन्दर जीवनके लिए जरूरी हैं। और, जैसा पहले कहा गया है, अधिकार वह बाहरी परिस्थितिया हैं जो मनुष्यके आन्तरिक विकासके लिए आवश्यक हैं।

राज्यकी सेवा करनेसे हम अपने उच्चतम अंशके प्रति निष्ठाहीन नही हो जाते। हम दो स्वामियोंकी सेवा नही करते हमारी सेवाका अधिकारी तो केवल एक ही स्वामी होता है और वह नैतिक और वैयक्तिक आदर्श (१७ : २९४)।' राज्यसे बिल्कुल अलग व्यक्तिको आदर्शवादी कोई महत्त्व नही देता। 'ऐसा व्यक्ति समाज-विरोधी और राज्य-विरोधी होता है (७१ · २९५), उसका जीवन बे-लगाम होता है (७१ : २९५)।' आदर्शवादी, व्यक्तिको 'सामाजिक और राजनीतिक तथा साथ ही वैयक्तिक मानता है (१७ · २९५)।' 'व्यक्तिको अन्य व्यक्तियोंसे पृथक करने का अर्थ होगा उसके जीवनको कुण्ठित कर देना। यदि यह कहा जाय कि राज्य वैयक्तिक जीवनमें भी हस्तक्षेप करता है तो उसका स्पष्टीकरण यह है कि वह हस्तक्षेप केवल व्यक्तिके साथ होता है, उसकी अन्तरात्माके साथ नही और राज्यके इस हस्तक्षेप का उद्देश्य अन्तरात्माको दूसरे व्यक्तियोंके हस्तक्षेपसे बचाना होता है। न तो राज्य और न व्यक्ति ही सर्वोच्च नैतिक उद्देश्य और इकाई है। यह उद्देश्य और इकाई तो मनुष्यकी अन्तरात्मा है (७१ · ३०१)।'

साधारणतया व्यक्तिको राज्यकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। पर इसका मतलब यह नहीं है कि वह राजनीतिक व्यवस्थाकी आलोचना नही कर सकता। व्यक्ति सम्प्रभु और प्रजा दोनों ही है। पर राज्य जब उसके व्यक्तित्वके क्षेत्रका अतिक्रमण करता है तब उसे अधिकार है कि वह राज्यके विरुद्ध विद्रोह कर दे। ऐसी अवस्थामें विद्रोह करना एक सार्वजनिक कर्तव्य हो जाता है। विद्रोहकी अवस्थामें भी व्यक्तिको यह याद रखना चाहिए कि वह अब भी उस सर्वोत्तम तत्त्वके प्रति एक निष्ठावान नागरिक है जिसके लिए राज्यका अस्तित्व है। जेम्स सेठ का कहना है

कि निम्नलिखित दो स्थितियोंमें व्यक्तिका विद्रोह करना उचित है · (क) जब राज्य एक व्यक्तिगत नागरिक अथवा एक व्यक्ति-समूहके रूपमें काम करने लगता है; (ख) जब लोकसम्मतिका तत्कालीन स्वरूप इतना अनुपयुक्त हो जाता है कि उसके सुधारकी आवश्यकता होती है। [(a) when the State act as a private individual or a body of individuals, (b) when the present formulation of the general will becomes so inadequate as to require reformation.]

(क) ब्रिटेन और फ्रांस की क्रान्तियां पहली स्थिति के अच्छे उदाहरण हैं। उस समय 'वास्तविक राज्य आदर्श राज्यके प्रतिकूल हो गया था। राज्य व्यक्तित्वके उन्हीं अधिकारोंको समाप्त करनेकी कोशिश कर रहा था जिनका उसे संरक्षक बनना चाहिए था और जिसके सम्मुख अपनी सरसत्ताका उत्तरदायित्व सिद्ध करना चाहिए था।' इसलिए क्रान्ति निस्सन्देह एकदम उचित और न्यायपूर्ण थी। सच्चे सम्प्रभुको राज्यकी किसी वस्तुको 'अपना निजी' नहीं समझना चाहिए। 'सार्वजनिक कार्योंमें उसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होना चाहिए, जनताका हित ही उसका हित होना चाहिए और जनताकी इच्छा उसकी इच्छा। यदि वह इसके विरुद्ध चलता है, अपनी व्यक्तिगत इच्छा पर जोर देता है और नागरिकोंके हितोंको अपने व्यक्तिगत हितोंके अधीन बना देता है तो वह अपने ही कार्योंसे अपना सिंहासन और अपनी सम्प्रभुता खो देता है। ऐसी हालतमें उस सबसे बड़ी शक्तिको उपयोगमें लानेकी जरूरत होती है जो जनताके ही हाथोंमें होती है (७१·२०१)।'

(ख) सुधार कानून (Reform Bills) के पहले ब्रिटेन की हालत उस अवस्था का अच्छा उदाहरण है जब लोक-सम्मतिके फिरसे निश्चित किये जानेकी आवश्यकता थी। इस प्रकारकी स्थितियोंमें यह जरूरी नहीं है कि यह काम क्रान्तिके द्वारा ही हो; सुधार ही पर्याप्त होता है। एक अच्छे राज्यमें जहां लोकमत गतिशील और प्रबुद्ध है, ऐसा सुधार निरन्तर होता रहता है।

आदर्शवादकी बहुत अधिक अनुचित आलोचनाकी गयी है। इसका कारण यह है कि जर्मन और अंग्रेज आदर्शवादियोंकी शिक्षाओं और वैयक्तिक आदर्शवादी विचारकोंकी शिक्षाओंके अन्तरको नहीं समझा गया। उदाहरणके लिए जोड महोदय सम्पूर्ण आदर्शवादी विचारधाराकी इस कारण निन्दा करते हैं कि हीगेल ने उसका एक अतिवादी रूप चित्रित किया है। ऐसा करना बिल्कुल अनुचित है।

३. टी० एच० ग्रीन एक गम्भीर आदर्शवादी
(T. H. Green as a Sober Idealist)

अब हम टी० एच० ग्रीन (१८३६-१८८२) की शिक्षाओंका विवेचन करेंगे। वह आदर्शवादियोंमें सर्वोत्तम थे। अर्नेस्ट बार्कर के शब्दोंमें वह एक उच्च आदर्शवादी और एक गम्भीर यथार्थवादी थे।

(१) ग्रीन के विचारो के स्रोत (**Sources of Green's Thought**). ग्रीन के विचारोके स्रोत प्लेटो, अरस्तू, रूसो, काण्ट और हीगेल है। यूनानी दार्शनिकोंसे ग्रीन इस बातमें सहमत हैं कि राज्य स्वाभाविक और आवश्यक है और व्यक्तिका जीवन समाजके जीवनका एक अभिन्न अग है। पर वह जीवन के अभिजात-वर्गीय (aristocratic) यूनानी दृष्टिकोणसे सहमत नही हैं। यूनानी विचारक आत्मतोष और आत्मनुभूतिका जीवन कुछ थोडे ही व्यक्तियोंके लिए सम्भव मानते थे। पर ग्रीन इस बारेमें यह लोकतन्त्रीय दृष्टिकोण स्वीकार करते हैं कि नागरिताका जीवन उन सब व्यक्तियो द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जो सार्वजनिक हितमें विश्वास रखते हैं। जहा तक प्लेटो और अरस्तू के तुलनात्मक प्रभावका सम्बन्ध है, ग्रीन पर प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का प्रभाव अधिक पडा है। अरस्तू की तरह ही ग्रीन अपने नीतिशास्त्रको राजनीति-शास्त्रसे पूरा करते हैं। और विश्वास करते हैं कि राज्य-का सर्वोपरि कर्त्तव्य यह है कि वह अपने व्यक्तिगत सदस्योके लिए एक ऐसे कल्याण-की सिद्धि सम्भव बनाये जो सार्वजनिक कल्याण हो। ग्रीन अपने नीति-शास्त्रमें 'आत्मतोष' या 'आत्मानुभूति' को आचरणका लक्ष्य बताते है, और अपने राजनीति-शास्त्रमें सार्वजनिक कल्याणको वह हमेशा परम कल्याण कहते हैं। उनकी विचार-धारामें यह सभी शब्द एक दूसरेके साथ अदले-बदले जा सकते हैं।

काण्ट और हीगेल की भाति ग्रीन भी रूसो की इस धारणाको मानते हैं कि 'नैतिक स्वाधीनता' मनुष्यका विशेष और अनुपम गुण है। वह मनुष्यको स्वाधीन इच्छाको मान लेते हैं यद्यपि यह स्वीकृति सीमित है। वह 'ऋणात्मक' और 'धनात्मक' स्वाधीनतामें, सामान्य और विशिष्ट स्वाधीनतामें, 'न्यायमूलक' स्वाधीनता तथा 'आध्यात्मिक' स्वाधीनतामें और 'भौतिक' अह (ego) और 'शुद्ध' अहमें अन्तर मानते है। इनमेंसे ऋणात्मक, सामान्य, (generic), न्याय-मूलक और भौतिक-स्वाधीनताका सीधा-सा अर्थ है, आत्मनिर्णय या अपनी वरीयत्वकी भावनाके अनुसार काम करना। [He assumes the free will of man--although within certain limits—and distinguishes between 'negative' and 'positive' freedom between freedom in the generic and freedom in the particular sense, between 'Juristic' and 'spiritual' freedom and between the 'empirical' ego and the 'pure' ego. Freedom of the former kind—negative, generic, juristic, and empiric—means simply self-determination or acting on preference] इसका मतलब अपने मनकी मौज का अनुकरण करना भी हो सकता है। दूसरी कोटिकी—अर्थात् धनात्मक, विशिष्ट, आध्यात्मिक और शुद्ध स्वाधीनता उद्देश्य होता है, तर्क या विवेक और इच्छाके लक्ष्योंका अधिकाधिक एकरूप होना। दूसरे शब्दोंमें स्वतन्त्र कार्य विवेकशील कार्य होते हैं। जैसा कि रिची कहते है, ग्रीन ने हीगेल के इस सिद्धान्तको कि राज्यका लक्ष्य स्वाधीनता ही है। इसी अर्थमें स्वीकार किया है।

सही अर्थोंमें स्वाधीनताका मतलब यह नहीं होता कि व्यक्तिको बिल्कुल अकेला स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय। मनुष्य जिस सन्तोषकी खोज करता है वह यदि सच्चा सन्तोष नहीं है तो यह कहा जा सकता है कि उसकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है। ऐसी स्थितिमें नैतिक स्वाधीनता नहीं हो सकती। ऐसा व्यक्ति दासतामें है। सच्चे सन्तोषको शान्ति या परमानन्दकी स्थिति कहा जा सकता है। यह मनकी वह स्थिति है जिसमें व्यक्तिकी सम्पूर्ण इच्छाकी तृप्ति हो चुकी होती है। वह किसी विशिष्ट इच्छाकी तृप्ति-मात्र नहीं है। वह मनुष्यके सारे अहंकी स्वानुभूति है। जैसा कान्ट ने कहा है 'ऐसा व्यक्ति इसलिए स्वाधीन होता है कि वह जानता है कि जिस विधिका वह पालन कर रहा है उसे उसने स्वयं बनाया है।' स्वाधीनताका अर्थ है विवेकपूर्ण उद्देश्योंके लिए लोक इच्छाका निश्चयन (determination)—ऐसे उद्देश्योंके लिए जो विवेकपूर्ण आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें और पूर्णताके प्रयत्नोंको सफल बनानेमें सहायक हो।

हीगेल की इस उक्ति को ग्रीन ज्योंका त्यों स्वीकार नहीं करते कि राज्य स्वाधीनताकी प्राप्ति या स्वाधीनताका मूर्तरूप है। वह इस बातको स्वीकार करते हैं कि संस्थाएं व्यक्तिको बन्धनमें जकड़नेके लिए नहीं होतीं, बल्कि वह नैतिक धारणाओं की मूर्तरूप होती हैं। साथ ही वह यह भी कहते हैं कि किसी भी राज्यको स्वाधीनता की पूर्ण प्राप्ति मानना विडम्बना है। आदर्श और यथार्थके बीच एक खाई रहती है और इसलिए राज्य स्वाधीनताकी जीती-जागती मूर्ति बनानेकी कोशिश भर कर सकता है। ग्रीन हीगेल की इस उक्तिका समर्थन नहीं करते कि 'जो यथार्थ है वह तर्क-संगत है और जो तर्क-संगत है वह यथार्थ है।' प्रतिष्ठित नैतिकताको भी वह इतना ऊंचा स्थान नहीं देते। ग्रीन यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्तिके राजनीतिक विकासमें प्रतिष्ठित नैतिकताका बड़ा हाथ रहता है। पर विकासकी अन्तिम स्थिति तभी प्राप्त होती है जब व्यक्ति पूर्णताके लिए खोज करता है। तभी वह वास्तवमें स्वतन्त्र हो पाता है।

ग्रीन कई एक दृष्टियोंसे हीगेल के विचारोंसे दूर हो जाते हैं और कान्ट के विचारोंके समीप पहुंचते हैं; इसके उदाहरण हैं व्यक्तिगत स्वाधीनता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता सम्बन्धी उनके विचार। इन समस्याओंके विवेचनमें वह हीगेल की अपेक्षा कान्ट के अधिक नजदीक हैं। कान्टकी भांति ग्रीन का विश्वास है कि सदिच्छा ही एक मात्र अच्छी वस्तु है। स्वाधीनता ऋणात्मक नहीं है, वह धनात्मक है। राज्यके विरोधका औचित्य, प्रतिनिधिक-शासनका महत्व, संविधानमें राजाका स्थान, दण्डकी तर्क-संगति आदि प्रश्नोंके बारेमें उनके विचार कान्ट और हीगेल दोनों ही जर्मन लेखकोंके विचारोंसे भिन्न है। पर साथ ही वह राज्यके गौरवकी नैतिक महत्ता पर जोर देते हैं और इस मानेमें वह हीगेल के अनुयायी हैं। पर राज्यके गौरवकी महत्ता पर जोर देनेमें उन्होंने 'जनताकी स्वाधीनता' का बलिदान नहीं किया है।

(२) ग्रीनका राज्य-सिद्धांत. अर्नेस्ट बार्करका कहना है कि ग्रीन के राजनीतिक दर्शनको तीन परस्पर सम्बन्धित प्रमेयों(propositions)द्वारा व्यक्त किया जा सकता है : (१) मनुष्यकी चेतनामें स्वाधीनता पूर्वकल्पित है (human consciousness postulates liberty); (२) स्वाधीनतामें अधिकार निहित है; और (३) अधिकारोंके लिए राज्यकी आवश्यकता है।

ग्रीन की स्वाधीनता-सम्बन्धी धारणा पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं और अब दुबारा उस पर विचार करनेकी जरूरत नहीं है। इतना ही कहना काफी है कि स्वाधीनताके बारेमें ग्रीन का सिद्धान्त काण्ट का स्वतन्त्र नैतिक इच्छाका सिद्धान्त है जिसके बल पर मनुष्य हमेशा अपने आपको एक लक्ष्य माननेकी इच्छा करता है (३ : ३२)। ग्रीन का विश्वास है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सदस्योंके लिए आत्मानुभूतिका जीवन सम्भव और सुगम बनानेका सर्वोत्तम साधन यह है कि राज्य व्यक्तियों के लिए निष्पक्ष और सब पर एक समान लागू होने वाले अधिकारोंकी व्यवस्था करे। उनका कहना है कि अधिकार मनुष्यके आन्तरिक विकासके लिए आवश्यक बाहरी परिस्थितियां हैं। हर विवेकशील व्यक्तिका सबसे बड़ा अधिकार यह है कि वह वैसा बन सके जैसा मनुष्यको होना चाहिए, 'अपने अस्तित्वकी विधिको पूरा करते हुए उसे जो कुछ होना है' वह हो सके(२९.१७)। दूसरे सभी अधिकार इसी अधिकारसे प्राप्त होते हैं। समाजसे पूर्व अधिकारोंके अर्थमें प्राकृतिक अधिकारोंकी कल्पना अर्थहीन है; पर नैतिक अथवा आदर्श अधिकारोंके रूपमें प्राकृतिक अधिकार सारपूर्ण हैं। 'जिस उद्देश्यकी पूर्ति मानव-समाजका लक्ष्य है, उसके लिए ये अधिकार आवश्यक हैं (२९.३४)।' केवल वैधिक स्वीकृति ही अधिकारोंका आधार नहीं है। यह आधार सार्वजनिक नैतिक चेतना है। अधिकारोंका सम्बन्ध विधिमें न होकर नैतिकता से अधिक है। मनुष्यके नैतिक लक्ष्यकी सिद्धिके लिए अधिकार आवश्यक शर्तें हैं। अर्थात् अधिकारोंके बगैर मनुष्य अपने नैतिक लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर सकता।

किसी भी व्यक्तिको कोई भी अधिकार तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि वह समाजका एक सदस्य न हो और वह सदस्य ऐसे समाजका हो जिसके सदस्य सार्वजनिक कल्याणको आदर्श कल्याण मानते हों, ऐसा कल्याण 'जो उनमेंसे प्रत्येक व्यक्तिका कल्याण हो (२९.४४)।' इसका मतलब यह है कि अधिकार केवल ऐसे व्यक्तियोंके बीच हो सकते हैं जो नैतिक दृष्टिसे मनुष्य हों (२९ ४४)। एक सच्चा नैतिक मनुष्य अधिकारोंको पाकर सार्वजनिक कल्याणको अपना कल्याण मानता है। अधिकारोंका नियमन पारस्परिक स्वीकृतिसे होना चाहिए।

आदर्शवादी परम्पराके अनुसार ग्रीन राज्यको प्राकृतिक और आवश्यक मानते हैं। यह एक नैतिक संस्था है जो व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए जरूरी है। इसका मूल उद्देश्य अधिकारोंको लागू करना है, यदि आवश्यक हो तो बलका उपयोग करके भी। राज्यको शक्तिका उपयोग करनेका न्यायपूर्ण अधिकार है क्योंकि राज्य लोगोंकी सामान्य इच्छाको अभिव्यक्त करता है। ग्रीन सार्वजनिक उद्देश्यकी

लोकचेतनाको सामान्य इच्छा मानते हैं । 'शक्ति नहीं वरन् इच्छा ही राज्यका आधार है।'

ग्रीनके अनुसार राज्य न तो परमपूर्ण है और न सर्वशक्तिमान । वह भीतर और बाहर दोनों ओरसे सीमित है। भीतरसे वह इस बातसे सीमित है कि विधि केवल बाहरी कामों और अभिप्रायोंसे ही सम्बन्ध रख सकती है, प्रेरक वृत्तियोंसे नहीं। इसलिए राज्य प्रत्यक्ष रूपमें अच्छे जीवनकी उन्नति नहीं कर सकता। वह केवल अच्छे जीवनके मार्गकी बाधाओंको ही दूर कर सकता है। राज्य इस बातसे भी सीमित है कि कुछ खास परिस्थितियोंमें राज्यका प्रतिरोध करना व्यक्तिका कर्त्तव्य हो जाता है। ग्रीन यह भी मानते हैं कि राज्यके भीतर विभिन्न स्थायी सघोंकी अपनी-अपनी अधिकार-व्यवस्था होती है और उनमें केवल समन्वय कायम करना ही राज्यका अधिकार होता है। जैसा अर्नेस्ट बार्कर कहते हैं: 'राज्य हर सबकी आन्तरिक अधिकार-व्यवस्थाका और साथ ही हर अधिकार-व्यवस्थाका शेष व्यवस्थाओंके साथ समायोजन करता है (३ : ४३)।' ग्रीन का कहना है कि समायोजन स्थापित करनेके इस अधिकारके कारण ही राज्यको अन्तिम अधिकार-सत्ता प्राप्त है। बहुल-वादी सिद्धान्तको पूरी तरहसे न अपनानेके कारण ग्रीन की आलोचना मैकाइवर इन शब्दोंमें करते हैं - 'शुरूसे अन्त तक ग्रीन इसी बात पर विचार करते हैं कि जिन परिस्थितियोंमें व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक प्राणीके रूपमें कार्य कर सकता है, उन परिस्थितियोंको सुलभ बनानेके लिए राज्य क्या कर सकता है और उसे क्या करना चाहिए। उनके चिन्तनके आधार-स्तम्भ राज्य और व्यक्ति ही बने रहते हैं। वह इस बात पर विचार नहीं करते कि राजनीतिक विधिसे भिन्न अन्य साधनोंसे सम्पन्न जो दूसरे संघ हैं उनके अस्तित्वका व्यक्ति और राज्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उन्होंने इसका विचार किया होता तो उन्हें यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि राज्यको क्या करना चाहिए, बल्कि प्रश्न यह भी है कि राज्यको क्या करनेकी अनुमति है; क्योंकि राज्य दूसरी शक्तियोंसे घिरा हुआ है, दूसरे किस्मके सगठनोंसे सीमित है जो अपने ढगसे अपने उद्देश्योंको प्राप्त कर रहे हैं। ग्रीन सम्प्रभुताकी आधुनिक समस्याके शुरू के किनारे तक ही पहुचकर—उसे छूकर ही रह जाते हैं, उसका हल नहीं दे पाते (५५ : ४१)।'

ग्रीन के मनमें राज्य बाहरसे अन्तर्राष्ट्रीय विधिसे सीमित है। काण्ट की भाँति ग्रीन भी मानव जातिके विश्व बन्धुत्व पर विश्वास करते हैं और इस दृष्टिसे वह हीगेल से भिन्न हैं। मानवकी तरह स्वतन्त्र जीवन बितानेके मनुष्यके अधिकारोंमें सारी मानवताको एक माननेकी और मनुष्यको एक ही समाजका सदस्य माननेकी धारणा निहित है।

(३) **युद्ध.** (२९), उपर्युक्त विचारोंके कारण युद्धके प्रति ग्रीन का दृष्टि-कोण हीगेल और उनके जर्मन शिष्योंके दृष्टिकोणसे बिल्कुल भिन्न है। ग्रीन का कहना है कि युद्ध कभी भी एक पूर्ण अधिकार नहीं है; अधिकसे अधिक वह एक सापेक्ष

अधिकार है। वह मनुष्यके स्वाधीन जीवन बितानेके अधिकारका अतिक्रमण करता हैं। पहले की गयी एक बुराई या अपराधको ठीक करनेके लिए एक दूसरी बुराई अपराधके रूपमें युद्धका औचित्य माना जा सकता है अर्थात् युद्ध एक "निर्दय आवश्यकता" है। पर फिर भी है वह एक बुराई या अपराध ही। नैतिक दृष्टिसे युद्ध हत्या नही है। सैनिक हत्यारा नही हैं। यदि हम यह कहें कि युद्ध छेडनेवाले हत्यारे हैं तो कठिनाई यह है कि हम पक्की तौर पर नहीं कह सकते कि युद्ध छेडनेकी जिम्मेदारी किन-किन पर है।[1] यदि हम यह तय भी कर ले कि युद्धकी जिम्मेदारी किन-किन लोगो पर है तो भी यह इतने पक्के तौर पर तय नही हो सकता जितना व्यक्तिगत हत्याओके मामलोंमें होता है। उनके उद्देश्य चाहे जितने स्वार्थ पूर्ण रहे हो, पर न्यायपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि युद्धमें मारे जानेवाले व्यक्तियोंके प्रति उनके हृदयमें दुर्भावना थी।

फिर भी युद्ध एक नैतिक अपराध है। इस दलीलसे कि युद्धमें मारने वालोका अभिप्राय किसी व्यक्ति विशेषकी हत्या करना नही होता, अधिकारका अतिक्रमण किसी प्रकार भी कम गम्भीर नही हो जाता। युद्धके कारण हुई मृत्युको किसी जगली जानवर द्वारा की गयी हत्या या बिजली गिरने जैसी दैवी आपत्ति द्वारा हुई मौतके समान नही कहा जा सकता। युद्धमे होनेवाली मौते स्पष्टत मनुष्य द्वारा होती हैं और जानबूझ कर की जाती है।

युद्धके समर्थनमें एक दूसरी दलील यह दी जाती है कि सभ्य जातियोंके बीच होने वाले युद्धोमें सैनिक स्वेच्छा-पूर्वक मौतका खतरा स्वीकार करते है और इसलिए, स्वतन्त्र जीवनके अधिकारका अतिक्रमण नही होता। ग्रीन इस दलीलका खण्डन करते है। ग्रीन का कहना है कि व्यक्तिको इस बातका अधिकार नहीं है कि वह अपने जीवित रहनेके अधिकारको चाहे तो कायम रखे और चाहे छोड दे। (इसलिए आत्महत्या सब कही निन्दनीय मानी गयी है)। सेनामें चाहे लोग अपने मनसे भरती हुए हो या अनिवार्य भरतीके आधार पर भरती हुए हो, पर राज्य युद्धके द्वारा कुछ लोगो पर जीवनका खतरा बलात् लादता है। युद्धका मतलब हैं, मानव जीवनका सहार जो मनुष्यो द्वारा जानबूझ कर किया जाता हैं।

कभी-कभी युद्धके समर्थक युद्धके पक्षमें एक तीसरी दलील यह देते हैं कि पार्थिव जीवनके अधिकारका अतिक्रमण नैतिक-जीवनकी आवश्यकताओमे उत्पन्न अधिकार द्वारा किया जा सकता है। दूसरे शब्दोमे कभी-कभी यह कहा जाता है कि कुछ विशेष परिस्थितियोंमें युद्ध न करना युद्ध करनेसे भी बुरा होता है। ग्रीन इस तर्क पर विश्वास नही करते। उनका कहना है कि इस तर्क द्वारा केवल युद्धकी जिम्मेदारी उन लोगो पर लाद दी जाती है जो उन परिस्थितियोंके लिए जिम्मेदार

---

[1] द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त होनेके बाद विजयी मित्र राष्ट्रोंने युद्ध-अपराधियों पर मुकदमें चलाये और उन्हे दण्ड दिया है।

हों। पर युद्ध तो फिर भी एक वैसी ही बुराई और अपराध बना रहता है। युद्धमें मानवजीवनका संहार करना अपराध है, अपराध करने वाले चाहे जो भी हों।

कुछ लोग युद्धके समर्थनमें एक चौथी दलील यह देते हैं कि युद्धमें मनुष्यके कुछ खास गुणोंका विकास होता है जैसे वीरता और आत्मबलिदानका। यह कहा जाता है कि युद्धसे ही मनुष्यके नैतिक विकासके उपयुक्त सामाजिक परिस्थितियां बनायी रखी जा सकती हैं। इस प्रकार इन लोगोंका तर्क है कि युद्ध मानव-प्रगतिके लिए आवश्यक है। इस तर्कके बलको मानते हुए भी ग्रीन का कहना है कि युद्धमें जीवनका संहार हमेशा एक अपराध है। फ्रांसमें सीजरके विजय अभियानों और भारतमें अंग्रेजी युद्धके बाद अवश्य ही लाभदायक परिवर्तन हुए, पर ग्रीन का कहना है कि यह परिवर्तन अन्य साधनोंसे भी लाये जा सकते हैं। युद्ध मनुष्यके अधिकारोंका अतिक्रमण करता है। यदि मनुष्यका अदृश्य कल्याण केवल युद्ध द्वारा होता हो तो इसका कारण मनुष्यकी दुष्टता ही है। ग्रीन यह बात मानने को तैयार है कि युद्ध द्वारा मानव-जातिका कल्याण करनेकी इच्छा युद्धके अपराधको कम कर देती है, फिर भी युद्ध अपराध ही रहता है। वह कहते हैं कि वास्तविकता तो यह है कि युद्धमें भाग लेने वाले अधिकांश लोग इन प्रशंसनीय उद्देश्योंसे प्रेरित होकर युद्ध नहीं करते। बहुधा उनके उद्देश्य स्वार्थ पूर्ण होते हैं। मनुष्य जातिकी सामान्य स्वार्थ-परता ही युद्धका कारण है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका निचोड़ यह निकलता है कि यदि राज्य अपने सिद्धान्तके प्रति सच्चा है तो वह दूसरे राज्योंके साथ संघर्ष करके मनुष्यके रूपमें प्राप्त अधिकारोंका उल्लंघन नहीं करेगा। राज्यकी पूर्ण उत्कृष्ट स्थितिमें युद्ध उसका अनिवार्य उपकरण नहीं है। राज्यकी अपूर्ण स्थितिमें ही युद्ध उसका अनिवार्य उपकरण हो सकता है, पर जैसे-जैसे राज्य अधिकाधिक रूपमें पूर्ण होता जायगा वैसे-वैसे युद्धकी आवश्यकता कम होती जायगी।

अतः हम युद्धके समर्थकोंकी इस एक और दलीलको स्वीकार नहीं करते कि राज्योंके बीच संघर्ष अनिवार्य हैं। एक राज्यको होने वाले लाभसे किसी दूसरे राज्यको हानि होना जरूरी नहीं है। किसी निश्चित क्षेत्रमें रहने वाले सभी लोगोंको विकासका पूरा अवसर देनेका उद्देश्य जितना ही अधिक कोई राज्य पूरा करेगा उतना ही अधिक आसान यह काम दूसरे राज्योंके लिए होता जायगा। और जितनी मात्रामें सभी राज्य इस उद्देश्यकी पूर्ति करेंगे उसीके अनुपातसे संघर्षका खतरा समाप्त होता जायगा। युद्ध इसलिए नहीं होते कि राज्योंका अस्तित्व है, बल्कि इसलिए कि सार्वजनिक अधिकारोंके सन्तुलन और संरक्षणका कर्तव्य राज्य पूरा नहीं करते। इस प्रकार ग्रीन इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि युद्ध कर मनुष्य जातिके प्रति अपराध करना किसी भी राज्यके लिए राज्यके नाते किसी भी हालतमें उचित नहीं ठहराया जा सकता। भले

ही कुछ विशेष परिस्थितियोंमें युद्ध करना किसी राज्य विशेषके लिए कुछ अंशों तक उचित हो। युद्धको इस आधार पर उचित नहीं ठहराया जा-सकता कि वह-राज्योंके अस्तित्वका आवश्यक परिणाम है। इस दावेका कोई भी आधार नहीं है कि किसी राज्यको वह काम करनेका अधिकार है जो वह अपने स्वार्थोंकी सिद्धिके लिए आवश्यक समझता है और वह भी इस बातकी परवाह किये बिना कि दूसरे लोगों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। युद्ध, अपने सर्वोत्तम रूपमें भी, केवल एक आपेक्षिक अधिकार है।

युद्धके समर्थनमें छठा और अन्तिम तर्क यह है कि ग्रीनका विश्व-बन्धुत्व-वाला दृष्टिकोण देश प्रेम और राष्ट्रीय जीवनको नष्ट कर देगा और एक विश्व-व्यापी साम्राज्यको आवश्यक बना देगा। इस तर्कका उत्तर ग्रीन यह देते हैं-कि शुद्ध जनभावनाको राष्ट्रीय होना ही चाहिए, पर जितना ही अधिक कोई जाति-एक सच्चे राज्यका रूप धारण करती है उतने ही अधिक मार्ग उसकी-राष्ट्रीय भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए मिलते हैं और ये- मार्ग अन्य जातियों-के साथ संघर्षसे भिन्न दूसरे मार्ग होते हैं। यह कहना बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है कि दूसरी जातियोंकी अपेक्षा अपनी जातिको अधिक प्रबल सैनिक शक्तिके रूपमें देखने की इच्छा ही देश-भक्तिका सच्चा स्वरूप है। जिस हद तक प्रत्येक राष्ट्रके भीतर अधिकारोंकी पूर्ण व्यवस्था स्थापित हो जाती है, उसी हद तक राष्ट्रोंके बीच संघर्षके अवसर कम होते जाते हैं।

ग्रीन यह मानते हैं कि राष्ट्रीयता एक अच्छी चीज है। उनका विश्वास है कि जीवन और जीवनके कार्य-व्यापार पर अधिकार प्राप्त करनेके लिए यह जरूरी है-कि मानव-जातिके प्रेमको किसी भूखण्ड जाति या राष्ट्र विशेषमें निर्दिष्ट-(particularized) किया जाय। पर इस बातका कोई कारण नहीं मालूम होता-कि यह स्थानीय या राष्ट्रीय-प्रेम दूसरी जातियोंके प्रति द्वेषमें या उनसे स्वयं या अपने प्रतिनिधियोंके द्वारा युद्ध करनेकी इच्छामें बदल जाय। जिस हद तक राज्योंका गठन ठीक प्रकार हो जाता है, उस हद तक-देश-भक्तिको सैनिक रूप धारण करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। देशभक्तिको सैनिकवाद समझना उस युगका अवशेष है जब राज्योंका गठन पूर्ण नहीं था। देशभक्ति और सैनिकवाद किसी प्रकार भी एक नहीं है। स्थायी सेनाएं इस बातका सबूत हैं कि मानव-जातिका राजनीतिक-जीवन- अभी पूर्णरूपेण व्यवस्थित नहीं है। ये सेनाएं राज्योंकी-किसी एक व्यवस्थाके विकासके कारण नहीं हैं बल्कि उन परिस्थितियोंके-कारण-हैं जो उस व्यवस्थाकी त्रुटियोंको प्रकट करती हैं।

हमने ग्रीन द्वारा युद्धकी की गयी आलोचनाका विस्तारसे वर्णन इसलिए किया है कि यह आलोचना 'उनके भाषणके सर्वोत्तम अंशोंमें से एक है-(३:४६)।' और हीगेलके साथ उनके विभेदको स्पष्ट करती है जिनका कहना था कि 'युद्धकी स्थिति राज्यके व्यक्तित्वकी सर्वशक्तिमत्ताको प्रकट करती है।'

(४) राज्यका कार्य (State Action). जैसा पहले कहा जा चुका है, ग्रीनने राज्यके कार्यकी धारणा नकारात्मक रूपमें की है। सुन्दर जीवन अधिकांश स्वतः अर्जित जीवन होता है। राज्य प्रत्यक्ष रूपमें उसकी उन्नति नहीं कर सकता। राज्य केवल यह कर सकता है और यही उसे करना चाहिए कि करने योग्य कामोंके करनेमें मनुष्यके मार्गमें जो बाधाएं आती हों उनको दूर करे। अच्छा काम तभी अच्छा होता है जब वह अपने मनमें एक निरपेक्ष उद्देश्यसे किया जाय। दबावके कारण किये गये कार्योंका नैतिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। इसलिए राज्यको केवल यह करना चाहिए कि वह ऐसे कार्योंको करावे जिनका किया जाना समाजके भीतर सुन्दर जीवनके लिए आवश्यक हो, वह कार्य चाहे जिस प्रेरक वृत्तिसे किये जायें।

अपने समयकी व्यावहारिक परिस्थितियों पर इतना सिद्धान्त लागू करते हुए ग्रीन अज्ञान, नशाखोरी, और भिक्षावृत्तिको मानव-शक्तिकी पूर्ण अभिव्यक्तिमें बाधक मानते हैं। इन बाधाओंको दूर करनेके लिए वह काफ़ी बड़े क्षेत्रमें राज्यके सक्रिय होनेका समर्थन करते हैं। प्राकृतिक अधिकारों या निहित स्वार्थों पर आधारित तर्कोंके फलस्वरूप ग्रीन अपनी विचारधारासे विचलित नहीं होते। और न वह इस सिद्धान्त पर आधारित तर्कसे विचलित होते हैं कि मनुष्यकी स्वतंत्र इच्छाको इस बातका पूरा अवसर मिलना चाहिए कि वह 'निरक्षरता, नशाखोरी और दरिद्रता पर विजय प्राप्त कर, अपना छुटकारा करले (२ : ५१)।' ग्रीन यह समझते हैं कि स्वतंत्र इच्छा जीवनकी बाहरी परिस्थितियोंसे मुक्त या उनके ऊपर नहीं है; और इसलिए स्वतंत्र इच्छा अपनी स्वतंत्रताका उपयोग तभी कर सकती है जब इन परिस्थितियोंकी समुचित व्यवस्था हो जाय। इस धारणा पर जोर देनेकी आवश्यकता इसलिए है क्योंकि आदर्शवादकी कभी-कभी यह आलोचना होती है कि वह दकियानूस रूढ़िवाद (hide-bound conservatism) का औचित्य सिद्ध करनेकी एक आडम्बरपूर्ण चेष्टा है। सेबाइन लिखते हैं : "ग्रीन ने उदारवादी सिद्धान्तमें यह बढ़ाया कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उत्तरदायित्वके लिए आवश्यक है कि पहले सामूहिक कल्याण का कार्य हो।

ग्रीन द्वारा दिये गये उदाहरणमें अनिवार्य शिक्षा माता-पिता पर बच्चेके कल्याणके लिए दबाव डालती है। मद्य-निषेधमें हर व्यक्ति और सब व्यक्तियों पर, हर व्यक्ति और सब व्यक्तियोंके कल्याणके लिए, दबाव डाला जाता है।

(५) दण्ड (Punishment). दण्डके बारेमें ग्रीन की विवेचना उनके राज्य कार्य सिद्धान्तका एक अभिन्न अंग है। अपराधीकी इच्छा, जो समाज-विरोधी है, स्वतंत्रता विरोधी शक्ति है। ऐसी हालतमें दण्ड उस समाज-विरोधी शक्तिका विरोध करने वाली शक्ति है। दण्डका सम्बन्ध अपराधीके किसी पिछले नैतिक अपराधसे नहीं होना और न उसका सम्बन्ध उसके भावी नैतिक सुधारसे होना है (२ : ४८)। दण्डकी नाप-तौल नैतिक अपराधके अनुसार करना असम्भव है।

राज्य न तो दण्ड द्वारा होने वाले कष्टकी नाप-जोख और न अपराधके नैतिक दोषकी नाप-जोख कर सकता है। यदि राज्यके लिए यह सम्भव भी हो कि वह दण्डमें होने वाले क्लेश, और अपराधकी अनैतिक दुष्टताके बीच अनुपात तय कर सके तो हर अपराधके लिए भिन्न प्रकारका दण्ड देना होगा। इसका मतलब होगा दण्ड सम्बन्धी सभी सामान्य नियमोंका अन्त। इसके अतिरिक्त दण्ड और नैतिक अपराधके बीच अनुपात तय करनेका मतलब यह है कि राज्यका काम अपराधको अपराधके नाते दण्डित करना है। ग्रीनका विचार है कि यह राज्यका कार्य नहीं है। यदि राज्य अनैतिकता (शुद्ध) को ही दण्डित करने लगे तो उससे निरपेक्ष नैतिक प्रयत्नों पर रोक लग जायगी। अपराधके लिए दण्ड 'न तो अपराधमें छिपी हुई तथा-कथित अनैतिक दुष्टताके अनुरूप होता है, न हो सकता है और न होना चाहिए (३ : १९५)।'

इसी प्रकार दण्डका मुख्य उद्देश्य अपराधीका नैतिक सुधार करना नहीं है। सभी सच्चे सुधार मनुष्यकी अन्तरात्मामें ही होते हैं। अतः भारीसे भारी दण्ड अपराधीकी इच्छाके विरुद्ध उसका सुधार नहीं कर सकता। राज्य अधिकसे अधिक यही कर सकता है कि वह अपराधीकी सुधारकी इच्छाको फिरसे जागृत कर दे। वास्तवमें दण्ड इसलिए दिया जाता है कि इच्छाके स्वतंत्र रूपसे कार्य करनेके लिए जिन बाहरी परिस्थितियोंकी जरूरत होती है वे बनी रहें। आन्तरिक इच्छाके साथ दण्डका कोई मेल नहीं बिठाया जाता (३ : ४९)।' दण्डका अन्तिम उद्देश्य यह है कि 'समाजके हर सदस्यकी नैतिक इच्छाके लिए, काम करनेकी स्वाधीनता सुरक्षित रहे (३ : ४९)।' इसका मतलब यह है कि अपराधी द्वारा जिस अधिकारको उल्लंघन किया गया हो उसकी महत्ताके अनुसार अपराधीको दण्ड दिया जाना चाहिए। अप्रत्यक्ष रूपमें दण्ड अपनी दुराग्रह पूर्ण इच्छाका सुधार करनेके लिए अपराधीको प्रेरित कर सकता है। "पर इस दृष्टिसे भी दण्ड केवल 'बाधाओंको दूर करना' ही है, क्योंकि जिस बाधाका विरोध अपराधी करता है वह केवल बल ही नहीं, बल्कि एक इच्छा है (३ : ५०)।"

ग्रीन इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि दण्डका मूल उद्देश्य 'अपराधीको क्लेश पहुंचानेके लिए ही दण्ड देना नहीं है, अपराधीको दुबारा अपराध करनेसे रोकना भी मुख्य उद्देश्य नहीं है, मुख्य उद्देश्य है अपराधके बारेमें ऐसे लोगोंके दिमागोंमें भय पैदा कर देना जिनमें ऐसा अपराध करनेकी प्रवृत्ति हो (३ : १९२)।' इसका मतलब यह हुआ कि दण्डका प्रधान उद्देश्य, भविष्यमें अपराधको रोकना है। इस उद्देश्यकी सिद्धिका साधन है जनताके दिमागमें अपराधके बारेमें इतना भय भर देना जितना अपराधका निवारण करनेके लिए जरूरी हो।

(६) सम्पत्ति (Property). अन्य अनेक प्रश्नोंकी तरह सम्पत्तिके प्रश्न पर भी ग्रीन अपने समयकी अपेक्षा अधिक उदारवादी हैं। वह व्यक्तिगत सम्पत्तिका न तो हर पहलूसे समर्थन करते हैं और न उसकी शुरूसे आखिर तक

आलोचना ही करते हैं। इस प्रकार आधुनिक मायामें न तो वह-व्यक्तिवादी हैं और न समाजवादी। वह आमतौर पर सम्पत्तिका समर्थन इस आधार पर करते हैं कि मनुष्यके व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिके लिए सम्पत्ति अनिवार्य है। सम्पत्ति मनुष्यके स्वाधीन जीवनके अधिकारका सहज परिणामी (corollary) है। उनका कहना है कि हर व्यक्तिको सम्पत्ति पैदा करनेका मौका मिलना चाहिए क्योंकि हर-व्यक्तिमें सामान्य सामाजिक कल्याणमें भाग लेनेकी शक्ति होती है। चूंकि व्यक्तियोंमें यह सामर्थ्य एक-सी नहीं होती, इसलिए सम्पत्ति भी असमान होनी चाहिए। विभिन्न व्यक्तियोंको पूरे समाजके जीवनमें विभिन्न कर्तव्य पूरे करने होते हैं और सम्पत्तिकी असमानता इसकी एक आवश्यक शर्त है। पर जब कुछ लोग सम्पत्तिका संग्रह इस ढगसे करें कि दूसरे लोगोंकी इच्छाओंकी पूर्तिमें गम्भीर रूपसे बाधा पड़ती हो तब राज्यको दखल देना चाहिए और अवस्था सुधारनी चाहिए। इस आधार पर ग्रीन व्यक्तिगत भू-सम्पत्तिका सीमा-बन्धन उचित मानते हैं और पारिवारिक व्यवस्थाओं (family settlements) का विरोध करते हैं। ग्रीनका आदर्श है, छोटे-छोटे भूस्वामियोंका वर्ग जो अपने खेत स्वयं जोतते हों। राज्यको अनुपार्जित वृद्धिको अपने काममें नहीं लाना चाहिए (The State is not to appropriate unearned increment)। ग्रीन उत्तराधिकार और व्यापारकी स्वाधीनताका समर्थन करते हैं।

(७) प्रतिनिधि-सरकार और व्यावहारिक राजनीति. काण्ट और हीगेलके विपरीत, ग्रीन प्रतिनिधि-सरकारमें पक्का विश्वास रखते थे और व्यापक मताधिकारके समर्थक थे। राजनीतिमें वह एक सक्रिय उदारवादी थे, केवल शास्त्रीय पण्डित नहीं। 'मध्य वर्ग और अल्पसंख्यक धर्मावलम्बियोंके प्रति उनको हमेशा सक्रिय सहानुभूति रही। इसके अलावा उन्हें शिक्षा और दुराचारियोंके सुधार (licensing reform) में बहुत अधिक रुचि थी......। ऑक्सफोर्डकी राजनीतिमें उन्होंने ऐसा भाग लिया था कि उनका नाम विश्वविद्यालयमें अनुकरणीय उदाहरण बन गया है। राष्ट्रीय राजनीतिमें वह जॉन ब्राइटकी विचारधारा के उदारवादी थे। १८६७ के बाद वह राजनीतिमें बराबर भाग लेते रहे(३:२१)।'

(८) आलोचना और मूल्यांकन (Criticism and Appreciation). आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाने वालोंमें ग्रीन सबसे अधिक गम्भीर मालूम पड़ते हैं। विस्तारमें जाने पर ग्रीनसे हमारा मतभेद होना है पर सामान्य रूपमें उनके सिद्धान्त आज भी खरे हैं। सम्भव है, पूंजी-मूलक सम्पत्तिका समर्थन राज्य द्वारा अनुपार्जित वृद्धिका अपने काममें लाये जानेका विरोध तथा दण्डके निरोधात्मक (deterrent) सिद्धान्त पर उनका जोर देना हमें आज उचित न मालूम हो 'पर किन्हीं विशेष परिस्थितियोंका जो विश्लेषण उन्होंने किया था किसी नीति विशेषके जो सुझाव उन्होंने दिये, उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण वे सिद्धान्त हैं जिनकी स्थापना उन्होंने की। यदि उनके सिद्धान्त सत्य हैं तो हर युग अपनी आवश्यकताओंके अनुसार

उनकी प्रगतिशील व्याख्या कर सकता है।' व्यक्तिके महत्व पर उनका दृढ़ विश्वास, व्यक्तिकी स्वाधीनता पर उनकी गहरी आस्था, उनका यह विश्वास कि व्यक्तिका कल्याण सामाजिक कल्याणका एक अभिन्न अंग है, राज्यको रहस्यमयी उच्चता पर पदासीन करनेमें उनकी अस्वीकृति, विश्व-बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी स्वीकृति, नैतिक कृत्योंकी आत्मप्रेरणाको जीवित रखनेके लिए राज्यकी शक्तिका परिसीमन करनेकी उनकी उत्सुकता, अधिकारों पर जोर देना, उनका यह विचार *कि सम्पत्ति व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिका एक साधन है* और उनका यह स्वीकार करना कि अतिवादी परिस्थितियोंमें व्यक्तिको प्रतिरोधका अधिकार है— यह सब आज भी उतना ही ठीक है जितना उस समय था जब ग्रीनने अपने भाषण दिए थे (१८७९-८०)।

राज्यकी आदर्शवादी व्याख्याकी अनेक और विभिन्न आलोचनाएं की गयी हैं। यद्यपि उनमें से अनेक आलोचनाओंमें सचाई है फिर भी हमारा विश्वास है कि आदर्शवाद इन आलोचनाओंके बावजूद अपनेको कायम रख सकता है।

आदर्शवाद : आलोचना और समर्थन. (१) आदर्शवादके आलोचकोंका कहना है कि यह एक भाव-सूक्ष्म और आध्यात्मिक सिद्धान्त है और जीवनकी वास्तविकताओंका विवेचन नहीं करता। आलोचकोंका कहना है कि आदर्शवाद की धारणाएं जीवनकी वास्तविक परिस्थितियोंसे बहुत दूर हैं। उदाहरणार्थ विलियम जेम्स आदर्शवादी सिद्धान्तको एक ऐसा बुद्धिवादी दर्शन कहते हैं 'जो अपनेको धार्मिक कह सकता है पर जो ठोस तथ्यों, सुखों और दुखोंके निश्चित सम्पर्कसे *बिल्कुल अलग रहता है। यह एक शुद्ध बौद्धिक सिद्धान्त है।'* आदर्शवाद व्यक्तिको 'केवल एक विवेकशील प्राणी मानता है और मानव-स्वभावके दूसरे पहलुओं पर कोई ध्यान नहीं देता। आदर्शवाद द्वारा, राज्यको केवल चेतन विवेक (conscious reason) या इच्छा बताया गया है, और आदत, अनुकरण-भावना तथा आवेश आदि तत्वोंकी बिल्कुल ही अवहेलनाकी गयी है।

यह सही है कि आदर्शवाद विचारोंकी शक्तिको बहुत ऊँचा स्थान देता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह केवल भ्रम पर ही आधारित है। मनुष्यकी बुद्धिको अस्वीकार करके केवल उसके आवेशों और तात्कालिक अनुभवोंका सहारा लेना, जैसा कि कुछ आधुनिक लेखक करते हैं, मनुष्यको नीची श्रेणीके प्राणियोंकी स्थितिमें गिरा देना है। हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि हमारे सामाजिक हितों और हमारी सामाजिक भावनाओं तथा अभिरुचियोंका उद्गम आदिम प्रेरणाओं तक खोजा जाय। पर वहीं पर रुक जाना एक ऐसी नींव रखना है जिस पर कोई दीवाल न उठायी जाय। निस्सन्देह मनुष्यके महान् सामाजिक प्रश्नोंकी आधुनिक मनोवैज्ञानिक विवेचनामें बहुत कुछ प्रशंसनीय है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम विवेकको तिलांजलि देकर सोलह आने भावनाओं और आवेगोंके अधीन होनेको तैयार हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि विकास क्रममें जो उच्चतर (तर्क या

विवेक) है उसीको निम्नतरकी व्याख्या करनी चाहिए, न कि उल्टा ही। व्यवस्थित विचारोंकी शक्तिको अस्वीकार करके मनोवैज्ञानिक हमें एक विचित्र 'अज्ञेयतावाद (agnosticism)' की ओर ले जाता है। उसकी स्थिति तुरन्त निराशावादी हो जाती है।

हम स्वीकार करते हैं कि आदर्शवादियोंके सिद्धान्तका अधिकतर अंश भाव-सूक्ष्म और आध्यात्मिक है। वह व्यावहारिक तत्वोंको एक सैद्धान्तिक आधार प्रदान करता है। राजनीति-शास्त्र एक आदर्श-मूलक विज्ञान है और इसलिए यदि वह हमें आदर्शनीतियां और आदर्श मानदण्ड नहीं देता तो अपने कर्तव्यको पूरा नहीं करता। वह केवल एक वर्णनात्मक विज्ञान नहीं है। इस बारेमें गार्नर लिखते हैं: 'नीतिशास्त्रकी तरह राजनीति-शास्त्र भी इस प्रश्न पर विचार करता है कि क्या होता है और क्या होना चाहिए। किसी वस्तुका असली स्वरूप तो वह है जो उसके पूर्ण विकासके बाद होता है, इसलिए राजनीतिका दार्शनिक राज्यके आदर्श रूप पर भली प्रकार प्रकाश डालकर उसकी काल्पनिक महिमा और पूर्णताकी विवेचना कर सकता है (२३:२३८)।' तथाकथित यथार्थवादी बहुधा अपने सङ्कुचित दायरेके बाहर देख ही नहीं पाता। आदर्शवाद आलोचक वर्तमान अपूर्ण राज्य पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। आदर्शवादीमें इतना विश्वास और इतनी कल्पना-शक्ति होती है कि वह भविष्यमें एक आदर्श राज्यकी आशा करता है। उसका आदर्श जड़ आदर्श न होकर सजीव, सक्रिय आदर्श है और उसमें परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बननेकी क्षमता है। 'विचारोंके हाथ-पैर होते हैं।' उनमें जीवन होता है, प्राण-शक्ति होती है।

यथार्थवादी अधिकतर केवल आदर्शवादीकी आलोचना ही करता है। उसकी रचनात्मक देन बहुत कम है। एक राजनीतिक दार्शनिकका काम केवल यह बतलाना नहीं है कि व्यवस्थित समाजके सदस्योंके रूपमें मनुष्य एक दूसरेके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। उसे यह भी बतलाना चाहिए कि उन्हें किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिए। यथार्थवादियोंकी आलोचना करते हुए हेनरी जोन्स (Henry Jones) ठीक ही कहते हैं, 'वे अपना कोई सिद्धान्त नहीं प्रतिष्ठित करते। वे केवल आदर्शवादमें त्रुटियां और कमियां गिनाकर और यह दिखाकर कि आदर्शवाद ने कौन-कौन समस्याएं हल नहीं कीं—जो कोई बहुत कठिन काम नहीं है—अपनी डावांडोल स्थिति बनाये रहते हैं (४२ : १३)।'

आदर्शवादी जब यह कहता है कि राज्य विवेक और तर्कपूर्ण इच्छाकी उत्पत्ति है तब वह यह दावा नहीं करता कि राजनीतिक जीवन और राजनीतिक संस्थाएं सावधानीसे सोच-विचार कर बनती हैं। उसके कहनेका मतलब केवल इतना है कि 'युगोंमें होने वाले विकासको देखते हुए यह स्पष्ट है कि मनुष्यका विवेक सदा सक्रिय रहा है, भले ही वह अप्रत्यक्ष और छिपे हुए रूपमें सक्रिय रहा हो।' 'यदि विवेक सक्रिय न रहा होता तो विकासका अन्त सगठित जीवनको एक तर्क संगत

व्यवस्थाके स्थान पर स्वाभाविक प्रेरणाओ, आदेशो और निषेधोका एक ऐसा गड़बड़-घोटाला सम्मिश्रण तैयार हुआ होता जिसका न कोई अर्थ होता, न कोई सम्बन्ध होता और न कोई कारण होता (३ : ८३)।'

आदर्शवादी यह स्वीकार करता है कि विभिन्न दिशाओमे इतनी अधिक प्रगति कर लेनेके बाद आज भी मनुष्य अपने काम बहुधा चैतन्य विवेक द्वारा प्रेरित होकर नही करता। उसके काम बहुधा आदतवश या अनायास किये जाते है। फिर भी आदर्शवादीका कहना है कि तर्क-बुद्धि द्वारा इन कामोकी व्याख्या की जा सकती है। आदर्शवादी चाहता है कि आदत और अनुकरणको विवेकका सहायक बनाया जाय, क्योकि वे विवेकके दास है, उसके स्वामी नही।

(२) जो लोग राज्यके जीवनकी विवेचना करनेमें विवेक और इच्छा के महत्वको स्वीकार करते है वे कभी-कभी ऐसा अनुभव करते है कि आदर्शवाद वास्तविक तत्वोको ही आदर्श मान लेनेकी भूल करता है। आदर्शोको प्राप्त करनेके बजाय वह यथार्थको ही आदर्श मान बैठता है। रूसो और हीगेलमे यह प्रवृति विशेष तौरसे पायी जाती है। हॉब्सन तो आदर्शवादको "रूढ़िवादिताकी एक चाल (the tactics of conservatism)" तक बताते हैं। समाज-सुधारक इसमे हताश होता है, क्योकि ऐसा लगता है कि आदर्शवाद जो जिस रूपमें है उसीके दैवी अधिकारका उपदेश देता मालूम पड़ता है।

यह आलोचना बहुत गलत नही है। अरस्तू दास-प्रथाको आदर्श बताते है, हीगेल युद्धको गौरव प्रदान करते है और ग्रीन अपनी उदार प्रवृत्तियोके साथ पूंजीके व्यक्तिगत स्वामित्वका मेल बिठाते है। हमारा केवल यह कहना है कि आदर्शवाद और रूढ़िवाद (conservatism) में कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। आदर्शवादके आधार पर एक क्रान्तिकारी सामाजिक सुधार योजनाका समर्थन भी उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार रूढ़िवादका। 'सुन्दर जीवनकी बाधाओंको दूर करना' एक इतना व्यापक उद्देश्य है कि उसमें राज्यका विस्तृत कार्य-क्षेत्र समा जाता है। हां, यह जरूर है कि यह बाहरी परिस्थितियो और आदर्शवादी सिद्धान्त का उपयोग करने वाले व्यक्तियोके राग-द्वेष पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

(३) उपर्युक्त आलोचनासे घनिष्ठ रूपमे सम्बन्धित एक दूसरी आलोचना यह है कि आदर्शवादी सिद्धान्तका स्वरूप अत्यधिक नकारात्मक है—विशेषकर राजकीय कार्य-क्षेत्रके सम्बन्धमें। आदर्शवादियोंका कहना है कि राज्य केवल बाहरी कार्योंसे सम्बन्ध रख सकता है, क्योकि वह दबाव डालनेकी शक्तिका उपयोग करता है। वह प्रेरक वृत्तियों (motives) के सम्बन्धमें कुछ नहीं कर सकता। ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे राज्य प्रत्यक्ष रूपमें नैतिकता की उन्नति कर सके। समस्याके इस पहलूका विवेचन करते हुए बोसाके लिखते है : राज्य संयोगवश ही आध्यात्मिक प्रभावोंका आध्यात्मिक रूपमें उपयोग कर सकता है पर बाहरी साधनों द्वारा—खास कर ऐसे बाहरी साधनो द्वारा जिनमे दबाव डाला जाना हो—आध्यात्मिक

उद्देश्योंकी उन्नति करना केवल नाजुक और अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा ही सम्भव है (५. ३२)।'

आदर्शवादके समर्थनमें कहा जा सकता है कि यद्यपि इसमें राज्यके कार्य क्षेत्रका सिद्धान्त ऋणात्मक या नकारात्मक शब्दोंमें व्यक्त किया गया है, पर परिणाम धनात्मक है। राज्यके कार्य-व्यापारके ऋणात्मक स्वरूप पर अधिक जोर देनेका मुख्य कारण है उस आत्म-प्रेरणा या निरपेक्षताको सुरक्षित रखना जिसके द्वारा ही नैतिक कार्य किये जाने चाहिएं। यदि राज्य मनुष्यके सुन्दर जीवनके हितमें प्रत्यक्ष रूपसे कार्य करना शुरू कर दे तो उसका नतीजा यह होगा कि लोग राज्य पर अनुचित रूपसे निर्भर रहने लगेंगे और अपनेको असहाय समझेंगे। फलतः राज्यके कार्यों का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। व्यक्तिवाद व्यक्तिके गौरव-गीत गाता है। यह व्यक्तिको एक ऐसा उद्देश्य मानता है, समाज जिसकी सिद्धिका केवल एक साधन है। समाजवाद और हीगेलवाद बिल्कुल दूसरे छोर पर हैं और राज्यको 'वह रहस्यात्मक महत्त्व देते हैं जो उच्चतम आत्माभिव्यक्तिकी वस्तु है और जिसके द्वारा मनुष्य अपने पृथक् एकाकीपनसे ऊपर उठ जाता है (५: ३३)।' इसके विपरीत अंग्रेजी आदर्शवादियोंने बीचका मार्ग अपनाया है, यद्यपि हमें यह मानना पड़ता है कि ग्रीन और बोसाके दोनोंने ही राजकीय कार्य-व्यापारके शुद्ध नकारात्मक पक्षको बढ़ा-चढ़ाकर कहा है। निम्न कोटिका व्यक्ति और समाज एक उच्च कोटिके व्यक्ति और समाजके लिए साधन है।

(४) बोसाके का कहना है कि आदर्शवादी सिद्धान्तको बहुत सकीर्ण और कठोर बनाया जाता है। आलोचकोंका कहना है कि यह सिद्धान्त प्राचीन यूनानके सीधे-सादे नगर राज्यों पर लागू हो सकता था। क्योंकि उनमें राज्य और समाजके बीच कोई विभेद नहीं किया जाता था। पर आधुनिक युगकी बदली हुई परिस्थितियोंमें राज्य और समाजके बीच सावधानीसे विभेद किया जाना चाहिए और समाजके भीतर स्थायी संघोंको परम्परागत एकात्मवादी सिद्धान्त (monistic theory) द्वारा जो स्थान अब तक प्राप्त रहा है उसकी अपेक्षा अधिक उचित स्थान दिया जाना चाहिए।

हम यह मानते हैं कि अनेक आदर्शवादी, राज्य और समाजके बीच विभेद नहीं कर पाते और उनकी इस असफलताका परिणाम समाजके लिए व्यक्तिका बलिदान होता है। साथ ही हम बहुलवादी सिद्धान्तको भी माननेको तैयार हैं, जो राज्यको समाजके अन्य संघोंके बिल्कुल समान मानता है। यह सही है कि आजकी परिस्थितियां पहलेकी परिस्थितियोंमें भिन्न हैं। पर फिर भी, बोसाके के शब्दोंमें, राज्य विभिन्न संघों और समुदायोंको नीचेसे ऊपर तक एक सूत्र में बांधकर उनमें सन्तुलन स्थापित करने वाला स्रोत है। हम बहुधा राज्यको राजा, सरकार या स्थानीय संस्थाओंके साथ एक रूप करना चाहते हैं। पर राज्य इन तीनोंकी भांति विभाज्य नहीं है (५: २८: २९)।'

एक और दृष्टिसे आदर्शवादको बहुत संकीर्ण कहा जाता है। आदर्शवादके विरुद्ध यह आरोप लगाया जाता है कि वह भौतिक कल्याणको एकदम भुलाकर मनुष्यके नैतिक और आध्यात्मिक हितो पर ही बहुत अधिक जोर देता है। राज्यका उद्देश्य निस्सन्देह सुन्दर जीवन या आत्माओंकी श्रेष्ठता है। पर इसका मतलब यह नही है कि आदर्शवादी इस बातका समर्थन करता है कि राज्य प्रत्यक्ष रूपमें सुन्दर जीवनकी वृद्धि करे। और न इसका यही अर्थ है कि वह व्यक्तिकी भौतिक आवश्यकताओंकी ओरसे बिल्कुल ही आखें मूद ले। इसका उदाहरण ग्रीनका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रीन सामाजिक जीवनकी ठोस वास्तविकताओंके बिल्कुल निकट है।

आदर्शवादको अनम्य या कठोर भी कहा जाता है। आदर्शवादके विरुद्ध यह आरोप लगाने वालोका कहना है कि आदर्शवादी सिद्धान्तके अन्तर्गत सार्वजनिक इच्छा की स्थितिका निश्चय कर सकना अर्थात् यह निश्चय कर सकना कि किसकी इच्छा सार्वजनिक इच्छा है, बहुत कठिन है। बहुलवादी या तो यह कहते है कि सार्वजनिक इच्छाके नामकी कोई चीज होती ही नही या फिर यह दावा करते हैं कि समाजके भीतर हर स्थायी संघकी सार्वजनिक इच्छा और अपना व्यक्तित्व होता है। आदर्शवादी यह माननेसे इन्कार नही करता कि राज्यके अलावा अन्य संघों या समुदायोकी भी अपनी इच्छा या अपना व्यक्तित्व हो सकता है। पर वह इतना जरूर चाहता है कि राज्यको समाजमें अद्वितीय स्थान मिलना चाहिए क्योंकि उसे विशेष प्रकारके कर्तव्य पूरे करने होते हैं।

(५) ऊपर जो कुछ कहा गया है उसे देखते हुए यह जरूरी नही जान पडता कि जोड और मैकाइवर जैसे सहानुभूतिहीन लेखकोंकी आलोचनाओ पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाय।

जोड आदर्शवादको सिद्धान्तत विकृत और तथ्यत असत्य बताते हैं और कहते हैं कि इससे वर्तमान राज्यको वैदेशिक मामलोंमें तथा अधिक अनैतिक एवं अविचार पूर्ण कार्य करनेका खतरनाक अधिकार मिल जायगा।

(क) जोड और मैकाइवर दोनोका कहना है कि आदर्शवादी सिद्धान्तका एक बहुत बडा दोष यह है कि इसमें राज्य और समाजको एकरूप माना जाता है अर्थात् इन दोनोंमें किसी प्रकारका कोई अन्तर नही समझा जाता। जर्मन आदर्शवादियों और ब्रेडले जैसे अंग्रेज आदर्शवादियो पर यह आलोचना जरूर लागू होती है; पर ग्रीन जैसे गम्भीर आदर्शवादियो पर यह आलोचना लागू नही होती। मैकाइवर का तर्क है कि समाजको 'स्थायी बुद्धि (enduring mind)'(५५:४५१) समझा माना जा सकता है पर राज्यको नही। हम इस तर्कको स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं।

(ख) हम जोड के इस तर्कसे सहमत हैं कि व्यक्तिका पूरा विकास राज्यसे पृथक् रहकर नहीं हो सकता—इस कथनका यह अर्थ नही है कि राज्य सर्वशक्तिमान

हैं, पर इनका यह मान लेना भारी गलती है कि सभी आदर्शवादी राज्यको सब कुछ कर सकनेकी शक्ति पर विश्वास करते हैं। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि ग्रीन और बोसाके राज्यके कार्य-क्षेत्रको कितना सकुचित कर देते हैं। जोड यह कहकर कि 'राज्यका अस्तित्व व्यक्तियोंके लिए है, व्यक्तियोंका अस्तित्व राज्यके लिए नहीं हैं', व्यक्ति और राज्यके बीच एक गलत विभेद करते हैं। उद्देश्य और साधनका सम्बन्ध व्यक्ति और राज्यके बीच लागू नहीं किया जा सकता। हीगेलके अतिरिक्त कोई भी अन्य आदर्शवादी राज्यके कल्याणको व्यक्तियोंके कल्याणसे पृथक् और श्रेष्ठ नहीं मानता। पर फिर भी जोड सभी आदर्शवादियोंको एक ही तराजूसे तोलते हैं।

(ग) जोड और मैकाइवर दोनो ही 'यथार्थ' और 'वास्तविक' इच्छाओंके विभेदको सिद्धान्ततः विकृत और व्यवहारतः अयथार्थ मानते हैं। इस आलोचनाके विरुद्ध हम आदर्शवादका समर्थन पहले ही कर चुके हैं। जोड 'यथार्थ इच्छाकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं: "जिस सघका मैं सदस्य हूँ उसके बहुमत द्वारा किये गये सभी निर्णयोंको कार्यान्वित करनेकी इच्छा (४१ : १९)।" यह तो 'यथार्थ इच्छा' का व्यंगचित्रण है। यह कहना भी अत्युक्ति है कि जब कभी व्यक्ति और राज्यके बीच संघर्ष होता है तब "आदर्शवाद राज्यको ही अनिवार्यतः सही मानता है (४१ : १९)।"

(घ) मैकाइवर खास तौरसे राज्यके व्यक्तित्व-सम्बन्धी आदर्शवादी सिद्धान्तकी आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि यह सही है कि राज्यका निर्माण व्यक्तियोंसे होता है, पर उसका यह अर्थ नहीं कि राज्य एक व्यक्ति है, ठीक वैसे ही जैसे वृक्षोंको मिलाकर बनने वाला बाग स्वय कोई वृक्ष नहीं है या जानवरकी कोई बस्ती स्वय एक जानवर नहीं है। इस तुलनामें मूल यह की गयी है कि भौतिक सम्बन्धोंको मानसिक सम्बन्ध माना गया है। भौतिक जगत्में हम सब पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। पर मानसिक और नैतिक जगत्में एक व्यक्तित्वका दूसरे व्यक्तित्वके साथ सम्पर्क होता है और यह सम्भव है कि एक यूथ-मनोवृत्ति (group-mind) और यूथ-नैतिकता (group-morality) का विकास किया जाय। एक ही खूँटी पर एक दर्जन कोट टांग देने से एक कोट नहीं बन जाता। पर जब ऐसे लोग जिन्होंने एक प्रश्न पर पहलेसे ही अपना मत निश्चित नहीं कर लिया है, एक स्थान पर एक साथ मिलकर किसी प्रश्न पर विचार करते हैं, तब विचार विमर्शके परिणाम स्वरूप एक सार्वजनिक इच्छा और एक सामान्य मतकी उत्पत्ति होती है।

इस सबका मतलब यह नहीं है कि राज्य एक 'उच्चतर बुद्धि है, या एक अति-मानव है, जिसका उद्देश्य या जिसकी इच्छा उन सब व्यक्तियोंकी इच्छाओंसे उच्चतर होती है जो उसका निर्माण करते हैं(२२ : ४४९-५०)।' इसका अर्थ केवल इतना है कि राज्यकी अपनी एक इच्छा होती है, उसकी अपनी एकता होती है और ये दोनो चीजें किसी भी एक व्यक्तिमें किसी एक समय पर नहीं पायी जाती हैं। राज्य एक सजीव व्यक्ति है।

JONES, SIR H.—*The Working Faith of the Social Reformer.*
KANT, I.—*Critique of Pure Reason.*
" —*Critique of Practical Reason.*
" —*Principles of Politics.*
" —*Perpetual Peace.*
LASKI, H. J.—*Authority in the Modern State.*
LORD, A. R.—*Principles of Politics*—Ch. XI.
MACCUNN, J.—*Six Radical Thinkers*—Ch. VI
MACKENZIE, J. S.—*An Introduction to Social Philosophy.*
MERRIAM, C. E.—*New Aspects of Politics.*
MUIRHEAD, J. H.—*The Service of the State.*
RITCHIE, D. G.—*The Principles of State Interference.*
ROCKOW, J.—*Contemporary Political Thought in England.*
SABINE, G. H.—*A History of Political Theory.*
SETH, J.—*Ethical Principles*—pp. 287-320.
VAUGHAN, C. E.—*Studies in the History of Political Philosophy*—Vol. II.
WALLAS, G.—*Human Nature in Politics.*
WILDE, N.—*The Ethical Basis of the State.*

१६

राष्ट्रीयतावाद, साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद
(Nationalism, Imperialism and Internationalism)

राष्ट्र और राष्ट्रीयताकी परिभाषा
(Definition of Terms—Nation and Nationality)

राजनीति शास्त्रके लेखक 'राष्ट्र', 'राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयतावाद' शब्दोंके सटीक अर्थोंके प्रश्न पर एकमत नहीं हैं। अंग्रेजोंके 'नेशन' (nation) शब्दकी उत्पत्ति लेटिनके नासियो (natio) शब्दसे हुई है जिसका अर्थ है 'जन्म' या 'जाति'। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्रीयता और जातीयताकी धारणाएं एक हैं। सत्रहवीं शताब्दी में 'नेशन' (राष्ट्र) शब्दका उपयोग किसी राज्यकी उस आबादीको व्यक्त करनेके लिए किया जाता था जिसमें जातीय एकता पायी जाती थी। बर्नर्ड जोजेफ का कहना है कि यह अर्थ अधिकांश रूपमें आज भी कायम है। फ्रांस की राज्य क्रान्तिके जमानेमें 'नेशन' शब्द बहुत लोकप्रिय हो गया और उसका उपयोग देशभक्ति (patriotism) के अर्थमें किया गया। "राष्ट्रीयता उन दिनों एक सामूहिक भावना थी (४३ · २०)।"

पर उन्नीसवीं शताब्दीसे 'नेशन (राष्ट्र)' और 'नेशनेलिटी (राष्ट्रीयता)' शब्दोंके निश्चित अर्थ हो गये हैं। नेशन या राष्ट्र शब्द द्वारा राजनीतिक स्वाधीनता अथवा प्रभुताका आदर्श—चाहे वह प्राप्त हो या इच्छित—प्रकट होता है। इसके विपरीत राष्ट्रीयता (nationality) अधिकतर एक अराजनीतिक धारणा है और विदेशी शासनमें भी उसका अस्तित्व रह सकता है। राष्ट्रीयता एक मनोवैज्ञानिक गुण है। यद्यपि उसका उपयोग बहुधा नैतिक और सांस्कृतिक धारणाको भी व्यक्त करनेके लिए किया जाता है। इस अर्थमें व्याख्या करने पर 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' दोनों एक रूप धारणाएं नहीं हैं। स्वयं अपना शासन करनेवाले एक राज्यकी जनताके अर्थमें 'राष्ट्र' के भीतर अनेक राष्ट्रीयताएं हो सकती हैं। उदाहरणार्थ यद्यपि ब्रिटेन एक राष्ट्र है फिर भी उसमें चार विभिन्न राष्ट्रीयताएं या जातियां—अंग्रेज, स्कॉच, वेल्स और उत्तरी आयरिश सम्मिलित हैं। जैसे ही कोई एक राष्ट्रीयता या जाति राजनीतिक एकता और सम्प्रभुता सम्पन्न स्वतंत्रता प्राप्त कर लेती है वैसे ही वह राष्ट्रीयता या जाति एक राष्ट्र बन जाती है। लॉर्ड ब्राइस का कहना है कि राष्ट्रीयताकी भावना उन अनुभूति या अनुभूतियोंका सकलन है जो एक व्यक्ति समूहको उन बन्धनोंके प्रति सजग बनाता है जो पूरी तरहसे न तो राजनीतिक होते हैं, न धार्मिक और जो उन व्यक्तियोंको ऐसे समाजके रूपमें संगठित कर देते हैं जो या

तो वास्तवमें या बीज रूपमें एक राष्ट्र होना है (७:११८)। 'राष्ट्रीय पुञ्ज (*national group*)' शब्दका उपयोग एक ऐसे समाजको व्यक्त करनेके लिए किया जाता है जिसमें राष्ट्रीयताका अभी निर्माण ही हो रहा हो और जिसमें एक राष्ट्रकी तरह रहनेकी इच्छाकी कमी हो।

जिन दो शब्दोंके सम्बन्धमें बहुत अधिक भ्रम होता है वे हैं 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्रीयतावाद'। राष्ट्रीयतावादका उपयोग कभी-कभी राष्ट्रीयताकी एक ऐसी अत्युक्तिपूर्ण भावनाके लिए किया जाता है जो आक्रामक सी होती है। यह दूषित भावना जो अपने राष्ट्रमें और अपने राष्ट्रके कार्यमें अच्छाईके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखती, सच्ची राष्ट्रीयतावादकी भावना नहीं है। ठीक-ठीक समझने पर राष्ट्रीयतावाद वह *ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा राष्ट्रीयताएं या जातियां राजनीतिक* इकाइयोंमें बदल जाया करती हैं। सच्चा राष्ट्रीयतावाद ऐसे लोगोंके उचित अधिकारों का समर्थक होता है जो एक अलग बलवान जाति या राष्ट्रका निर्माण धरती पर अपना स्थान प्राप्त करनेके लिए करते हैं। जैसा जोजेफ़ कहते हैं, जो भावना राष्ट्रीयताका आधार है उसे राष्ट्रीयताकी भावना कह सकते हैं; पर राष्ट्रीयतावाद नहीं कह सकते।

राष्ट्रीयताका अर्थ (The Meaning of Nationality). आजकल विचारक इस बात पर आमतौर पर एक मत हैं कि राष्ट्रीयता मूलतः एक मानसिक *प्रवृत्ति या भावना है।* ए० इ० जिमर्न लिखते हैं: "धर्मकी भांति राष्ट्रीयता भी आत्मपरक (subjective) है; मनोवैज्ञानिक है; मनकी एक स्थिति है, एक आध्यात्मिक धारणा है; भावनाकी, विचारकी और जीवनकी एक पद्धति है"। इन्हीं लेखकका कहना है कि राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा न होकर शिक्षा-सम्बन्धी धारणा है। मोटेतौर पर यदि जनता अपनेको एक राष्ट्रीयता या जातिके रूपमें मानती है तो वह राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयताका एक राजनीतिक प्रश्न बन जाना तो आकस्मिक है, मूल रूपमें राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक और शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न है।

इसी विचारको दूसरे शब्दोंमें प्रकट करते हुए कुछ लेखक कहते हैं कि राष्ट्रीयता एक सहजवृत्ति या स्वाभाविक प्रेरणा है। जे० एच० रोज़ राष्ट्रीयताकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं: "दिलोंकी एक ऐसी एकता जो एक बार बनकर कभी *न बिगड़े।" राष्ट्रीय या जातीय राज्य और राष्ट्रीयताके अन्तरको स्पष्ट करते हुए* प्रो० जे० एच० हेज लिखते हैं: "एक राष्ट्रीय राज्य हमेशा राष्ट्रीयता पर आधारित रहता है पर राष्ट्रीयताका अस्तित्व राष्ट्रीय राज्यके बगैर भी हो सकता है। राज्य तत्वतः राजनीतिक होता है, राष्ट्रीयता प्रधान रूपसे सांस्कृतिक होती है और केवल संयोगवश राजनीतिक हो जाती है (२३:५)"।

राष्ट्रीयताके तत्त्व (Factors of Nationality). यदि राष्ट्रीयता एक आत्मपरक (subjective) धारणा है तो वे कौन सी बाहरी कसौटियां हैं जो

उस पर लागू की जा सकती है? वे कौन सी शर्तें हैं जिनको पूरा करना राष्ट्रीयता के पदको प्राप्त करनेके लिए जरूरी रहता है? उन प्रश्नोंके उत्तरके लिए राष्ट्रीयता के तत्त्वोंका समझना जरूरी है।

राजनीति-शास्त्रके लेखकोंने उन तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन किया है जिनसे राष्ट्रीयताका निर्माण होता है। पर वे सब यह मानते हैं कि जितने तत्त्वोंका विवेचन उन्होंने किया है उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो राष्ट्रीयताके लिए अनिवार्य हो; यद्यपि उनमें से कुछके बिना सच्ची राष्ट्रीयताका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। कोई ऐसा सार्वभौम नियम नहीं बनाया जा सकता जिसमें उन तत्त्वोंके आपेक्षिक महत्त्वका निर्देश किया जा सके। पश्चिमी दुनियामें काफी अर्सेसे धर्म राष्ट्रीयताका तत्त्व नहीं रह गया है। किन्तु पूर्वमें विशेषकर भारत में, धर्म अब भी एक शक्ति है जिसका सामना करना पड़ता है। यदि किसी देशमें राष्ट्रीयताके कुछ तत्त्व कमजोर हो तो राष्ट्रीयताके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिए दूसरे तत्त्वोंको बलवान् बनाना जरूरी है।

(१) भौगोलिक एकता (**Geographical Unity**). निस्सन्देह राष्ट्रीयता के लिए प्रकृति द्वारा अलग किया गया एक क्षेत्र या भौगोलिक एकता जिसे प्रायः मातृभूमि कहते हैं, जरूरी है। पर इसके अनेक अपवाद भी पाये जाते हैं। युगोंसे यहूदियोंके पास उनका कोई अपना देश नहीं था; फिर भी यह आशा ही यहूदी राष्ट्रीयता को जीवित रख सकी और उसे शक्ति देती रही कि किसी न किसी दिन पेलेस्टाइन उन्हें वापस मिल जायगा। जर्मनी और फ्रांस के बीचकी सीमा प्राकृतिक नहीं है फिर भी इन दोनों देशोंमें बड़ी सबल राष्ट्रीयताएं हैं।

जहा मातृभूमि नहीं है या उस के होने की आशा नहीं है वहा राष्ट्रीयताकी भावनाका अस्तित्व या उसका विकास बहुत कठिन है। जिप्सियों या कजरोंका कभी कोई निश्चित स्थान नहीं रहा। वे एक स्थानसे दूसरे स्थानको घूमते-फिरते हैं। प्राचीन समयमें विश्व साम्राज्यके लिए अपनी जन्मभूमिको छोड़नेवाले रोमन लोगोंने अपनी राष्ट्रीयता खो दी थी। इस प्रकार प्राकृतिक सीमाएं राष्ट्रीयताका विकास करने और उसे कायम रखनेमें बड़ा महत्त्वपूर्ण काम करती हैं। और जब किसी देश की प्राकृतिक सीमाओंको छीननेका प्रयत्न किया जाता है तो उसका परिणाम युद्ध होता है।

प्रकृति द्वारा बनायी गयी भौगोलिक सीमाएं राष्ट्रीयताके निर्माणमें अनेक कारणोंसे बहुत सहायक होती हैं। भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु मनुष्योंके चरित्र और शारीरिक गठन पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। इनसे सामान्य शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक गुणोंकी उत्पत्ति होती है जिससे सहयोग और पारस्परिक सहानुभूतिमें सहायता मिलती है। यह देखा गया है कि अन्य देशोंसे अमेरिका में जाकर बसनेवालोंके सिरकी आकृतिमें एक या दो पीढ़ी बाद रहस्यमय परिवर्तन हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्यकी सहानुभूति सीमित होती है और मनुष्यके विकासकी वर्तमान स्थितिमें राष्ट्रीय जन्मभूमि ही वह उपयुक्त भौगोलिक इकाई है जिसमें मनुष्यकी पारमार्थिक भावनाएं और प्रेरणाएं सक्रिय और सफल बनायी जा सकती हैं। एक समय था जब ये भावनाएं अपने गांव या अपने कबीले तक ही सीमित थी पर सभी प्रगतिशील देशोंमें इन सकीर्ण निष्ठाओंका स्थान राष्ट्रीय निष्ठा ने ले लिया है। भारत के एक निवासीके लिए अपने एक पडोसी व्यक्तिकी भावनाओंकी स्पष्ट कल्पना कर सकना आसान है; पर लेब्रोडोर या ग्रीनलैण्डमें रहने वाले व्यक्तिकी भावनाओंकी कल्पना उसके लिए उतनी आसान नहीं है। साधारणतया 'एक विश्व नागरिक' की सहानुभूति या निष्ठा बहुत गहरी नहीं होती। वह बहुत छिछली होती है।

प्रकृति द्वारा भली-भांति अलग किये गये एक प्रदेशके महत्त्व पर राष्ट्रीयताके एक महत्त्वपूर्ण तत्त्वके रूपमें जोर देनेका तीसरा कारण यह है कि पशुओंकी भांति मनुष्योंमें भी अपने निवास स्थानके प्रति प्रेम होता है। हर मानवके हृदयमें अपनी जन्मभूमिके प्रति अगाध प्रेम होता है। देशसे निकाले जाने पर देशका प्रेम और भी गहरा हो जाता है। प्राचीन इजराईल वासियोंने किसी विदेशमें अपने बन्दी जीवनमें अपनी इस भावनाको इस प्रकार प्रकट किया है: "ओ! जैरूसलम यदि मैं तुझे भूल जाऊं तो मेरा दाहना हाथ अपने कौशलको भूल जाय। यदि मैं तेरा स्मरण न करूं तो मेरी जीभ तालूमें चिपक जाय; मैं जैरूसलम को अपने सर्वप्रधान सुखसे भी उच्चतर समझूं।"[1] आधुनिक राष्ट्रीयतावादके आध्यात्मिक जन्मदाता मैजिनी ने लिखा है. "हमारा देश हमारा घर है, वह घर जो परमात्मा ने हमें दिया है, जिसमें उसने अनेक परिवार रखे हैं, जो परिवार हमें प्यार करते हैं और जिन परिवारोंको हम प्यार करते हैं। एक ऐसा परिवार जिसके साथ दूसरोंकी अपेक्षा हम अधिक तत्परतासे सहानुभूति रखते हैं और जिसे हम दूसरोंकी अपेक्षा अधिक आसानीसे समझ पाते हैं; और जो एक निश्चित प्रदेशमें रहनेके कारण और अपने तत्त्वोंकी सजातीयताके कारण एक विशेष प्रकारकी क्रियाशीलताके लिए उपयुक्त है।"

"हमारा देश हमारी कार्यशाला (workshop) है जहासे हमारे श्रमका उत्पादन पूरे संसारके लाभके लिए बाहर भेजा जाता है, और जहां वे सभी उपकरण-औजार इकट्ठे किये गये हैं जिनका हम बहुत अधिक सफलताके साथ उपयोग कर सकते हैं (५९: खण्ड ४, पृष्ठ २७६)।"

यद्यपि ऊपरके विचारोंमें एक राष्ट्रीय जन्मभूमिका महत्त्व सिद्ध होता है फिर भी यह कहना ही होगा कि संसारको प्रकृति द्वारा निर्धारित प्रदेशोंके आधार पर बांटनेका परिणाम निरन्तर संघर्ष और युद्ध ही होगा। प्रो० हेज इस धारणाकी कि राष्ट्रीयताका निर्माण भूगोल द्वारा होता है, आलोचना करते हुए कहते हैं कि जातियोंके

[1] स्तोत्र १३७, पद्य ५ और ६।

बीच प्राकृतिक सीमाओंका विचार एक कोरी कल्पना है।

जहां तक भारतका सम्बन्ध है, १९४७ के विभाजनके पहले तक वह शेष संसारसे पृथक् एक निश्चित भौगोलिक इकाई था। उच्चतम देशभक्तिकी भावनाओंको सजग बनानेके लिए "देश" सबसे अधिक उपयुक्त भौगोलिक इकाई है। यदि आधुनिक संसारमें भारतको जीवित रहना है तो यह आवश्यक है कि हम ग्राम-राजनीति, जाति-राजनीति और कबायली-राजनीतिको छोडकर तुरन्त राष्ट्रीय राजनीतिको अपनाए। "दि प्रेजेवशन ऑफ् इण्डिया" शीर्षकके अपने एक विचारोत्तेजक लेखमें श्री एम० रत्नास्वामी ने लिखा है कि वर्तमान राजनीतिक स्थितिमें भारत की जनताको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, पर देशकी धरतीकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है। निर्वाचन क्षेत्रोंका निर्धारण (स्वतन्त्रताके पूर्व) विशिष्ट प्रदेशोंके आधार पर न करके विशिष्ट सम्प्रदायोंके आधार पर किया जाता है। शिक्षाके क्षेत्रमें भी सम्प्रदायोंके प्रति अनुरक्ति "हिन्दू विश्वविद्यालय", "मुस्लिम विश्वविद्यालय" आदि नामोंसे स्पष्ट प्रकट होती है।

श्री रत्नस्वामी की यह दलील बिल्कुल ठीक है कि यदि भारत की जनताके अधिकार है तो भारतकी भूमिके भी अधिकार है। "उसके भी अपने अधिकार और अपनी स्वाधीनताए है, अपने हित है और अपना महत्त्व है।" भारत हमारी जन्म-भूमि है, पुण्यभूमि (a sacred land) है; और मातृभूमिके प्रत्येक पुत्रका यह कर्तव्य है कि वह "अपने देशका ऐसा निर्माण करे, उसका ऐसा विकास करे कि लोगोंको अपने देश, उसकी स्वाधीनता, और उसकी उन्नतिके प्रति उत्साह हो। भारतकी आकृति, उसका स्वरूप, उसका सौन्दर्य, उसकी नदिया, उसका रेगिस्तान, उसकी वनस्पतिया और उसके पशु इन सबसे भारतके हर पुरुष, स्त्री और बच्चेको परिचित होना चाहिए। देशाटन और यात्राको प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। आम जनताके लिए देशके सभी हिस्सोंकी यात्राका प्रबन्ध होना चाहिए। समाचार पत्रों, सिनेमा और रेडियोकी एक सुसस्थित राष्ट्र-योजना समितिके निर्माणके लिए परस्पर एक दूसरेसे सहयोग करना चाहिए और सरकारको इसमें सहायता देना चाहिए।" "राजनीति हमें विभाजित करती है, धर्म हमारे बीच दीवार खडी करता है, संस्कृति हमें टुकडोंमें बाटती है; पर हमारा देश और देशकी धरतीका प्यार हमें एक सूत्रमें बाध सकता है।" उक्त तर्कोंके कारण भारत का विभाजन बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है।

(२) जातीय एकरूपता या जातीय एकता (**Identity of Racial Type or Racial Unity**). कुछ लेखक राष्ट्रीयताका निर्माण करने और उसको मजबूत बनानेमें जातीय एकताको महत्त्व देते है। झिमर्न (**Zimmern**) इसे बहुत ऊंचा स्थान देते है और ब्राइस (**Bryce**) इसे राष्ट्रीयताकी भावना उत्पन्न करनेवाले तत्त्वोंमें से केवल एक तत्त्व मानते है। दूसरी ओर मैझिनी (**Mazzine**) का कहना है कि राष्ट्रीयताके लिए जाति अनिवार्य नहीं है। रेनन (**Renan**) का

कहना है कि "जाति एक ऐसी चीज है जो स्वयं ही बनती बिगड़ती रहती है और राजनीतिमें इसका कोई प्रयोजन नहीं है"। जे० एच० रोज (J. H. Rose) का कहना है कि राष्ट्रीयता बहुत भद्दे रूपमें ही जाति पर निर्भर रहती है। हेज (Hayes) कहते हैं "शुद्धता यदि कहीं है तो आजकल असभ्य कबायली लोगोंमें ही है।" पिल्सबरी (Pillsbury) लिखते हैं, "साधारणतया राष्ट्रीयताके निर्माणमें जातिका अब कोई महत्त्व नहीं है। किसी भी राष्ट्रमें कोई भी शुद्ध जाति नहीं है। मनुष्य सब कहीं वर्ण संकर है।" मुसोलिनी (Mussolini) तक ने एक बार कहा था, "जाति एक भावना है, वास्तविकता नहीं। कोई भी बात मुझे विश्वास नहीं दिला सकती कि जीवशास्त्रकी दृष्टिसे आज कहीं भी कोई शुद्ध जाति है।"

इस प्रकार शास्त्रीय सम्मतिका पल्ला उन लोगोंके पक्षमें भारी है जो जातिको अपेक्षाकृत निम्न स्थान देते हैं। स्विटज़रलैंड और कैनाडा ऐसे उदाहरण है जहां विभिन्न जातिके लोग एक साथ रहते हैं और एक सुदृढ़ राष्ट्रीयताका निर्माण कर चुके हैं। कई पीढ़ियों तक संयुक्त राष्ट्र अमेरिका "जातियोंका संगम" रहा है। जहां तक हमारा सम्बन्ध है हम विश्वास करते हैं कि जातीय एकतासे राष्ट्रीयता सुदृढ़ होती पर यह अनिवार्य नहीं है। राष्ट्रीयताकी प्रारम्भिक अवस्थामें जातीय एकता अधिक महत्वपूर्ण है, बादकी अवस्थामें कम। संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें जातीय वर्गों की बहुत अधिक विभिन्नता है, पर साथ ही साथ वहां एक प्रभावशाली प्रधान जातीय यूथ भी है जिसमें पुराने प्रवासियोंके वंशज हैं और देशके राष्ट्रीय जीवनको एक निश्चित रूप देनेमें समर्थ है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जातीय एकरूपताकी एक निश्चित मात्रा राष्ट्रीयताके लिए सहायक होती है। जब तक जातीय भेदोंकी अनेकरूपतामें साधारण विभेद ही उत्पन्न होते हैं तब तक कोई बड़ी कठिनाई नहीं पड़ती। पर यह समझनेमें कठिनाई होती है कि आंग्ल-सैक्सनी, चीनी और नीग्रो लोग अपने बीच वर्तमान सामाजिक विभेदोंके कायम रहते हुए किस प्रकार एक राष्ट्रीयताका निर्माण कर सकते हैं। कोई भी राष्ट्रीयता अधिक समय तक नहीं टिक सकती यदि उसके जातीय वर्गोंमें तीव्र विभेद हो।

संसारके इतिहास पर दृष्टिपात करिए तो यह स्पष्ट हो जायगा कि किसी जमानेमें भी ऐसा नहीं हुआ कि एक पूरी जातिने एक ही राष्ट्रीयता कबूलकी हो। फिन (Finns) लोगोंको एक जाति माना जा सकता है पर वह विभिन्न राष्ट्रीयताओंमें बंटे हुए हैं। जाति और राष्ट्रीयता कहीं भी एकरूप नहीं है। जोजेफ (Joseph) का कहना है, "राष्ट्रीयता वास्तवमें जातियोंके आरपार निकल जाती है।" कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि राष्ट्रीयता ही जातिकी सृष्टि करती है, जाति राष्ट्रीयता की सृष्टि नहीं करती। हमारे देशमें जातीय अनेकरूपता बहुत स्पष्ट है, पर यह नहीं कहा जा सकता है कि भारतके विभिन्न सम्प्रदाय पूरी तरहसे एक दूसरेसे अलग जातीय समुदाय हैं। उदाहरणके लिए पंजाबी मुसलमानमें बंगाली या मद्रासी मुसलमानसे

अपेक्षा पंजाबी हिन्दूसे अधिक जातीय समानता है। इस सम्बन्धमें धार्मिक या साम्प्रदायिक वर्गीकरणकी अपेक्षा प्रादेशिक वर्गीकरण अधिक सहायक हो सकता है।

(३) विचारों और आदर्शोंकी एकता या सामान्य संस्कृति (**Unity of Ideas and Ideals or a Common Culture**). यदि राष्ट्रीयता मूलरूपमें सांस्कृतिक धारणा है तो विचारों और आदर्शोंकी एकता अवश्य ही उसका एक मुख्य तत्त्व है। संस्कृतिकी एकतामें सामान्य रीतियां और व्यवहार, सामान्य परम्पराएं और साहित्य, सामान्य ग्रामगीत, काव्य और कला भी शामिल है। संस्कृतिकी एकता जीवनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिसमें 'जीवनके सामान्य मानदण्ड, कर्त्तव्य और निषेध मौजूद होते हैं।' विचारों और आदर्शोंकी एकता लोगोंको परस्पर समीप खींच लाती है और उनमें सहयोगकी एक ऐसी भावना पैदा कर देती है जो आसानीसे नष्ट नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीय साहित्य, शिक्षा, संस्कृति और कला, राष्ट्रीयताके कारण और परिणाम दोनों ही हो सकते हैं। यद्यपि राष्ट्रीय साहित्य स्वयं राष्ट्रीयताका निर्माण नहीं करता, फिर भी वह राष्ट्रीयताकी भावनाको मजबूत अवश्य ही बना सकता है। आधुनिक कालमें बोहेमिया और सर्बियाकी राष्ट्रीयताओंको फिरसे जीवित करनेमें राष्ट्रीय साहित्यने महत्त्वपूर्ण काम किया है। "राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय परम्पराओंका सृजन करता है, उन्हें जीवित रखता है और राष्ट्र में राष्ट्रीय साहित्यके प्रति अनुराग भर देता है। इन सब कारणोंसे राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीयताकी भावनाके विकासमें महत्त्वपूर्ण योग देता है। एक शब्दमें, राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रसार का माध्यम है (४३ : ११४)।" राष्ट्रके सदस्य अपने राष्ट्रीय साहित्य पर गौरव करते हैं और उसमें श्रद्धा रखते हैं। वॉल्टेयर (Voltaire) ने गर्वके साथ कहा था : "हमारी भाषा और हमारे साहित्यने शार्लमान्य (Charlemagne) (एक प्रसिद्ध विजेता) की अपेक्षा अधिक प्रदेश जीते हैं।"

जीवनके दृष्टिकोणमें समानता लाने तथा एक ही मानदण्ड कायम करनेमें राष्ट्रीय शिक्षा महत्त्वपूर्ण भाग ले सकता है। "संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में विभिन्न जातियों और सांस्कृतिक यूथोंको एक शक्ति सम्पन्न राष्ट्रीयताका रूप देनेमें "अमेरिकीकरण" के रूपमें नागरिकताकी शिक्षाने बहुत बड़ा काम किया है। पर जब राष्ट्रीय शिक्षाका दुरुपयोग किया जाता है जैसा कि नाजी जर्मनीमें हुआ था, तब राष्ट्रीय शिक्षासे राष्ट्रीय कट्टरता तथा मतान्धता और पूर्व द्वेष (Prejudice) बड़ी आसानीसे उत्पन्न हो जाते हैं। यदि राष्ट्रीय शिक्षाका सही उपयोग किया जाय तो वह नैतिक एकता, सत्-असतका सामान्य विवेक, तथा अधिकांश विषयोंमें विचारोंकी एकता उत्पन्न कर सकती है (४३ : ११८)।

राष्ट्रीय संस्कृतिके निर्माणमें राष्ट्रीय इतिहास और परम्पराएं मार्मिक तत्त्व हैं। रैम्जे म्यॉर (Ramsay Muir) का कहना है कि 'वीरताके कार्य, धैर्यपूर्वक सेहे गये कष्ट, ही तो वे सुन्दर तत्त्व हैं जिनसे राष्ट्रीयताकी भावनाका पोषण होता है। अपने

अतीत पर उचित गर्व, वर्तमान पर स्वस्थ विश्वास और सुन्दर भविष्यकी जिन्दादिलसे आशा—ये सभी राष्ट्रीय भावनाको सजीव और सबल बनाते हैं। बी० जोजेफ (B. Joseph) का कहना है कि खेल, राष्ट्रीय नौसेना (navy) पर गर्व और चाय पीने जैसी आदतोंका भी अंग्रेजी राष्ट्रीयताको सुदृढ बनानेमें हाथ है। यद्यपि यह बातें देखनेमें अधिक महत्त्वपूर्ण नही मालूम पडती। जे० एस० मिल (J. S. Mill) ने ठीक ही कहा है कि "पूर्वकालीन राजनीतिक घटनाओसे उत्पन्न एकता; एक राष्ट्रीय इतिहास के फलस्वरूप अतीतकी सामान्य स्मृतियां, सामूहिक गर्व, सामूहिक लज्जा, आनन्द और पश्चाताप।

यदि हम चाहते है कि भारतीय राष्ट्रीयता सबल और ओजपूर्ण बने तो हमें विचारो और आदर्शोंकी उस एकता पर जोर देना चाहिए जो भारतीय संस्कृतिके मूलमें है। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियोने एक दूसरे पर इतना अधिक प्रभाव डाला है कि भारतीय और पाकिस्तानी इस्लाम आज अरब या पडोस के किसी दूसरे मुस्लिम देशका इस्लाम नही है। इसलिए हमारे सांस्कृतिक विभेदोको बढा-चढाकर नही कहना चाहिए और यदि यह दोनो बड़े सम्प्रदाय एक दूसरेको समझनेका यत्न करें और सहिष्णुतासे काम ले तो ये विभेद धुधले पड़ जायंगे। आज सबसे बडी आवश्यकता एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धतिकी है। हमारा इतिहास एक बार फिरसे इस ढग से लिखा जाय कि दोनो सम्प्रदायोंके बीच होने वाले रक्तरंजित युद्धों और अत्याचारोंके अत्युक्तिपूर्ण उल्लेख निकाल दियें जायं। इस सम्बन्धमें हमें यह न भूलना चाहिए कि योरोपके कुछ देशोमें कैथोलिको और प्रोटेस्टेण्टोंके बीच जितनी भयावह लड़ाइयां हुई है उतनी भारतमें हिन्दुओं और मुसलमानोके बीच नही हुई हैं।

(४) भाषा की एकता (Unity of Language). राष्ट्रीयताका सबसे अधिक स्पष्ट तत्व भाषा है। रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) का विश्वास है कि राष्ट्रके निर्माणमें जातिकी अपेक्षा भाषाका महत्त्व कही अधिक है। 'सामान्य भाषा का अर्थ एक सामान्य साहित्य, महान् विचारोकी एक सामान्य प्रेरणा और गीतो तथा ग्राम-गाथाओंकी एक सामान्य पैतृक सम्पत्ति भी है।' रोज (Rose) का कहना है कि राजनीतिक क्षेत्रमें भाषाका प्रभाव सबसे अधिक होता है। जोजेफ (Joseph) का कहना है कि सामान्य भाषा लोगोंके विचारो और भावोमें समानता लाती है। नैतिकता, आचार और न्यायके सामान्य मानदण्ड स्थिर करती है; सामान्य ऐतिहासिक परम्पराओंको कायम रखती है (preserves) और एक सामान्य राष्ट्रीय मनोवृत्तिको उत्पन्न करती है। वर्तमान समयमें दूसरे लोगोंकी अपेक्षा पोल (people of Poland) लोगोंने राष्ट्रीय भावनाको जीवित रखनेमें सामान्य भाषाके महत्त्वको अधिक प्रदर्शित किया है। जब लोग अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक एकता कायम रखनेको कटिबद्ध होते है तब उन्हें सफलता प्राप्त करनेमें भाषाकी एकतासे बहुत बडी सहायता मिलती है। सामान्य भाषाके अनेक लाभोंके बावजूद अनेक ऐसे राष्ट्र है जिनकी एक सामान्य भाषा नहीं है। स्विट्जरलैण्ड में

कमसे कम तीन भिन्न भाषाएं बोली जाती हैं। यदि राष्ट्रीयताके अन्य तत्त्व सुदृढ़ हों तो सामान्य भाषाके बिना भी काम चल सकता है। अलास्काकी जर्मन भाषी जनता जर्मनीकी अपेक्षा फ्रांससे अधिक प्रेम रखती है। अमेरिका और कैनाडाके नागरिक एक ही भाषा बोलते हैं और एक दूसरेके पड़ोसी भी हैं। फिर भी इन दोनों देशोंके लोग आपसमें मिलकर एक राष्ट्र बनने को तैयार नहीं है।

भारतमें भाषाका विभेद राष्ट्रीय एकतामें बाधक रहा है। हिन्दीको राष्ट्र-भाषा बना देनेसे यथासमय हालत सुधर जायगी। एक राष्ट्र भाषाका विकास करनेकी प्रवृत्ति होनी चाहिए। स्कूलोंमें और मोहल्लोंमें उसका उपयोग हो, संस्कृतिके विकास और विस्तारमें उसको काममें लाया जाय और उसे न केवल परम्परागत और आधुनिक साहित्य तथा कला का, बल्कि आधुनिक टैक्निकल और वैज्ञानिक विचारों का भी सुबोध माध्यम बनाया जाय। पर इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दीके अतिरिक्त तामिल, तैलगू आदि अन्य प्रादेशिक भाषाको नष्ट कर दिया जाय। ब्रिटिश शासनमें अंग्रेजी भाषा कुछ लोगोंके विचार विमर्शका माध्यम बन गयी पर वह स्वभावतः जनताकी भाषा नहीं बन सकी। फिर भी उच्चशिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियोंके लिए अंग्रेजीका काम लायक ज्ञान लाभप्रद होगा। बड़े पैमाने पर अंग्रेजीके साहित्यिक अध्ययनकी अपेक्षा जरूरत इस बातकी है कि अंग्रेजी भाषाके अध्ययन द्वारा उसमें उपलब्ध टैक्निकल, सामाजिक तथा अन्य व्यावहारिक विषयोंके साहित्यका अध्ययन किया जाय ताकि व्यावहारिक ज्ञानसे भारतवासी वंचित न रह जायं।

(५) धर्मकी एकता (Unity of Religion) राष्ट्रोंके इतिहाससे पता चलता है कि प्रारम्भिक अवस्थाओंमें धर्मका प्रमुख स्थान रहा है। प्रारम्भिक सामाजिक जीवनका केन्द्र धर्म, रीति-रिवाज और आचार व्यवहार ही रहा है। उदाहरणार्थ यहूदियोंमें धर्म ही उनके राष्ट्रीय जीवनका मुख्य आधार था। धर्म ही उनके सामान्य जीवनका ताना-बाना था। यही बात आजकल जापानियों, पोलों और आयरिश लोगोंके बारे में कही जा सकती है। सदियोंके अत्याचारमें यूनानका कैथोलिक धर्म-संघ ही एक जातिके रूपमें यूनानियोंको जीवित रख सका। स्कॉटलैण्ड के बारेमें विचार करने पर हमें मालूम होता है कि जॉन नॉक्स और प्रोटेस्टेण्ट धर्म-सुधारने स्कॉटिश राष्ट्रीयताकी उत्पत्ति और उसके स्थायित्वमें महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।

धर्मकी एकता अब कोई महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं रह गया है, यद्यपि ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें विशेष पूर्ववर्ती ऐतिहासिक परिस्थितियोंके कारण अब भी धर्म राष्ट्रीयताका आधार बना हुआ है। हेज (Hayes) कहते हैं कि अधिकांश आधुनिक राष्ट्रीयताएं धार्मिक विश्वास या धार्मिक वृत्तियोंकी एकरूपता पर जोर दिये बिना ही फूल-फल रही हैं। आजकल अधिकांश राज्य धार्मिक सहिष्णुताका व्यवहार करते हैं। धार्मिक विभेद उनके राष्ट्रीय जीवनमें हस्तक्षेप नहीं कर पाता। सभी गतिशील देशोंमें धर्म दिन प्रति दिन अधिकाधिक रूपमें व्यक्तिगत प्रश्न बनता जाता है। संयुक्त राष्ट्र

अमेरिका में तो धर्म जनताके राष्ट्रीय जीवनमें प्रवेश ही नही कर पाया है। पर इसके विपरीत भारतमें स्वार्थी दलो द्वारा अपने लाभके लिए धार्मिक विभेदो पर बहुत जोर दिया जाता है। धार्मिक कट्टरपन और धर्मान्धता कभी किसी जातिको महान् नही बना सकती। किन्तु हमारे यहा इस तथ्यको व्यापक रूपसे नही स्वीकार किया जाता। "धर्म खतरेमें है" एक अर्थहीन नारा है। अब समय आ गया है कि भारतके शिक्षित लोगोको यह समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीय एकताके हितमें सहानुभूति और ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली सच्ची धार्मिक सहिष्णुताकी आवश्यकता है, केवल इस प्रश्नकी ओर से एक ढुलमुल उदासीनतासे काम नही चलेगा। कम-से-कम पढे-लिखे लोगोंको तो एक दूसरेके धार्मिक विश्वास और भावनाओका बहुत सम्मान करना चाहिए। राजनीतिको धर्म निरपेक्ष बनाना चाहिए। हमारे कहनेका मतलब यह नही है कि धर्म और नैतिकताके उच्चतम सिद्धान्त राजनीतिका निर्देश और नियंत्रण न करे। राजनीतिको एक आदर्शवादकी आवश्यकता है। यह आदर्शवाद राजनीति नही दे सकती, धर्म और नैतिक सिद्धान्त ही दे सकते है। पर सकीर्ण साम्प्रदायिकता को राजनीतिमें स्थान नही मिलना चाहिए।

(६) सामान्य आर्थिक हित (**Common Economic Interest**). जापान और ऑस्ट्रेलियाकी राष्ट्रीयताका सबसे प्रमुख कारण सामान्य आर्थिक हित रहा है। निस्सन्देह आर्थिक उद्देश्य अन्य तत्वोके साथ जातिमें एकताकी भावना पैदा करता है। ऑस्ट्रेलिया के राजनीतिज्ञोने युद्धके दौरानमे "श्वेत ऑस्ट्रेलिया-नीति" का जोरदार समर्थन इस भय के कारण किया था कि यदि प्रवासियोंके बारेमें लगे हुए प्रतिबन्ध हटा दिये गये या ढीले कर दिये गये तो आस्ट्रेलिया में मंगोल और भारतीय आकर भर जायगे और आस्ट्रेलियन लोगोंके आर्थिक जीवनको सकटमें डाल देंगे।

किसी जाति को एक सूत्रमें बाध रखनेमें सामान्य आर्थिक हितोका चाहे कितना ही महत्व हो, पर हम यह नही मानते कि केवल आर्थिक हितसे ही राष्ट्रीयताकी भावना पैदा हो सकती है। यदि केवल आर्थिक हित ही राष्ट्रीयताके निर्माणके लिए पर्याप्त होते तो हमें मजदूरोकी राष्ट्रीयता और पूजीपतियोंकी राष्ट्रीयता देखनेको मिलती। युद्धके समय राष्ट्रीयताकी भावना आर्थिक विभेदोंको पार करके विभिन्न आर्थिक हितोवाले लोगोंको एक कर देती है। रेनन (Renan) का यह कहना ठीक है कि आर्थिक हितोकी एकता एक सीमा-शुल्क-संघ (customs union)[1] का निर्माण करती है, एक राष्ट्रका नही।

(७) सामान्य अधीनता (**Common Subjection**). कभी-कभी मजबूत और सुव्यवस्थित सरकारकी अधीनता भी राष्ट्रीयताका सबल कारण होती है। अंग्रेजोके सुदृढ शासनने कुछ हद तक भारतीय राष्ट्रीयताका विकास किया है। इसी

---

1 A territory treated as if one state for purposes of custom duties—Chamber's XX Century Dictionary—translator.

प्रकार दूसरे देशोंमें एक शासनकी आज्ञानुवर्तितासे भी राष्ट्रीय भावना उत्पन्नकी है, यद्यपि यह राष्ट्रीयता बड़ी भयावह हुई है; जैसे हिटलर के अधीन जर्मनीमें और मुसोलिनी के अधीन इटलीमें। राष्ट्रीयताके लिए सुदृढ सरकार चाहे जितनी महत्वपूर्ण हो, पर वह स्वय राष्ट्रीयता उत्पन्न नहीं कर सकती। रैम्ज म्योर (Ramsay Muir) का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'शासनकी एकता-मात्र, वह चाहे जितनी सुन्दर लगती हो, कभी स्वतः राष्ट्रीयताकी उत्पत्ति नहीं कर सकती'।

(८) सामान्य कष्ट (**Common Suffering**). कभी-कभी सामान्य मुसीबतोंने राष्ट्रीयतामें बडा शक्तिशाली योग दिया है। इतिहासमें इस बातके उदाहरण हैं कि अत्याचारोंने राष्ट्रीयताको सुदृढ कर दिया है। जिमर्न (Zimmern) का कहना है कि "योरोप में राष्ट्रीयताकी भावना राजनीतिक अत्याचारोंके फलस्वरूप निर्दयतापूर्वक सजग हो उठी है (८४ : ७४)"। फ्रास और प्रशिया के बीच होनेवाली १८७० की लड़ाईके बाद फ्रासकी राष्ट्रीय भावना बडी तीव्र हो गयी थी। मूरोंके अत्याचार और नेपोलियन के युद्धोंने स्पेन वासियोंमें राष्ट्रीय भावना पैदा कर दी थी। पोलैण्ड के विभाजनने राष्ट्रीय भावनाको तीव्र बना दिया और अत्यन्त विरोधी परिस्थितियोंमें भी उसे जीवित रखा। अग्रेजों द्वारा अत्याचार किये जाने पर आयरलैण्डकी राष्ट्रीयताने अत्यधिक उग्र और अवाछनीय रूप तक ग्रहण कर लिया। इन उदाहरणोंके होते हुए भी, जैसा जोजेफ (Joseph) ने कहा है: "किसी एक वर्ग पर होनेवाला अत्याचार स्वतः उस वर्गको राष्ट्र या जाति नहीं बना देता। उससे एक जाति अनेक स्वार्थी सम्प्रदायोंमें बट भी सकती है। और प्रत्येक सम्प्रदाय अत्याचारीका कृपा-पात्र बननेकी कोशिश करता है, जैसा कि प्राय. भारतीय इतिहासमें होता आया है।

(९) राजनीतिक सम्प्रभुता (**Political Sovereignty**). कभी-कभी यह दलील दी जाती है कि राज्यमें राष्ट्रीयता बनती है, राष्ट्रीयतासे राज्य नहीं बनता। इस दावेको सिद्ध करना कठिन है। ग्रेट ब्रिटेन एक ही राजनीतिक सम्प्रभुताके अधीन है पर उसमें चार पृथक राष्ट्रीयताएं या जातियां सम्मिलित है। आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आधुनिक राज्योंके स्थायी रूप धारण करनेके पहले भी राष्ट्रीयताओं या जातियोंका अस्तित्व रहा है फिर भी राजनीतिक सम्प्रभुताने विकासशील राष्ट्रीयताको सुदृढ बनानेमें सहायता दी है। स्विट्जरलैण्ड जैसे अपवादोंको छोड़कर, जहा सम्भवतः सामान्य राजनीतिक सम्प्रभुताने राष्ट्रीयताको जन्म दिया है, राजनीतिक सम्प्रभुता अधिक-से-अधिक यही कर सकती है कि वर्तमान राष्ट्रीय चेतनाको सर्वमान्य विधियों और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा और अधिक दृढ बनाये। राष्ट्रीयताकी जैसी परिभाषा हमने की है वैसी राष्ट्रीयता राजनीतिक सम्प्रभुता द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती।

(१०) सार्वजनिक इच्छा (**Popular Will**). सहयोग करनेकी इच्छा और "राष्ट्र बननेकी इच्छा" के महत्वकी हम सरलतासे उपेक्षा नहीं कर सकते। इस

दोनो पर डॉ० अम्बेदकर भारतीय राष्ट्रीयताके सिलसिलेमें बहुत जोर देते थे। उनके शब्दोंमें, "एकताकी सुसगठित भावनाके कारण ही जिन लोगोंमें यह भावना होती है वे सब अपनेको एक दूसरेसे सम्बन्धित समझते हैं।" टॉएन्बी (Toynbee) "एक राष्ट्र बननेकी इच्छाको" राष्ट्रीयताका प्रधान तत्त्व मानते हैं। इसी प्रकार मैजिनी (Mazzini) सार्वजनिक इच्छाको राष्ट्रीयताका आधार मानते हैं।

राष्ट्रीयताका आत्मनिर्णय (The Self-determination of Nationality). क्या प्रत्येक जाति या राष्ट्रीयताको स्वशासित सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य बननेका अन्तर्निहित अधिकार है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसमें राजनीति-शास्त्रके विद्यार्थी और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ, दोनोंको रुचि है। वियना कांग्रेस (१८१५) से शुरू होकर पूरी १९वीं सदी भर योरोपीय राजनीति पर 'एक राष्ट्रीयता, एक राज्य' का सिद्धान्त छाया रहा। १९१४-१८ के विश्व युद्धमें इस सिद्धान्तको उस समय और अधिक बल मिला जब जातियोंके आत्मनिर्णयके अधिकारका सिद्धान्त सामने आया। इस सिद्धान्तके समर्थकोंका कहना है कि विभिन्न राष्ट्रीयताके लोगोंको एक साथ एक राज्यमें रखा देनेसे देशभक्ति की भावना नष्ट हो जाती है और आन्तरिक विवाद पैदा हो जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि यदि एक राष्ट्रीयता विभिन्न राज्योंमें बिखरी हो तो वह कदापि सुखी और सम्पन्न नहीं रह सकती और ऐसी राष्ट्रीयता एक विच्छिन्न सामाजिक संगठन (dismembered social organism) के समान है। ये बातें अब स्वीकार नहीं की जा सकती है। अनेक लोग यह स्वीकार करते हैं कि और सब बातोंके समान होने पर राजनीतिक और राष्ट्रीय सीमाएं एक ही होनी चाहिएं। जे० एस० मिल (J. S. Mill) अपनी पुस्तक "प्रतिनिधि सरकार" में लिखते हैं : "सामान्यतः स्वतन्त्रताके हितमें यह जरूरी है कि सरकारकी सीमाएं और राष्ट्रीयताकी सीमाएं एक ही हों।"

लॉर्ड ऐक्टन (Lord Acton) और अन्य अनेक विचारकोंका दृष्टिकोण इसके विपरीत है। लॉर्ड ऐक्टन का कहना है कि राष्ट्रीयताका सिद्धान्त [अर्थात् एक राष्ट्रीयता (जाति) एक राज्य] समाजवादके सिद्धान्तसे भी अधिक अर्थहीन और अपराधमूलक है। जिमर्न (Zimmern) लिखते हैं कि अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय राज्यके सिद्धान्तकी वही गति होगी जो आठवें हेनरी और लूथर के राष्ट्रीय धर्म-संघवाले सिद्धान्तकी हुई थी। बर्नर्ड जोजेफ (Bernard Joseph) का कहना है कि 'एक-राष्ट्रीयता, एकराज्य' का सिद्धान्त एक खतरनाक सिद्धान्त है और विश्वकी प्रगति में प्रधान बाधा है। उनका कहना है कि राष्ट्रीयता और राज्य दो भिन्न धारणाएं हैं और राष्ट्रीयताका अस्तित्व राज्यका अस्तित्व समाप्त हो जाने पर भी बना रह सकता है। या तो एक राज्यमें एकसे अधिक राष्ट्रीयताओं और जातियोंका समावेश रहता है अथवा एक राष्ट्रीयता या जाति एक से अधिक राज्योंमें बिखरी रहती है। राष्ट्रीय निष्ठा और राज्यकी निष्ठा दो भिन्न वस्तुएं हैं और जोजेफ (Joseph) के अनुसार दोनोंका अस्तित्व एक साथ रह सकता है क्योंकि राष्ट्रीयता केवल इतना

चाहती हैं कि सांस्कृतिक और सामाजिक जीवनके लिए स्वाधीनता हो और कुछ हद तक यूथ-स्वायत्तता (group autonomy) हो—खासकर साम्प्रदायिक मामलोंमें। उनका विश्वास है कि संसारमें शान्ति और व्यवस्थाकी आशा इस सिद्धान्तके माने जानेमें ही है कि अनेक राष्ट्रीयताएं या जातियां एक ही राज्यके भीतर सहयोग और शान्तिके साथ रह सकती हैं और उनमेंसे प्रत्येक अपने राष्ट्रीय जीवनका अनुगमन कर सकती है (४३:३३१)।

हम प्रो० हॉकिंग (Prof. Hocking) के इस विचारसे सहमत हैं कि किसी भी राष्ट्रीयता या जाति को एक राज्य बननेका जन्मसिद्ध अधिकार नहीं प्राप्त है। हमारे सभी अधिकार शर्तों सहित (conditional) अथवा आनुमानिक (presumptive) होते हैं। रैम्जे म्यूर (Ramsay Muir) के शब्दोंमें 'मोटे तौर पर ही यह बात सही है कि प्रत्येक राष्ट्र या जातिको स्वाधीनता और एकताका अधिकार होना है। व्यक्तियोंकी भांति राष्ट्रों या जातियोंको भी अपने अधिकारोंका अर्जन करना होता है।' 'किसी जातिको तभी जीवित रहनेका अधिकार है जब इस अधिकार के उपयोगसे स्वयं उसका और समाजका लाभ हो।' किसी खास जाति या राष्ट्रीयता को राज्यका पद मिलना चाहिए या नहीं, इसका निर्णय उस जातिकी परिपक्वता पर, और कुछ अंशोंमें उसके आकार तथा उसकी दृढ़ता पर निर्भर करता है।

किसी राष्ट्रके स्वतंत्र और सम्प्रभु बन सकनेसे पहले उसमें निम्नलिखित बातों का होना जरूरी है: (क) उसमें अपनी सम्पत्तिकी व्यवस्था करने और अपने प्राकृतिक साधनों तथा अपनी पूंजीका विकास कर सकनेकी क्षमता होनी चाहिए। (ख) उसे अच्छी विधियां बनानी चाहिएं और न्यायकी उचित व्यवस्था करनी चाहिए। राज्यक्षेत्रातीत न्यायालयों (extra-territorial courts) की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। (ग) उसे एक उपयुक्त ढंगकी सरकार स्थापित करनी चाहिए। (घ) उसे व्यापार करने देने, कर्ज अदा करने और यात्रा की अनुमति देने का अपना कर्त्तव्य स्वीकार करना चाहिए। (च) उसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें अपनी जिम्मेदारी पूरी करनी चाहिए। उसे राजदूतोंको अपने यहां आमंत्रित करना चाहिए, विवादोंमें मध्यस्थता स्वीकार करना चाहिए और सन्धियां करनी चाहिए, आदि आदि। उसके पास ऐसे नागरिक होने चाहिए जो गौरवके साथ उचित ढंगसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनोंमें उसका प्रतिनिधित्व कर सकें। (छ) जब तक युद्धोंका होना जारी है तब तक उसे विदेशी आक्रमणोंसे अपनी रक्षा करनेमें समर्थ होना चाहिए।

क्या राष्ट्रीयता एक वरदान है? (Is Nationalism a Blessing?). अनेक विचारक राष्ट्रीयतावादके बहुत बड़े प्रशंसक और भक्त हैं। वे इसमें अच्छाइयां ही अच्छाइयां पाते हैं। पर अन्य लोगोंका कहना है कि व्यवहारतः राष्ट्रीयतावाद से अनेक बुरे परिणाम निकले हैं। इन लोगोंका विश्वास है कि राष्ट्रीयतावाद अपने वर्तमान रूपमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावनाका सबसे बड़ा शत्रु है। राष्ट्रीयतावाद पर अपने निबन्ध में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ने निस्संकोच राष्ट्रीयतावादको बुरा कहा है। वह उसे समूची जातिका सामूहिक और सगठित स्वार्थ; 'आत्म पूजा' 'स्वार्थी उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए राजनीति और व्यवसायका सगठन'; 'शोषण के लिए सगठित शक्ति' आदि कहते हैं। राष्ट्रीयता देशोके पारस्परिक सम्बन्धोको इतना कटु बना देती है कि एक दूसरेकी संस्कृति और सम्यताका ठीक-ठीक अध्ययन प्रायः असम्भव हो जाता है। हेज (Hayes) ऐसी राष्ट्रीयताकी निन्दा करते हैं जिसमें अपनी जाति या राष्ट्रके बारेमें तो अभिमान और गर्व रहता है और अन्य राष्ट्रोंके प्रति तुच्छता और विद्वेषके भाव रहते हैं। उनका कहना है कि १९वी और २०वी शताब्दीमें राष्ट्रीयतावादका इतिहास गौरवपूर्ण नही रहा है। शिलिटो (Shillito) के शब्दोमें राष्ट्रीयता 'मनुष्य का दूसरा धर्म' बन गयी है। यह भावनात्मक (sentimental), सवेगात्मक (emotional) और प्रेरणा-मूलक (inspirational) है। किसी भी धर्मकी अपेक्षा इसके कहीं अधिक कट्टर अनुयायी हैं। यह ससारके लिए एक सन्देश रखनेका दावा करती है। आधुनिक समयमें राष्ट्रीय अधिकारों, राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय नीतिके नाम पर लाखो व्यक्तियोका जीवन और करोड़ोंकी सम्पत्ति बर्बादकी जा चुकी है। राष्ट्रीयतावाद विदेशोंसे घृणा करना सिखाता है। इस प्रकारकी आक्रामक राष्ट्रीयताको 'भेड़ियोंकी आक्रामक राष्ट्रीयता' ठीक ही कहा गया है। और यही राष्ट्रीयता युद्धके बीज बोती है और निम्नतम कोटिके साम्राज्यवादमें बदल जाती है। इस प्रकारकी भेड़ियों-सी आक्रामक राष्ट्रीयता' के उदाहरण सैनिकवादी जापान, फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी मे मिलते है।

हम राष्ट्रीयताका पूरा-पूरा अर्थ तब तक नही समझ सकते जब तक सास्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रोंमें भी उसकी व्याख्या न की जाय। सांस्कृतिक क्षेत्र में तो राष्ट्रीयता एकता बढानेवाली शक्ति रही है पर आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में वह विभेद उत्पन्न करनेवाली शक्ति ही रही है। अतिवादी आर्थिक राष्ट्रीयताका {जिसे आर्थिक आत्मनिर्भरताका नाम दिया गया है (Autarchy)} उद्देश्य पूर्ण आर्थिक आत्मनिर्भरता है। आर्थिक राष्ट्रीयता एक निश्चित सीमासे आगे बढने ही युद्धका कारण बन जाती है। यह एक ऐसा हथियार है जो लौटकर, चलानेवालेके सिर पर ही घातक चोट करता है। आर्थिक आत्मनिर्भरता मूर्खता है। पिछले वर्षोंमें केनाडामें गेहूके जलाये जाने, अमेरिका में सेब और दूधके नदियोंमें बहाये जाने और ब्राजीलमें कॉफी समुद्रमें फेंके जानेके दृश्य हमने उस समय देखे हैं, जब कि ससारके अन्य देशोंमें लाखो व्यक्ति भूखसे मर रहे थे। आर्थिक आत्मनिर्भरता की इस आलोचनाका मतलब यह नहीं है कि हम चाहते हैं कि राष्ट्रोंको अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मामलोंमें पूरी छूट रहे। हम चाहते हैं कि प्रत्येक राष्ट्रके भीतर भी और राष्ट्रोंके बीच भी आयोजित अर्थ-नीति बरती जाय।

ऊपर बतायी गयी आक्रामक राष्ट्रीयता और आत्मशोधक राष्ट्रीयतामें अन्तर हमें पहचानना होगा। आत्मशोधक राष्ट्रीयताका आदर्श है 'जियो और दूसरोंको जीनेमें

महायता दें'। ऐसी राष्ट्रीयता अपने पड़ोसी देशों, राष्ट्रों, सुदूर अफ्रीका या एशियाके पिछड़े प्रदेशों अथवा समुद्रके द्वीपोंको हड़पनेकी नौबत नहीं रखती। यह राष्ट्रीयता राष्ट्रीय आत्मसम्मानका पर्याय है। कभी-कभी इसे 'भेड़ोंकी आत्मरक्षा-मूलक राष्ट्रीयता' कहते हैं।

जहां तक भारतका सम्बन्ध है, राष्ट्रीयता हमारे लिए जरूरी है। हमारा अस्तित्व ही राष्ट्रीयता पर निर्भर है; यह हमारे जीवन-मरणका प्रश्न है। यद्यपि अपने सारे दुर्भाग्योंके लिए विदेशियोंको जिम्मेदार ठहराना मूर्खता है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजोंकी लम्बी गुलामीने हममें काफी बुराइयां पैदा कर दी हैं जिनका वास्तविक प्रतिकार आत्मनिर्णय (self-determination) है। भय, कायरता और छलछन्द जैसी बुराइयोंको राजनीतिक राष्ट्रीयता ही दूर कर सकती है।

राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त हो जाने पर अब भारत को सांस्कृतिक और मानवतावादी राष्ट्रीयताकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। 'मानवताका आदर्श, एक लक्ष्य और पथ-प्रदर्शकके रूपमें समस्त राष्ट्रोंसे ऊंचा है (हैलोवेल)।' आर्थिक तौर पर पिछड़े होनेके कारण भारत को अगले कुछ वर्षों तक अपने उद्योगोंको ही प्राथमिकता देनी होगी। पर हमारा लक्ष्य एक ऐसी सुविचारित राष्ट्रीय योजना होना चाहिए जो संसारकी योजनाका एक अभिन्न अंग हो।

राष्ट्रीयता एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसे मिटाया नहीं जा सकता। यह प्रेरणा-मूलक है। इसका मूल है मनुष्यकी सामाजिक भावना और कबायली-मनोवृत्ति। एक यहूदी अमेरिकी लेखकका कहना है कि 'लोग अपनी राजनीतिको, अपनी पत्नियोंको, अपने धर्मको और अपने दार्शनिक सिद्धान्तको बदल सकते हैं पर वे अपने पूर्वजोंको नहीं बदल सकते (३२ : १०८)।' पर राष्ट्रीयता नामकी चीज आजकल अकसर एक 'जंगलीपने की देश-भक्ति' से अधिक कुछ और नहीं है; यह आक्रामक कट्टरपंथी साम्राज्यवाद है। इसलिए यदि हम फ्रैंज ग्रिलपार्जर (Franz Grillparzer) द्वारा बताये गये 'मानवतासे राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयतासे पाशविकता' वाले क्रमसे अपनेको बचाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि संसारके राष्ट्र 'एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणका, सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनाका और मैत्रीका विकास करें।' यह तभी किया जा सकता है जब उपयुक्त सार्वजनिक शिक्षा हो, संस्कृतियों का सम्मिलन और उनका विकास हो, जातीय असहिष्णुता दूर की जाय, दूसरोंको परेशान करनेवाले आयात-निर्यात-सम्बन्धी विधियों और प्रवास-सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाया जाय, निरस्त्रीकरण हो और चरम सम्प्रभुताके पिटे-पिटाये सिद्धान्तका परित्याग किया जाय। हेज (Hayes) के शब्दोंमें 'राष्ट्रीयता जब विशुद्ध देश-भक्तिका पर्याय बन जायगी तब वह मानवता और समस्त संसारके लिए एक अनुपम वरदान सिद्ध होगी (३२ : २७५)।'

ऐसी ही राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयताका मार्ग बन सकती है। 'एक आदर्श अन्त-

राष्ट्रीय ससारका अर्थ एक ऐसा ससार है, जिसमें सभी राष्ट्र अपनी श्रेष्ठतम स्थितिमें हों (४३ : ३३८)।' विश्वके भावी कल्याणके लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के हितमें न केवल हमारे दिमागको शिथिल किया जाय, बल्कि हमारी इच्छाओं और हमारी भावनाओंका भी सस्कार किया जाय। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो अलगपनकी प्रवृत्तिको दूर करे और पारस्परिक सहयोग और समझौतेकी भावनाको बढ़ावा दे—ऐसी शिक्षा जो हमारी दास-वृत्तिको समाप्त कर सके, हमारे भीतर विवेक-बुद्धि जाग्रत् कर सके और स्वतन्त्र निर्णय लेनेकी शक्ति दे सके (३२ : २७२)।' अपनेको दूसरोंसे अलग रखनेवाली राष्ट्रीयताका और जातीय उच्चताका सिद्धान्त आधुनिक ससारके अभिशाप हैं।

साम्राज्यवाद (Imperialism)

साम्राज्यवादका अर्थ (The Meaning of Imperialism). कुछ लोगों की रायमें साम्राज्यवादका अर्थ है, शुद्ध भौतिक लाभके लिए कमजोर जातियोंका आर्थिक शोषण और उन पर राजनीतिक प्रभुत्व। दूसरे लोग उसे पिछड़े हुए देशोंके प्रति प्रगतिशील देशोंका ऐसा पावन कर्तव्य मानते हैं जिसे पूरा करनेमें प्रगतिशील देशोंको हिचकना नहीं चाहिए। ये दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। पिछड़े हुए देशोंका निर्दयतापूर्वक शोषण करनेकी एक सावधानीपूर्वक सुविचारित कार्य-योजना साम्राज्य-वादके इतिहाससे उतनी ही परे है, जितना परे दूसरोंको सभ्य बनानेका सुविचारित पवित्र ध्येय है जिसे श्वेतांगोंका भार (white man's burden) कहकर इन शब्दोंका बहुत अधिक दुरुपयोग किया गया है।

साम्राज्यवादकी एक ऐसी परिभाषा दे सकना बहुत कठिन है जो प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकारके साम्राज्यों पर सटीक लागू हो सके। आधुनिक युगमें ही साम्राज्यवादने अनेक रूप धारण किये हैं। ऐसा कोई स्वतः सिद्ध प्रमेय नहीं है जिसके द्वारा यह निश्चय किया जा सके कि 'साम्राज्यवादका झण्डा व्यापार का अनुगमन करता है या व्यापार झण्डेका अनुगमन करता है।' कुछ साम्राज्योंका जन्म तो आकस्मिक घटनाओंमें हुआ है और कुछ साम्राज्य, जानबूझकर पहलेसे बनायी गयी योजनाओंके परिणाम हैं। प्राचीन साम्राज्य अधिकतर कर वसूल करने और सैनिक भरती करनेके साधन थे। हारे हुए राज्यों पर विजयी राष्ट्रोंके उच्चतर सैनिक बलकी अभिव्यक्ति इन साम्राज्योंके रूपमें होती थी। आधुनिक साम्राज्य अधिकतर आर्थिक और सामरिक उद्देश्योंके लिए होते हैं।

सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कहना है कि 'साम्राज्यवाद उस सामान्य पद्धति का नाम-मात्र है जिसके अनुसार विभिन्न देशोंमें विविधा बनती है और शासन होता है। यह क्षेत्रीय राष्ट्रीयता के जहर को मारता है और इसकी स्थिति क्षेत्रीय राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीचोंबीच यानी इन दोनोंके समान

अन्तर पर है।' इस परिभाषाका वाद वाला अंश निश्चय ही यथार्थ नहीं है। यह अंश उस नीतिके अन्तर्गत आता है जिसे प्रो० हॉकिंग (Prof. Hocking) 'वाक्छलकी नीति' (ethics of evasion) कहते हैं और 'यथार्थताकी नीति' (ethics of severity) के साथ जिसका विरोध बताते हैं। प्रो० शूमन का कहना है कि चाहे जितने बहाने किये जायं और नैतिकता का चाहे जितना ढिंढोरा पीटा जाय, यथार्थता यह है कि अधीन देशों पर शक्ति और हिंसाके बल पर, विदेशी राज्य स्थापित रखना ही साम्राज्यवाद है।

सामाजिक विज्ञानोंके विश्व-कोषमें साम्राज्यवादकी जो काम चलाऊ परिभाषा दी गयी है वह यह है कि साम्राज्यवाद एक नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्यकी रचना, व्यवस्था और प्रतिष्ठा करना है। वह एक ऐसा राज्य है जिसका आकार बहुत बड़ा होता है जिसमें अनेक पृथक राष्ट्रीय इकाइयां शामिल रहती हैं और जो एक केन्द्रीय इच्छाके अधीन रहता है।' इस परिभाषाको हम यदि अंग्रेजी साम्राज्य पर लागू करते हैं तो हम देखते हैं कि जहां तक साम्राज्यके स्वशासित भागोंका सम्बन्ध है, उनमें यद्यपि कुछ 'विशिष्ट आध्यात्मिक सम्बन्ध' हैं, फिर भी कोई एक केन्द्रीय इच्छा नहीं है क्योंकि प्रत्येक उपनिवेशको पूर्ण स्वायत्त अधिकार प्राप्त है जिसे कुछ लोगोंने 'औपनिवेशिक सम्प्रभुता' (Dominion Sovereignty) कहा है। जहां तक शेष साम्राज्यका सम्बन्ध है, केन्द्रीय इच्छा विभिन्न मात्राओं और रूपोंमें अपनेको व्यक्त करती है।

आधुनिक साम्राज्यवादका अध्ययन करनेसे पता चलता है कि उपनिवेशीकरण उसका उतना महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है जितना संसारके पिछड़े हुए भागोंका आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण है। इसलिए व्यापार, अतिरिक्त पूंजी लगाने (investment of surplus capital) और राजनीतिक नियन्त्रण पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाता है। दूसरे शब्दोंमें जिन उपनिवेशोंमें आबादी बसाई जा सकती है उनकी अपेक्षा उन उपनिवेशोंका मूल्य अधिक है जिनका शोषण किया जा सकता है।

साम्राज्यवादके कारण (Causes of Imperialism). साम्राज्यवाद के कारण विभिन्न हैं। अपने प्रारम्भिक और आदिम रूपमें साम्राज्यवाद मनुष्य की लुटेरी वृत्तिका परिणाम था और इस प्रकारके साम्राज्यवादका आज भी अभाव नहीं है। निम्न-कोटिके जीवोंमें भी हम देखते हैं कि बड़ी मछलियां छोटी मछलियोंको निगल जाती हैं और बन्दरोंकी एक जाति दूसरी जातिको नया आश्रय खोजनेके लिए खदेड़ देती है। यही प्रवृत्ति हमें मनुष्योंमें भी दिखायी देती है। चरागाहों, भोजन और अन्य ऐसी ही वस्तुओंकी खोजमें जातियोंके संसारके एक भाग से दूसरे भागको जाने तथा एक कबीले द्वारा दूसरे कबीलेके जीते जानेमें मनुष्य की इस लुटेरी प्रवृत्तिका परिचय हमें पर्याप्त मात्रामें किसी न किसी रूपमें मिलता है। कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति निर्दय आक्रमण और रक्तपात-पूर्ण युद्धोंके रूपमें व्यक्त होती है और कभी उच्चतर कौशल और चतुराई द्वारा क्रमिक ढगसे दूसरोंको उनके स्थानसे हटानेका रूप धारण करती है।

जब हम प्रारम्भिक साम्राज्योको छोडकर उत्तरकालीन साम्राज्यो पर विचार करते है तो हमें उनके विस्तारमें विजय-लालसा और शक्तिके लिए प्रतियोगिता मूलक सघर्ष महत्त्वपूर्ण काम करता दिखायी पडता है। आधुनिक साम्राज्योके निर्माण को सबल प्रेरणा निस्सन्देह ससारके मानचित्रको लाल या किसी और रग से रग देने की अनियत्रित इच्छा से मिली है। सेसिल रोड्स (Cecil Rhodes) को इस बातका अभिमान था कि वह महाद्वीपोकी बाते सोचता था। उपनिवेशो और सैनिक सफलताओको प्राय राष्ट्रीय शक्ति और गौरव माना जाता है। प्रो० शूमन (Prof. Schuman) का विश्वास है कि आधुनिक साम्राज्यवाद शक्ति-प्राप्तिकी इच्छा और विजय-लालसाकी एक नयी अभिव्यक्ति है। १९३२ में मुसोलिनी (Mussolini) ने इस आदर्शको बडे स्पष्ट शब्दोमें इस प्रकार व्यक्त किया था: 'फासिस्ट राज्य, शक्ति और साम्राज्य-प्राप्तिकी इच्छा है। शक्तिका विचार ही रोमन परम्परा है। फासिस्ट सिद्धांतके अनुसार साम्राज्यवादका मतलब केवल प्रादेशिक, सैनिक, और व्यावसायिक विस्तार ही नही है। अपितु इसका मतलब आध्यात्मिक और नैतिक प्रसार भी है। फासिस्टवादकी दृष्टिमें साम्राज्यवादी प्रवृत्तिका अर्थ है, राष्ट्रका विस्तार और राष्ट्रीय ओजकी अभिव्यक्ति'। साम्राज्यवादका अर्थ है विस्तार।

देशकी बढी हुई आबादीको स्थान देनेके लिए भी उपनिवेशो की इच्छाकी जाती है। १९४१ तक जापानकी यही दलील थी। लेकिन उसके बाद दूसरे देशो पर अधिकार करनेकी अभिलाषा भी उसमें आ गयी। इटली भी वर्षों तक यही कहता रहा कि उसका 'सकीर्ण, पर सुन्दर प्रायद्वीप' उसके दसियो लाख निवासियोके लिए काफी नही पडता और इसलिए उसे नये उपनिवेशोकी खोज करनी है। साम्राज्यवादको अधिक आबादीका प्रतिकार बताने वाले तर्कके बारेमें एक विशेष बात यह है कि व्यवहारमें यह तर्क इसी रूपमें कार्यान्वित नही होता। बहुत थोडे ही जापानी कोरिया, फारमोसा और मन्चूरियामें बसने गये। लीबिया और इटेलियन सोमालीलैण्डमें बसनेके लिए इटलीको छोडकर जाने वालोकी सख्या नगण्य थी। इसके अतिरिक्त, जैसा कि किसी ने हंसीमें कहा है, "किसी देशको छोडकर जाने वालोके बदले उस देशमें शीघ्र ही स्वर्गसे नये प्रवासी आकर बस जाते है।' अर्थात् जितने छोडकर जाते है उतने ही नये पैदा हो जाते है।

आधुनिक साम्राज्यवादके सबसे अधिक मौलिक कारणोमें से एक कारण आर्थिक है। आजकल ससारके अधिकाश साम्राज्यवादी राष्ट्र अत्यधिक उद्योग विकसित राष्ट्र है जो कच्चे मालके लिए पिछडे हुए देशों पर निर्भर करते है। डॉ० शाख्ट (Dr. Schacht) कहते है कि "कच्चे मालके लिए होने वाला सघर्ष ससारकी राजनीतिमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। प्रथम महायुद्धके बाद से तो इसका महत्त्व और भी बढ गया है। पर आकडोंसे पता चलता है कि सम्भवत: ब्रिटेनको छोडकर अन्य कोई भी साम्राज्यवादी देश अधिकाश कच्चे मालके लिए अपने उपनिवेशों पर ही निर्भर नहीं रह सकता। पार्कर मून (Parker Moon) का

कहना है कि इस सामान्य धारणामें कोई सच्चाई नहीं है कि साम्राज्यवादी देशको अपने उपनिवेशोंमें पैदा होने वाले कच्चे मालका अधिकांश भाग मिल जाता है। वह लिखते हैं कि साधारणतया कच्चे माल रगान्ध होते हैं। वे किसी राष्ट्रीय झण्डेको नहीं पहचान पाते; वे माग और पूर्तिके नियमका पालन करते हैं, दूरी और यातायात के व्ययसे प्रभावित रहते हैं; राजनीतिक नियत्रणके बजाय वे आर्थिक नियत्रणके अधिक आज्ञानुवर्ती होते हैं।'

उपनिवेशोंका मूल्य कच्चे मालके उत्पादकोंकी अपेक्षा तैयार मालके बाजारों के रूपमें अधिक होता है। जोजेफ चेम्बरलेन (Joseph Chamberlain) का कहना है कि साम्राज्यका मतलब है वाणिज्य। अपने देशमें तैयार की गयी वस्तुओंको अपने उपनिवेशोंमें खपानेके लिए रियायती चुगी (preferential tariffs) और वाणिज्य भेदभाव (Commercial discrimination) का सहारा लिया जाता है। एक उपनिवेशमें जिस देशका अधिकार होता है; उस उपनिवेशमें उस देशसे आने वाली वस्तुओं पर अन्य देशोंसे आने वाली वस्तुओं की अपेक्षा कम चुगी लगायी जाती है। फलतः उस देशकी वस्तुएं अन्य देशोंकी वस्तुओंके मुकाबिलेमें सस्ती पड़ती हैं और अधिक बिकती हैं। पर ये तरीके पूरी तरह सफल नहीं रहे हैं। ऍड्र्यू कारनेगी (Andrew Carnegie) के कथनानुसार व्यापार किसी झण्डेके पीछे नहीं चलता, वह प्रचलित निम्नतम मूल्यके पीछे चलता है। आर० एल० ब्युएल (R. L. Buell) का अनुमान है कि 'ससारके व्यापारका केवल पाचवां भाग उन देशोंके साथ होता है जो साम्राज्यवादी आधिपत्य में हैं; शेष ⅘ व्यापार स्वतत्र देशोंके साथ होता है। फिर भी, साम्राज्यवादसे एक औद्योगिक राष्ट्रके तैयार मालकी बिक्रीके लिए अतिरिक्त बाजार तो प्राप्त होते ही हैं (६३ : २५१)।' सबसे अधिक ध्यान देनेकी बात यह है कि सामान्य जनताको साम्राज्यवादसे कोई लाभ नहीं होता। थोड़ेसे उद्योगोंको ही साम्राज्यवादसे लाभ होता है। इन उद्योगोंमें रूई, लोहा, इस्पात और तेलके उद्योग प्रमुख हैं। ईरानकी वर्तमान विस्फोटक स्थिति मनोरजक अध्ययनकी वस्तु है। वहा साम्राज्यवाद और समाजवादका सघर्ष है; एक दरिद्र बनाया गया राष्ट्र अपनी सम्प्रभुताके लिए और अपने प्राकृतिक साधनों यानी तेल का लाभ स्वय पानेके लिए सघर्ष कर रहा है।

साम्राज्यकी उपयोगिता और उसका मूल्य केवल यह नहीं है कि वह अतिरिक्त वस्तुओंकी बिक्रीके लिए बाजारका काम देता है, बल्कि उसकी उपयोगिता और महत्व इस बातमें भी है कि वहां अतिरिक्त पूजी लगायी जा सकती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मध्य और दक्षिणी अमेरिकामें तथा ससारके दूसरे भागोंमें बड़ी-बड़ी पूजी लगाकर उनकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंको प्रभावित करता है। इसे 'डालर-कूटनीति (Dollar diplomacy)' कहते हैं और यह उतनी ही प्रभावशालिनी होती है जितनी अधिकार करने वाली विदेशी सेना।

सरकारी और कूटनीतिक साधनोंका प्रयोग पिछड़े हुए देशोंको उन्नतिशील देशोसे धन उधार लेनेके लिए मजबूर करनेमे न सही पर फुसलानेमें तो किया ही जाता है।

केवल साम्राज्यवादी देशोकी सरकार द्वारा ही नही; बल्कि उन देशोके व्यक्तिगत नागरिको और गैर-सरकारी कम्पनियो द्वारा भी पूजी उधार दी जा सकती है। यह बात उन देशोमें खास तौरसे पायी जाती है जहा मजदूरी सस्ती होती है, मजदूर बहुत अधिक होते है और वे अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नही होते। इस प्रकार के साम्राज्यवादके समर्थनमें बहुधा यह कहा जाता है कि यदि कोई देश अपने प्राकृतिक साधनोका पूरा उपयोग नहीं कर सकता है तो किसी भी दूसरे प्रगतिशील देशको इस बातका प्राकृतिक अधिकार है कि वह उस देशके प्राकृतिक साधनोका उपयोग करे; क्योकि ससारके साधन उन लोगोकी सम्पत्ति है जो उनका सबसे अच्छा उपयोग कर सके। पर यह तर्क सबल राष्ट्रो द्वारा दुर्बल राष्ट्रोंके पक्षमे कभी नही स्वीकार किया जाता। यदि यह स्वीकार किया जाय तो केनाडा, आस्ट्रेलिया और अफ्रीकाके कुछ हिस्सोमें जो बडे-बडे भू-प्रदेश ऐसे पडे है जिनमें कोई खेती-बाड़ी नही की जाती है उनको अपनी सम्पत्ति बनानेका सहज अधिकार जापान, चीन और भारत के लाखो गरीब, पर मेहनती लोगोको मिल जाय। पर यह आशा करना व्यर्थ है कि साम्राज्य-वादी दूसरोका शोषण करते समय जो तर्क दूसरो पर लागू करते है वही तर्क अपने ऊपर भी लागू करेगे।

साम्राज्यवाद कुछ चुने हुए थोडेसे लोगोंको ही अनेक प्रकारकी सुविधाएं देता है। वह विदेशी पूजी लगानेका, विदेशी उप-वाणिज्य दूतो (pro-consuls), कूटनीतिज्ञो और विदेशी असैनिक प्रशासन-सेवको (civil servants) को जगहें देनेका, तथा विदेशी सेनाके भरण-पोषणका बहुत बड़ा अवसर उत्पन्न करता है और इन सबका बर्दाश्तके बाहर भारी खर्च आश्रित देशके निवासियोंके मत्थे मढ दिया जाता है। एमरी (Amery) महोदय भले ही रोषके साथ कहे कि 'भारत ने ब्रिटेनको कोई कर नही दिया' पर वह भूल जाते है कि ब्रिटेनके अर्धसरकारी इन्स्टिट्यूट ऑफ इन्टरनेशनल अफेयर्स (Institute of International Affairs) ने अपने वक्तव्यमें कहा है कि प्रत्येक चार अग्रेजोमें से एकको जीविका भारत पर सीधे निर्भर करती थी। जो देश विदेशी आधिपत्यके अधीन होता है उसकी नागरिक और सुरक्षा-सम्बन्धी अधिसेवाए निश्चित रूपसे सीमित रहती है। और विदेशी व्यापारी, सौदागर, बगीचे लगाने वाले (चाय आदिके) और सयुक्त पूजीवाली कम्पनियां (joint stock companies) सभी उस देशके स्वशासन प्राप्त करनेके प्रत्येक प्रयत्नका विरोध करनेकी एक दृढ दीवार बन जाते है।[1] इनके

[1] अल्जीरियामें जो कुछ हो रहा है उस पर दृष्टिपात करिए। अल्जीरिया को फ्रांस का एक भाग बनाया जा रहा है और वहाके फ्रांसीसी प्रवासी अल्जीरिया-वासियों को स्व-शासन दिये जानेके हर प्रयत्नका विरोध कर रहे है।

अतिरिक्त जो दूसरे लोग साम्राज्यवादसे लाभ उठाते हैं और जिनसे निहित स्वार्थोंका एक वर्ग बनता है वे हैं जहाजोंके मालिक, शस्त्रास्त्रों और सैनिक सामानोंके निर्माता, सैनिकों और रेल्वे कर्मचारियोंकी वर्दियों और रेल्वे तथा समुद्री तार सम्बन्धी वस्तुओंके उत्पादक।

आधुनिक युगमें साम्राज्यवादका दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण कूटनीति है। साम्राज्यवादसे साम्राज्यवादका जन्म होता है। स्वेज नहर में ब्रिटेन की गहरी रुचि, मिस्र पर उसका अप्रत्यक्ष नियंत्रण, निकट पूर्वमें किसी न किसी रूपमें अपनी अधिकार सत्ता और मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए उसके प्रयत्न और ईरान पर उसका आर्थिक आधिपत्य आदि सबका रहस्य और महत्त्व भारत पर उसके भूतपूर्व आधिपत्यकी भूमिकामें ही समझमें आता है।[१] सिंगापुरका अंग्रेजी जहाजी बेड़ा जापानको यह चेतावनी देनेके लिए था कि वह ऑस्ट्रेलिया तथा पूर्वमें ब्रिटिश साम्राज्यके और किसी हिस्से पर कदम रखनेका साहस न करे। ऐसे ही सैनिक और समुद्री कारणोंसे फ्रांस ने कुछ समय तक जिबूटी (Jibuti, Somaliland protectorate) पर अपना नियंत्रण रखा था। अफ्रीकाके अधीन प्रदेशोंके वह अपने लिए फौजोंकी खान समझता था। दूसरे प्रदेशोंको हथियानेके प्रधान कारणोंमें से एक कारण अपनी सैनिक शक्तिको बढ़ाना है।

साम्राज्यवादियोंकी श्रेणीमें शामिल होनेवाले दो नये राष्ट्र हैं—सोवियत रूस और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका। यद्यपि दोनोंका साम्राज्यवाद एक ही प्रकारका नहीं है। सोवियत रूसका आरम्भ बड़े ही सुन्दर ढंगसे साम्राज्यवाद विरोधी शक्ति के रूपमें हुआ। पर रूस जल्दी ही राष्ट्रीयतावादी हो गया और फिर आगे चलकर १९३९ के बादसे वह साम्राज्यवादी और सैनिकवादी हो गया। रूस अपने साम्राज्यवादको आदर्शात्मक मानता है तथा वह अपने पिछलग्गू राष्ट्रोंको नकेल अपने हाथमें रखता है। उसका प्रिय तरीका यह रहा है कि जो देश उसके प्रभावमें आ चुके होते हैं या जो देश उसके प्रभावमें आ रहे हैं उन सब देशोंकी कम्यूनिस्ट पार्टियोंको अपना साधन बनाकर अपना काम निकाला जाय। ये राज्य सोवियत रूसको कोई राज्य-कर नहीं देते। पर रूस द्वारा उनकी अर्थनीति और राजनीतिका यदि नियंत्रण नहीं तो सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य होता रहता है। इनमें से कुछ का उपयोग कभी-कभी रूस की उद्देश्य-सिद्धिके लिए साधन रूपमें भी होता है। स्तालिन की मृत्युके बादसे हालतें बदलने लगी हैं। रूस अपने कुछ पड़ोसी और पिछलग्गू राष्ट्रों पर अपना नियंत्रण

---

[१] आज परिस्थिति बदल गयी है। मिस्र आज स्वतंत्र है और स्वेज नहर मिस्रके अधिकारमें है। ईरान भी अपना शासन करनेके लिए और एक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रणमें अपने तैल-साधनोंसे लाभ उठानेके लिए स्वतंत्र है। इस सारी हानिको पूरा करनेके लिए ब्रिटेनने बगदाद-सन्धिकी है जिसमें तुर्की, ईराक, पाकिस्तान और स्वयं वह शामिल है।

अब ढीला कर रहा है। पर हालमें उसने हंगरीको अपने चंगुलमें कर लिया है।

संयुक्त राज्य अमेरिकाने, द्वितीय विश्व-युद्धके बादसे खास कर, अप्रत्यक्ष तौर पर साम्राज्यवादी-नीति अपनाई है। उसका प्रधान उद्देश्य संसार भरमें सामरिक महत्त्वके समुद्री और हवाई अड्डोंको प्राप्त करना तथा राष्ट्रोंमें मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना है ताकि साम्यवादको सीमित रखा जा सके जिससे अमेरिका बहुत ही भयभीत है। अमेरिकी साम्राज्यको प्रतिनिधि साम्राज्यवाद (Imperialism by proxy) या अप्रत्यक्ष साम्राज्यवाद कहा जा सकता है जैसा कि हिन्द चीन में था। यदि नेदरलैण्डकी सरकारको अमेरिकी सहायता न मिली होती तो हिन्देशिया बहुत पहले स्वाधीन हो गया होता। अमेरिका हिन्देशियामें जो कुछ करनेमें असफल रहा है वही काम उसने हिन्दचीन, मलाया और फॉरमोसामें तथा प्रशान्त महासागरके कुछ सामरिक महत्त्वके द्वीपोंमें सफलतापूर्वक कर दिखाया है। अमेरिकाने पश्चिमी योरोपके साथ सैनिक सन्धि की है जो 'नाटो' (NATO) के नामसे प्रसिद्ध है। वह जापान, फिलिपाइन्स, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और पाकिस्तानके साथ सैनिक सम्बन्ध जोड़ रहा है। योरोप और एशियाके अनेक देश, जैसे फिलिपाइन्स, दक्षिणी वियतनाम, थाईलैण्ड और पाकिस्तान प्रधानत. सैनिक सहायता द्वारा और गौणत: आर्थिक सहायता द्वारा अमेरिकाके प्रभावमें लाये जा चुके हैं। उधार पट्टा करार (Lend-lease Agreement) इस प्रकारका नियंत्रण स्थापित करनेमें महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। अमेरिकी प्रभावमें जानेसे बचनेमें भारत अब तक सफल रहा है, यद्यपि उसने अमेरिकी गेहूं खरीदनेके लिए कर्ज और काफी मात्रामें मुफ्त आर्थिक सहायताको कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघका संचालन कुछ इस ढंगसे किया जाता है कि उससे अमेरिकी वैदेशिक नीतिको ही बढ़ावा मिलता है। ब्रिटेन एक प्रकारसे अमेरिकाका नवीनतम "औपनिवेशिक प्रदेश" बन चुका है।

अमेरिकी लोग अब भी साम्राज्यवादको पाप समझते हैं। उन्हें अब भी याद है कि ब्रिटेन के जॉर्ज तृतीय के समयमें अमेरिकी उपनिवेशोंकी क्या दुर्गति हुई थी। पर वह यह अनुभव नहीं कर रहे हैं कि आधिपत्य जमानेकी वर्तमान होड़में, राष्ट्रीय आकांक्षाओंके कुचलनेमें वे अप्रत्यक्ष रूपसे सहायक हो रहे हैं—विशेषकर एशियामें— तथा अन्य लोगोंके हित या अहितके एकमात्र निर्णायक बन रहे हैं जैसा कि आज जापानमें हो रहा है। चीन अब पूर्ण स्वतन्त्र है। अतः उसमें अमेरिका का कोई दखल नहीं है। पाकिस्तानको हथियारोंसे लैस करके और पाकिस्तानी सैनिकोंको प्रशिक्षित करके वर्तमान अमेरिकी नीति शीत-युद्धको भारतके दरवाजे तक ले आयी है।

साम्राज्यवादके समर्थनमें कभी-कभी धार्मिक और मानवतावादी तर्क भी दिये जाते हैं। १७वीं शताब्दीमें धर्म प्रचार साम्राज्यवादका एक महत्त्वपूर्ण कारण था। उस समय फ्रास द्वारा श्याम का हस्तगत किया जाना अधिकतर जेसुइट (Jesuit) धर्म प्रचारकोंका काम था। धर्म प्रचारक साम्राज्य निर्माताओंमें से अफ्रीकाके डेविड लिविंगस्टन (David Livingstone) का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

अफ्रीकामें ब्रिटिश साम्राज्यवादके विस्तारके साथ लन्दनकी धर्म प्रचार समिति (Missionary Society) का नाम घनिष्ठताके साथ जुड़ा हुआ है। अमेरिकाके भूतपूर्व राष्ट्रपति कॉल्विन कूलिज (Calvin Coolidge) का भी कहना था कि "जो सेनाएं अमेरिका बाहर भेजता है वह तलवारोंके बजाय क्रॉस (ईसाइयो के धर्म-चिन्ह) से लैस होकर जाती है"। १९४५ में जापानकी पराजयके बाद जनरल मैकआर्थर (MacArther) ने जापानके साथ भी ऐसी ही नीतिके बरते जानेका समर्थन किया था। आजकल साम्राज्यवाद पिछड़े हुए देशोंके निवासियोंको ईसाई बनानेकी ओरसे उदासीन है। कभी-कभी तो धर्म प्रचारकोंके कार्योंका विरोध भी किया जाता है, क्योंकि धर्म प्रचारकोंके कार्योंके फलस्वरूप अधीन देशोके निवासियोंमें नवीन प्रतिष्ठा और स्वाधीनता प्राप्त कर लेनेकी भावनाके उदय होनेकी आशंका रहती है। जहा कही ईसाई धर्म प्रचारकोंके साथ साम्राज्यवादियोंकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष साठ-गाठ रही, जैसा कि पिछले दिनों था, वहा साम्राज्य निर्माता उनका खुले दिलसे स्वागत करते थे। इस बातके अनेक उदाहरण है कि धर्म प्रचारक व्यापारियों और शासकों के अग्रदूत थे।

श्वेतांगोंका बोझा[1] (the white man's burden) के पिटे-पिटाये नारे द्वारा एक विशेष प्रकारका मानवतावादी उद्देश्य व्यक्त किया जाता है। इसे "उत्तरदायित्वका साम्राज्यवाद" (imperialism of responsibility) भी कहते है। इसमें जातीय उच्चता और गौरवकी भावना सूक्ष्म रूपसे छिपी रहती है। अपने सुन्दरतम रूपमें यह साम्राज्यवाद अज्ञानके स्थान पर ज्ञान, अविकसित शासनके स्थान पर व्यवस्थित और प्रगतिशील शासन और न्याय सम्बन्धी आदिम विचारोंके स्थान पर आधुनिक विचारोंको प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न करता है। इसका उद्देश्य मनुष्य भक्षण, दासता, अर्थ-दासता और सूदखोरीका विनाश करना है। आज हालत चाहे जो कुछ हो, पर मानवतावाद निश्चित रूपसे साम्राज्यवादका मूल कारण नही था। यह तो बादमें सोची हुई बात है। आजकल साम्राज्यवादके इस पहलू पर बहुत जोर दिया जा रहा है, यद्यपि यह सब केवल जबानी जमा-खर्च है। जो लोग बड़े उत्साहके साथ इसकी चर्चा करते है, वे भूल जाते है कि यदि "श्वेतांगोंका बोझ" सही सिद्धान्त है तो "अश्वेतांगोंका बोझ" भी तो कठोर वास्तविकता है और इसके लिए काले लोगोंको अपनी स्वावलम्बन शक्ति, अपनी प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीय आत्म-सम्मानसे हाथ धोना पड़ता है।

मानवतावादी उद्देश्योंका इतना ढिंढोरा पीटे जाने पर भी सार्वजनिक शिक्षा, सफ़ाई और जनताके उत्थान पर बहुत ही कम धन व्यय किया जाता है। जूलियन हक्स्ले (Julian Huxley) के कथनानुसार अफ्रीकामें बच्चोंकी मृत्यु संख्या २५ से लेकर ५० प्रतिशत तक है; प्रत्येक बालिग अफ्रीकी एक या एकसे अधिक प्रकारके कृमियों

[1] इसका प्रचलित अमेरिकी समानार्थक वाक्य है 'सत्तारका नैतिक नेतृत्व।'

(worms) का शिकार रहता है जिनमें अकुशकिमि (hook worms) भी हैं और प्रायः मलेरिया से भी वे पीड़ित रहते हैं। कुछ क्षेत्रोमें ९० प्रतिशत लोग गुप्त अगोंके रोगो (venereal disease) से पीडित रहते हैं जिन्हे श्वेतागोंने ही वहा ले जाकर फैलाया है। साथ ही साथ लोगोंको पौष्टिक भोजन नही मिलता और विटामिनकी कमी रहती है। अफीकामें एक प्रतिशत बच्चे भी स्कूल नही जाते। इन सब बातोको देखते हुए शूमन (Schuman) के इस कथनको स्वीकार करना पडता है कि "साम्राज्यका उद्देश्य अपने जालमें फंसे लोगोंकी भलाई करना बिल्कुल नही है। *असली उद्देश्य तो अपने देशवासियोंका कल्याण करना और उन्हे समृद्ध* बनाना है (७०:२६)"।

आधुनिक साम्राज्यवाद (Modern Imperialism). साम्राज्यवादने २०वी शतीमें पहलेकी अपेक्षा अधिक अप्रत्यक्ष रूप धारण किये हैं। अब तलवारकी अपेक्षा कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय करारों पर अधिक भरोसा किया जाता है, यद्यपि प्रदेशोंको बिना बात जीत लेना और हड़प लेना आधुनिक युगमें भी अनोखी बात नहीं है। जैसा कि एक लेखक ने कहा है आजकल व्यापार, उद्योग, रेलों, बन्दरगाहों, महत्त्वपूर्ण अड्डो, कच्चेमाल और तैयार माल तथा पूजीके लिए बाजारो पर दाव लगाये जाते हैं।

आजकल संसारके अनेक भागोंमें साम्राज्यवादके निम्नलिखित अप्रत्यक्ष रूप पाये जाते हैं:

(१) पट्टा (Leasehold). कमजोर और पिछडे हुए देशोको अपने देशके कुछ हिस्सो पर से प्रायः ९९ वर्षोंके लिए अपना आधिपत्य हटा लेनेके लिए तैयार या विवश किया जाता है। ऐसा व्यावसायिक अथवा सामरिक कारणोंसे किया जाता है। राष्ट्रीय सम्प्रभुता तो नाममात्रके लिए पट्टा देनेवाले देशके हाथोमें रहती है पर वास्तविक अधिकार पट्टेदार का हो जाता है। "पट्टे द्वारा प्राप्त भूमि पट्टेकी अवधि समाप्त होने तक पूरी तरहसे उपनिवेश हो जाती है (८.४४३)"। पट्टे द्वारा भूमिके हस्तान्तरणके उदाहरण हैं, चीन द्वारा १८९८ मे २५ वर्ष के लिए रूस को दिये गये मन्चूरियाके बन्दरगाह, चीनके पोर्ट आर्थर और डायेरन बन्दरगाह जिन पर जापानका अधिकार रह चुका है और ब्रिटेनके आधिपत्यमें वीहाइवी (wei-hai-wei, China 37.25 N, 122.13 E)। सयुक्त राज्य अमेरिकाके पास पनामा नहरका पट्टा है और इस पट्टेमें नहरके दोनों तरफ पाच-पाच मील तक की भूमि शामिल है। इस पट्टेके बल पर संयुक्त राज्य अमेरिकाने पनामाके गणराज्य को व्यवहारतः अपना एक अर्ध-रक्षित राज्य (semi-protectorate) बना रखा है।

(२) संरक्षित राज्य और अर्ध-संरक्षित राज्य (Protectorate and Semi-protectorate). ये कई प्रकारके होते हैं। सभी संरक्षित राज्योंके वैदेशिक सम्बन्धों और सुरक्षा पर साम्राज्यवादी शक्तिका नियत्रण रहता है। कभी-कभी तो

आन्तरिक प्रशासनके मामलों तथा आर्थिक मामलों पर भी साम्राज्यवादी शक्तिका नियंत्रण रहता है। अंग्रेजी साम्राज्यमें एक संरक्षित राज्यकी स्थिति करीब-करीब वही होती है जो कि एक उपनिवेश (crown colony) की होती है, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधिकी दृष्टिसे ये दोनों एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं। संरक्षित राज्योंमें विदेशी शक्तियोंके साथ की गयी पुरानी सन्धियां कायम रहती हैं; पर उपनिवेशों में ऐसा नहीं होता। प्रायः संरक्षित राज्य अन्ततोगत्वा या तो साम्राज्यवादी देश द्वारा अपनेमें मिला लिये जाते हैं या उन्हें स्वतन्त्रता दे दी जाती है।

संरक्षित राज्यका सबसे अच्छा उदाहरण कुछ समय पूर्व तक मिस्र था। वैसे तो मिस्र की "स्वाधीनता" की घोषणा २८ फ़रवरी, १९२२ को कर दी गयी थी, पर १९३६ में ब्रिटेन और मिस्र के बीच मैत्री सन्धि होने तक यह स्वाधीनता इतनी कटी-छटी रही कि मिस्र सभी प्रकारसे ब्रिटेन का संरक्षित राज्य ही बना रहा। १९२२ की घोषणाके अनुसार अंग्रेजोंने अपने लिए निम्नलिखित चार बातें सुरक्षित रखी थीं: मिस्र में अंग्रेजी साम्राज्यके संचार (communication) की सुरक्षा; प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विदेशी आक्रमण या हस्तक्षेपसे मिस्र की रक्षा; मिस्र में विदेशी स्वार्थों तथा अल्पसंख्यकोंकी रक्षा, और सूडान। कुछ लेखक मिस्र को अर्धसंरक्षित राज्य ही मानना अधिक पसन्द करते थे। आज मिस्र पूर्ण स्वतन्त्र है।

अर्ध-संरक्षित राज्योंके उदाहरण क्यूबा और हेटी हैं जो स्वयं अपने नामसे कुछ प्रकारकी सन्धियां कर सकते हैं पर विदेशी शक्ति जिन पर रोक लगा सकती है। संरक्षित राज्योंका एक दूसरा प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षित राज्य है जिसका एक उदाहरण कुछ समय पूर्व अबीसीनिया था। १९०६ में ब्रिटेन, फ्रांस और इटली में हुए करारके अनुसार इन तीनों देशोंने अबीसीनिया की अखण्डताकी रक्षा करना और सुविधाएं प्राप्त करनेमें एक दूसरेसे होड़ न करना, स्वीकार किया। पर यह करार रद्दी कागजका टुकड़ा ही साबित हुआ।

(३) प्रभाव-क्षेत्र (**Spheres of Influence**). प्रभाव-क्षेत्रका मतलब यह होता है कि जिस शक्तिके हाथोंमें क्षेत्र होता है उसे 'कर्ज देने, रेलें निकालने, खानोंके खोदने, अथवा सार्वजनिक कार्योंका विकास करनेके लिए तरजीह (preferential) अधिकार या एकाधिकार दे दिया जाता है (८: ४४७)।' प्रायः प्रभाव-क्षेत्र अन्ततोगत्वा या तो संरक्षित राज्य बना लिये जाते हैं या एकदम अपनेमें मिला लिये जाते हैं। यद्यपि वे न तो उपनिवेश और न आश्रित राज्य ही होते हैं। कभी-कभी तो सम्बन्धित पिछड़े राज्योंकी सहमतिके बिना भी ये क्षेत्र अलग कर लिये जाते हैं। ब्यूएल (Buell) का कहना है कि "इस प्रकारके नियमनने झगड़े कम करनेके बजाय बढ़ा दिये हैं (८: ४४८)।" आधुनिक युगमें एशिया, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर में प्रभाव-क्षेत्र साम्राज्यवादके सुविधाजनक साधन रहे हैं। ब्रिटेन और फ्रांस के स्याम में प्रभाव-क्षेत्र थे।

कभी-कभी "प्रभाव-क्षेत्र" और "हित-क्षेत्र" (sphere of interest) में अन्तर

किया जाता है। 'हित-क्षेत्र' केवल आर्थिक होता है जब कि प्रभाव-क्षेत्रमें, एक संरक्षित राज्यसे कुछ कम अस्पष्ट राजनीतिक सुविधाएं भी रह सकती हैं। एशिया की अपेक्षा अफ्रीका में प्रभाव-क्षेत्र अधिक रहे हैं।

(४) संयुक्त विदेशी शासन (**Condominium**). संयुक्त विदेशी शासनका मतलब है किसी विवाद ग्रस्त क्षेत्र पर औपनिवेशिक होड बचानेके लिए दो या अधिक राज्योका नियन्त्रण। ऐसा नियन्त्रण ब्रिटेन और मिस्र का सूडान में नील नदीके पानी पर, मोरक्को के टेंजियर शहर पर फ्रांस, स्पेन और ब्रिटेन का और न्यू हैब्रिडीज पर फ्रांस और ब्रिटेन का रहा है। इस प्रकारका नियन्त्रण न तो उन विदेशी राष्ट्रोंको ही सन्तुष्ट कर पाता है जिनका नियन्त्रण होता है और न उन देशवासियोको ही जो उस नियन्त्रणमें रहते हैं। इस प्रकारका अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण प्रायः सर्वदा असन्तोषजनक रहता है और अन्ततोगत्वा हमेशा असफल सिद्ध होता है। इसका अर्थ विभाजित उत्तरदायित्व है।

(५) वित्तीय नियंत्रण (**Financial Control**). "ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें पूंजीपति देश सरकारी कर्मचारियो या बैंकोंके प्रतिनिधियोंके माध्यम से पिछडे हुए देशोकी सरकारोकी आय और व्ययका नियन्त्रण करते हैं, यद्यपि अन्य बातोंमें ये देश स्वतन्त्र होते हैं (८·४५८)।" इस प्रकारका नियन्त्रण कई राज्यो द्वारा मिल-जुल कर अथवा एक ही राज्य द्वारा किया जा सकता है। एक ही राज्य द्वारा किये जाने वाले नियन्त्रणका उदाहरण है कैरीबियन और मध्य अमेरिकी राज्यो तथा लाइबीरिया और ईरान पर संयुक्त राज्य अमेरिका का वित्तीय नियंत्रण।

(६) चुंगी नियंत्रण (**Tariff Control**). स्वय लाभ उठानेके लिए पश्चिमी शक्तियोंने बहुधा पिछडे देशोको इस बातके लिए विवश किया है कि वे विदेशी वस्तुओं पर चुगी एक निश्चित सीमासे अधिक न बढ़ायें। इस प्रकारका नियन्त्रण जापान पर १९११ तक रहा। चीन, तुर्की, मोरक्को, श्याम और ईरान पर भी इस प्रकारका नियंत्रण रह चुका है। इस नियन्त्रणका उद्देश्य यह रहा है कि पश्चिमी राज्योको अपना माल पिछडे हुए देशोंमें पाट देने और इस प्रकार उनके अपने देशी उद्योग-धन्धोंके विकासको रोकनेका अवसर मिले।

(७) बहिर्देशिता (**Extra-territoriality**). इसका मतलब है विदेशी सरकार द्वारा पिछडे देशोंमें रहनेवाले अपने देशवासियोंके लिए अपनी अदालतें स्थापित करनेका अधिकार। इस अधिकारका आधार यह बतलाया जाता है कि पिछडे देशकी अपनी ऐसी कोई विवेकपूर्ण न्याय प्रणाली नही है जो सब पर लागू की जा सके। इस प्रकारके बहिर्देशीय अधिकारकी माग प्रायः सभी मुसलमान देशोंमें, जहा ईसाइयों को बहुत कम अधिकार दिये जाते हैं और जापान, श्याम, कोरिया तथा चीनमें की गयी, और सभी जगह यह दावा स्वीकार कराया गया। जब ये देश न्यायके पश्चिमी मान-दण्डोंको स्वीकार कर लेते हैं और तदनुसार अपनी न्यायप्रणाली में सुधार कर लेते हैं तब धीरे-धीरे विदेशी शक्तिया अपने बहिर्देशीय

दावोंको छोड़ देती है। इस प्रकार १८९४ में संयुक्त राज्य अमेरिकाने जापान पर से और १९२४ में सोवियत संघ ने चीन पर से अपने दावोंको समाप्त कर दिया। तुर्की ने सभी बहिर्देशीय अधिकारोंको समाप्त कर दिया है। द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हो जानेके बाद ब्रिटेन और अमेरिका ने चीनमें अपने बहिर्देशीय दावोंको छोड़ दिया। प्रायः इन अधिकारोंका प्रयोग प्रादूतिक न्यायालयों (consular courts) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा किया जाता है, और जैसी आशा की जानी चाहिए, इन अधिकारोंका बहुधा दुरुपयोग ही होता है। बहिर्देशीयताका अर्थ स्थानीय करोंसे मुक्ति भी लगाया जा सकता है। कभी-कभी विदेशियों द्वारा अपने आश्रित बना लिये गये देशी लोगोंको भी बहिर्देशीयताके अधिकार दिलाये जाते हैं।

(८) अनौपचारिक नियंत्रण (Informal Control) कभी-कभी कुछ विदेशी देश आपसमें सांठ-गांठ करके किसी पिछड़े राज्यकी सरकारको स्वीकार करनेसे तब तक के लिए इन्कार कर देते हैं जब तक उनके कूटनीतिज्ञों द्वारा रखी गयी कुछ शर्तोंको वह राज्य पूरा न कर दे। ब्युएल (Buell) इस प्रकारके नियंत्रण को वाह्यवैधिक (extra legal) या चोर सीढ़ी (back stairs) वाला अथवा अप्रत्यक्ष नियंत्रण कहते हैं। इस प्रकारका नियंत्रण अनेक ढंगोंसे किया जाता है। निकारागुआ, सान्टो डोमिंगो तथा कैरीबियन आदिमें संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी जलसेनाका उपयोग किया है। ईरान, मिस्र और ईराकमें ब्रिटेन ने अपने देशवासियोंको सलाहकारोंके रूपमें—विशेषकर वित्तीय मामलोंमें—रखनेका तरीका अपनाया था।

खुला द्वार और बन्द द्वार (The Open Door and Closed Door). पिछली शताब्दीमें चीन पर खुला द्वार नीति लादनेके लिए उसे कई बार युद्धमें घसीटा गया। इस नीतिका मतलब है व्यापारकी इच्छुक सभी विदेशी शक्तियोंको पिछड़े हुए देशमें व्यापार करनेकी सामान्य सुविधाओंका दिया जाना। इस नीतिके अनुसार किसी भी विदेशी राष्ट्रके माल या नागरिकोंके साथ किसी भी प्रकारका विभेद नहीं किया जा सकता। कभी-कभी खुले द्वार नीतिको जहाजरानी और बन्दरोंके सम्बन्धमें भी लागू किया जाता है। इस सिलसिलेमें इस नीतिका मतलब होता है, साम्राज्यवादी राष्ट्र तथा अन्य विदेशी राष्ट्रोंके लिए अवसरकी समानता। अंग्रेजी साम्राज्यमें यही नीति बरती जाती रही है, पर आजकल उसमें काफी संशोधन हो गये हैं। समादेशित प्रणाली (mandatory system) के अनुसार प्रथम और द्वितीय श्रेणीके समादेशित प्रदेशोंमें खुला द्वार नीतिका अपनाया जाना जरूरी था। इन क्षेत्रोंमें राष्ट्र संघके हर सदस्यको पूर्ण आर्थिक, व्यावसायिक और औद्योगिक समानता प्राप्त हो सकती थी। तृतीय श्रेणीके समादेशित प्रदेशोंमें खुला द्वार नीति अपनाना आवश्यक नहीं था। बहुधा खुला द्वार नीतिका परिणाम यह होता है कि विदेशी शक्तियोंमें घातक प्रतियोगिताएं होने लगती हैं। इसलिए इन प्रतियोगिताओंसे बचनेके लिए कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगका रास्ता अपनाया जाता है। नवीन सरकारकी

स्थापनाके पहले चीनमें किसी भी एक राज्य या राज्योंके गुटको कर्ज देकर राजनीतिक सुविधाएं हासिल करनेकी आज्ञा नही थी।

बन्द द्वार नीति खुला द्वार नीतिकी उल्टी है। इसका अर्थ है न केवल व्यापार व्यवसायके क्षेत्रमें बल्कि जहाजरानी, पूंजी लगाने (investment) और वस्ती बनानेमें भी विशेष सुविधाएं और एकाधिकार देना तथा विदेशी राष्ट्रोंके बीच विभेद करना। उपनिवेश और मातृ-देशके बीच आर्थिक सम्बन्ध मजबूत करना और अन्य देश वालों को लाभ न उठाने देना, उसका उद्देश्य होता है। संयुक्तराज्य अमेरिकाने फिलिपाइन द्वीपोंमें कई वर्षों तक यही नीति बरती। शूमन (Schuman) का कहना है कि यह नीति पुरानी व्यापारी-पद्धति (mercantalistic system) का शेषांश है।

बन्द द्वार नीति प्रायः इन तीन रूपोंमें बरती जाती है: (क) चुंगी (tariffs), (ख) जहाजरानी, (ग) रियायतें। कुछ देश चुंगी समीकरण (tariff assimilation) की नीति अपनाते हैं, जिसके द्वारा मातृ-देश और उपनिवेशके बीच मुक्त व्यापार होता है अर्थात् आपसमें चुंगी नही लेते-देते और दोनों ही देश अन्य देशोंके प्रति चुंगीकी एक ही प्रणाली लागू करते हैं। कुछ दूसरे देश चुंगी वरीयता (tariff preference) की नीति अपनाते हैं। इसके द्वारा मातृ-देश और उपनिवेशकी चुंगी प्रणालियां भिन्न होती है, पर दोनों ही देश एक दूसरेके मालके लिए विशेष रियायतें देते हैं।

ब्युएल (Buell) का यह कहना सही है कि बन्द द्वार नीतिका मतलब उपभोक्ताके लिए बढ़ी हुई कीमते है। उपनिवेशमें रहने वालेके लिए यह नीति एक नये प्रकारका शोषण है। शेष समस्त संसारके लिए इसका मतलब निम्नतम् कोटिके राष्ट्रीयतावादी साम्राज्यवाद (nationalistic imperialism) को स्थायी बनाना है (८:४२६)।"

सैनिक गठबन्धन (Military Alliances). वैसे तो सैनिक गठबन्धन हमेशा होते रहे हैं पर आज वे नया महत्व ग्रहण कर रहे हैं। इन गठबन्धनोंमें शामिल होनेवाली राष्ट्र प्रायः अपनी सम्प्रभुता बनाये रहते हैं पर वे एक सामान्य सैनिक नीति बरतते हैं; बहुधा ऐसा किसी शक्तिशाली राष्ट्रके संरक्षणमें किया जाता है। ऐसे गठबन्धनोंके उदाहरण हैं, अमेरिकी देशों द्वारा शस्त्रास्त्रोंका स्तरणीकरण और एक सामान्य सैनिक नीतिका बरता जाना; नाटो, सीटो, और बगदाद सन्धियोंमें शामिल राष्ट्रोंके बीच पारस्परिक सैनिक सहायता आदि।

समादेश (The Mandates). प्रथम विश्व-युद्धके दौरानमें वुड्रो विल्सन ने जिस आदर्शवादकी नीव डाली थी उसीका मूर्तरूप समादेशित प्रणाली है जिसकी व्यवस्था राष्ट्रसंघके प्रसंविदा (covenant) की २२वी धारामें की गयी थी। योरोपीय देशोंमें पहले जो युद्ध होते थे उनका नतीजा यह होता था कि विजयी देश पराजित देशोंके औपनिवेशिक प्रदेशोंको हड़प लेते थे। वारसाई के शान्ति-सम्मेलनमें यह कहा गया कि पिछड़ी जातियोंके अधिकारोंकी रक्षा मित्र-राष्ट्रोंका प्रधान

कर्तव्य होना चाहिए और किसी भी मित्रराष्ट्रको पराजित शत्रु देशोंके किसी भी औपनिवेशिक प्रदेशका एकमात्र स्वामी बननेका अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। इसी उद्देश्यसे समाज्ञापित प्रणाली (mandatory system) की व्यवस्था की गयी। इस प्रणालीके निम्नलिखित उद्देश्य थे: (क) उपनिवेशोंके मूलनिवासियों-के हितोंकी रक्षा करना और (ख) साम्राज्यवादी शक्तियोंके बीच परस्पर संघर्ष और प्रतियोगिताका अवसर न आने देना, क्योंकि यदि संघर्ष और प्रतियोगिताको रोका न गया तो भविष्य में युद्ध अनिवार्य हो जायगे। इस बात पर विशेष जोर दिया गया कि जिन क्षेत्रोंमें लोग अपने पैरो पर खडे होनेमें असमर्थ हैं उन क्षेत्रोंके लिए न्यासधारी नियुक्त किये जाय। ये न्यासधारी उन क्षेत्रोंके शासनकी बागडोर अपने हाथोंमें तब तक रखें जब तक कि वे क्षेत्र स्वय अपना शासन करने योग्य न हो जायं। राष्ट्रपति विल्सनकी इच्छाके बिल्कुल विरुद्ध समाज्ञापित प्रदेशोंको प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणियोंमें बाटा गया। इसके लिए दलील यह दी गयी कि भूतपूर्व शत्रु देशोंसे लिये गये सभी प्रदेश विकासकी एक ही स्थितिमें नहीं हैं। इसलिए उनकी अलग-अलग आवश्यकताओंके अनुकूल विभिन्न शासन-प्रणालिया आवश्यक हैं। प्रथम श्रेणीके समाज्ञापित प्रदेशोंको निकट भविष्यमें स्वशासन प्राप्त करनेके लिए सबसे अधिक योग्य और तृतीय श्रेणीके प्रदेशोंको सबसे अधिक अयोग्य समझा गया। द्वितीय श्रेणीके प्रदेशोंको इन दोनोंके मध्यमें रखा गया। इन समाज्ञापित प्रदेशोंका रक्षण (tutelage) "उन्नत राष्ट्रो" को सौंपा गया और इन राष्ट्रोंके लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे अपने कार्यकी वार्षिक रिपोर्ट हर साल राष्ट्र-संघकी कौंसिलके सामने पेश किया करें। समाज्ञापित प्रदेशोंमें न्यासधारी देशोंके शासन-कार्य के देख-भाल के लिए राष्ट्र-संघकी कौंसिल अपनी स्थायी समाज्ञा आयोग (Permanents Mandates Commission) के माध्यमसे करती थी।

यद्यपि समाज्ञापित प्रणालीका निर्माण शुद्ध हृदयसे किया गया था पर जो उच्च आशाएं इससे की गयी थी वे पूरी नहीं हुईं। समाज्ञापी शक्तियो (mandatory powers) ने समाज्ञापित प्रदेशो के कार्य-भारको जबरदस्ती लादी गयी 'सभ्यता प्रसारकी जिम्मेदारी' (Trusts of civilisation) माननेके बजाय उन्हें अपने विजित प्रदेश (annexations) समझना शुरू कर दिया। शूमन (Schuman) लिखते हैं: "तृतीय कोटिके समाज्ञापित प्रदेश तो करीब-करीब विजित प्रदेश ही समझे जा रहे हैं और द्वितीय कोटिके समाज्ञापित प्रदेशोंका शासन उस शासनसे शायद ही भिन्न कहा जा सके जो सीधे-सीधे युद्धमें जीते गये प्रदेशो पर लादा जाता है। प्रथम श्रेणीके समाज्ञापित प्रदेशों पर भी समाज्ञापी राष्ट्रोंका प्रभावपूर्ण नियंत्रण रहता है (८:६१७)।" केवल ईराक को छोड़कर सभी समाज्ञापित प्रदेशोंमें जनताकी स्वतंत्रता और स्वशासनकी वैध इच्छाओंको निर्दयतापूर्वक कुचला गया। अपना समाज्ञापी चुननेके मामलेमें भी समाज्ञापित प्रदेशोंकी इच्छाको ठुकरा दिया गया, जैसा कि सीरियाके मामलेमें किया गया। सीरिया ने माग की थी कि उसे

अमेरिकाके सुपुर्द किया जाय; और यदि ऐसा न हो सके तो फिर ब्रिटेनके सुपुर्द किया जाय। अमेरिका और ब्रिटेन इन दो में से ही किसी एक को उसने पसन्द किया था। पर फिर भी उसे फ्रांस के हाथोंमें सौंप दिया गया। १९३२ में ईराक को एक स्वतंत्र अंग्रेजी सरक्षित राज्य घोषित किया गया, पर उसकी 'स्वाधीनता" मिस्र की स्वाधीनतासे अधिक वास्तविक नही थी। सीरिया की हालत और भी अधिक शोचनीय थी। फ्रांस और सीरिया के लोग एक दूसरेको समझने और एक दूसरेसे सहयोग करनेमें स्वभावतः असमर्थ मालूम पडते थे।

समाज्ञापित प्रणालीमें एक अच्छाई यह थी कि उसमें प्रभावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षणकी बहुत कुछ व्यवस्था थी। पर, जैसा प्रोफेसर शूमन (Schuman) ने कहा है, "समाज्ञापी आयोग (Mandates Commission) ने एक स्वतंत्र और साहसी सस्था के रूपमें ओजके साथ काम नही किया।" उसके सुझाव केवल परामर्श के रूपमें होते थे और कोई भी उन्हे माननेके लिए मजबूर नही था। समाज्ञापित प्रदेशोकी जनता की पहुच समाज्ञापी आयोग तक उतनी नही थी जितनी समाज्ञापी राष्ट्र शक्तियोकी थी। यदि समाज्ञापित प्रदेशोकी जनता समाज्ञापी आयोगको कोई प्रार्थनापत्र देना चाहती थी तो वह प्रार्थनापत्र समाज्ञापी सरकारके माध्यमसे ही आयोग तक पहुंच सकता था। १९२७ के बाद राष्ट्र-संघकी कौंसिल ने प्रार्थियों को मौखिक साक्ष्य (oral evidence) की सुविधा भी अस्वीकार कर दी। आयोग ने समाज्ञापित प्रदेशोंमें जाकर स्वय यह कभी नही देखा कि समाज्ञापी शक्तियों ने अपने अधीन रक्षित जनताको सभ्य बनाने और उनमें से जो अधिक उन्नत थे उन्हें सुशासनके योग्य बनानेका कार्य कहा तक पूरा किया है। उसने समाज्ञा प्रथाके खुले आम दुरुपयोगोंकी जाच करनेके लिए कोई समिति भी कही नही भेजी। इस प्रकार समाज्ञापित प्रदेशोकी जनताके विरुद्ध पलडा बहुत भारी रहा।

इन बुराइयोंके बावजूद समाज्ञा प्रणाली उपनिवेशीय प्रणालीसे निश्चित तौर पर अच्छी थी। यह ठीक दिशा में उठाया गया एक कदम था, यद्यपि कदम बहुत छोटा था। उपनिवेशोंकी जनता के हितोंकी अपेक्षा समाज्ञापित प्रदेशोकी जनताके हितोंकी रक्षा अधिक हो सकी। जनताको अन्तःकरण और धर्मकी स्वाधीनता मिली और दास व्यापार (slave trade), शस्त्रास्त्रो तथा शराबका क्रय-विक्रय बन्द कर दिया गया। आवश्यक सार्वजनिक कार्योंको छोडकर अन्य कार्योंमें बेगार (forced labour) से और मजदूरीके ठेकोंमें बेईमानीसे जनताकी रक्षा की गयी। सरकारकी स्पष्ट मन्जूरीके बिना समाज्ञापित प्रदेशोंकी जनताको अपनी भूमि विदेशियोंको हस्तान्तरित करनेमे रोक दिया गया।

इनमें से अधिकाश सरक्षण केवल कागज पर ही रहे। पर उसमें एक अच्छाई यह थी कि समाज्ञा आयोगकी रिपोर्टका राष्ट्रसघकी असेम्बलीमें पहुंचने पर, प्रचार हो जाता था। साम्राज्यवादी देश जो काम किसी समय बिना किसी भय या हानिके कर सकते थे वही काम अब ससारके जनमतकी कठोर आलोचनाका खतरा उठाये

बिना नहीं किया जा सकता था। दक्षिणी-पूर्वी अफ्रीकाके बॉण्डेलज्वार्टस् मामलेमें जिसमें समादेशी शक्ति ने अत्याचार किये थे अपनी सम्मति देते हुए समादेशी आयोगके अध्यक्ष ने साहसपूर्वक कहा था: "सबसे पहले देशवासियोंके हितोंको महत्त्व दिया जाना चाहिए। उसके बाद ही श्वेतांगोंके हितोंकी बारी आती है। श्वेतांगोंके हितों पर विचार केवल उसी सीमा तक किया जाना चाहिए जहां तक मूल निवासियोंकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रक्षासे उनका सम्बन्ध हो।"

दोनों विश्व-युद्धोंके बीचकी अवधिमें संसारका जनमत अधिकाधिक उन पिछड़े हुए प्रदेशों पर प्रभावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और नियंत्रण रखनेके पक्षमें होता गया जो स्वयं अपने पैरों पर खड़े होनेमें असमर्थ थे। कुछ विचारकोंका कहना था कि वास्तवमें पिछड़े देशोंको अन्तर्राष्ट्रीय समादेशके अन्तर्गत रखना चाहिए। और वह भी एक निश्चित उद्देश्य और एक निर्धारित अवधिके लिए ही। इसके विपरीत लार्ड लुगार्ड (Lord Lugard) जैसे अनुभवी औपनिवेशिक राजनीतिज्ञका कहना था कि "राष्ट्रीय भावनासे विहीन और देश-प्रेमका गला घोंटनेवाले कर्मचारीतंत्र (bureaucracy) के कारण इस पद्धतिसे सारी पहलकदमी को लकवा मार जायगा। और यह पद्धति सम्बन्धित देशोंके लिए बहुत ही हानिप्रद होगा।" कुछ दूसरे लोगोंका कहना था कि जब तक सरकारका संगठन राष्ट्रीय आधार पर होता है तब तक अन्तर्राष्ट्रीय समादेश सम्भव नहीं है।

क्या साम्राज्यवाद का औचित्य है? (Is Imperialism Justified?). घुमा-फिराकर बात बनानेवाले तरीकोंसे साम्राज्यवाद का औचित्य सिद्ध करनेका समय अब नहीं रहा। अब शायद ही कुछ ऐसे लोग हों जिन्हें सी॰डी॰ बर्न्स (C. D. Burns) के इस कथन पर विश्वास हो कि साम्राज्यवाद गली-कूचोंके स्तरकी संकीर्ण राजनीतिको समाप्त करता है और उसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और विश्व-बन्धुत्वको प्रेरणा देता है। इस विषयमें ठीक इसका उल्टा सच है। शोषण और आधिपत्य साम्राज्यवादका मूल तत्व[1] हैं। यह कहना नास्तिकता नहीं है कि साम्राज्यवादका इतिहास आदरणीय नहीं रहा, यद्यपि उसके विकासके इतिहासमें एक ऐसी अवस्था भी आती है जब शोषणको 'न्यास (trusteeship)' का और पश्चिम द्वारा पूर्वी देशोंको सभ्य और सद्‌मानव बनानेके पवित्र उद्देश्यका जामा पहनाया जाता है। अनेक आधुनिक साम्राज्योंकी उत्पत्ति समुद्री लूट और दास व्यापारसे हुई हैं। बार्नस् (Barnes) का कहना है कि अंग्रेजी साम्राज्य भी इसका अपवाद नहीं है (४·११)।

[1] उदाहरणके लिए, आज साइप्रसमें बरती जानेवाली दमन-नीतिको देखिए। इस सबके बावजूद यह कहा जा सकता है कि कोई भी दूसरा आधुनिक साम्राज्य शासितोंकी भावनाओंके प्रति इतना विचारशील नहीं रहा जितना अंग्रेजी साम्राज्य रहा है। इसके उदाहरण है, भारत, पाकिस्तान, बर्मा, लंका, मलाया तथा गोल्ड कोस्ट (घाना) को दी गयी स्वाधीनता। इसके बाद नाइजीरिया का नम्बर है।

साम्राज्यवादके औचित्य-अनौचित्य पर विचार करते समय निम्नलिखित चार प्रश्नोंको ध्यानमें रखना होगा :

(क) जिन लोगों पर साम्राज्यवाद लादा जाता है क्या उनकी भौतिक और नैतिक अवस्थामें इससे कोई सुधार होता है।

(ख) क्या इससे साम्राज्यवादी देशकी जनताकी भौतिक और नैतिक स्थिति में सुधार होता है?

(ग) क्या इससे संसारके विभिन्न देशोंके बीच संघर्ष के अवसर कम होते हैं और विश्व-शान्ति तथा समृद्धिको प्रेरणा तथा सहायता मिलती है ?

(घ) क्या साम्राज्यवादका कोई ऐसा विकल्प (alternative) नहीं है जो संसारको अधिक सुन्दर और सुखी बना सके ?

(१) क्या साम्राज्यवाद औपनिवेशिक जनताके लिए लाभप्रद है? (Does Imperialism Benefit the Colonial People?). साम्राज्यवादी शासन में वास्तविक मानवतावादी कार्योंके उदाहरण तो थोड़ेसे ही मिलते हैं पर निर्मम शोषणके उदाहरण बहुत अधिक दिखायी देते हैं। लियोनर्ड बार्नस् (Leonard Barnes) का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि "अंग्रेजी साम्राज्य भानमती का पिटारा है, जो कहीं-कहीं जीर्ण है, कहीं-कहीं अत्याचारी है, अधिकांश भागोंमें लक्ष्यहीन है और बहुत थोड़े स्थानोंमें लाभदायक है (४: २१)।" यह तथ्य अंग्रेजी साम्राज्यके इस परिचित चित्रके विपरीत है कि "अंग्रेजी साम्राज्य विश्व व्यापी न्याय और उदारताका चिरन्तन स्रोत (perennial spring) है जिस पर सूर्य कभी अस्त नहीं होता (४: २०)।" यह सही है कि अफ्रीकाके आन्तरिक प्रदेशोंमें साम्राज्यवादने मनुष्य भक्षण, दासता और न्याय तथा शासनके अविकसित रूपोंको समाप्त कर दिया है। पर इन इने-गिने लाभों की तुलनामें हमें इन अनेक बातों पर भी विचार करना होगा कि डच ईस्ट इन्डीजमें हॉलैंण्डने अपनी संस्कृति थोपनेकी नीति अपनाई थी, बेल्जियम वालोंने कांगोमें भीषण अत्याचार किये थे। उष्ण प्रदेशीय साम्राज्य (Tropical Empire) के अनेक भागोंमें प्रतिज्ञाबद्ध कुलीगीरी और दासता की प्रथाएं प्रचलित हैं और दक्षिण अफ्रीका तथा केनियामें मुट्ठी भर श्वेतांगोंने विस्तृत भूखण्ड हड़प लिये हैं। दक्षिण अफ्रीकामें १५ लाख श्वेतांगोंने २८ करोड़ एकड़ भूमि हड़प रखी है। जबकि ५५ लाख हब्शियोंके पास केवल २ करोड़ ७० लाख एकड़ जमीन है।

जातीय विलगाव (apartheid) की नीतिको कार्यान्वित करनेमें हब्शियों, भारतीयों और अन्य रंगीन चमड़ीवाले लोगोंको पृथक्‌कृत भूखण्डों (ghettoes) में खदेड़ा जा रहा है। द्वितीय विश्व-युद्धके बादसे हालत और भी बिगड़ गयी है।

बार्नस् (Barnes) का कहना है कि अफ्रीका के खानवाले जिलोंमें "दासताकी सी हालत" है। देशी मजदूरोंको अधिकतर धोखा देकर भरती किया जाता है और उनमें से अधिकांश ऐसे अहातोंमें रहते हैं जो स्वास्थ्य, नैतिकता और आर्थिक उन्नति के लिए घातक हैं। बार्नस् उन अहातोंको जेल व बैरकके बीचकी चीज बताते हैं।

अफ्रीका में खेतिहरोंकी हालत भी अधिक अच्छी नही है। जैसा कि बार्नस् कहते है: दक्षिण अफ्रीका के संघमें मूलनिवासियोंके प्रति एक ऐसी नीति अपनाई गयी है जो न्याय और ईमानदारीकी प्रत्येक परम्पराको जानबूझकर नष्ट करनेका प्रयत्न करती है। ट्रान्सवाल और नेटाल में "किसी भी देशी पुरुषको जिस खेत या फॉर्ममें वह रहता और काम करता है उसके बाहर तब तक कोई नौकरी नही दी जा सकती जब तक उस फॉर्मका मालिक उसे नौकरी तलाश करनेकी लिखित अनुमति न देदे (४:२५६)।" अत्याचारमें बर्बरताका पुट दे दिया गया है।

यह तो सभी जानते है कि साम्राज्यवादी देश उन देशोंकी जनताकी हालत सुधारने में बहुत ही कम पैसा खर्च करते है जिनका न्यासधारी उन्होंने अपनेको बना लिया है। लियोनर्ड वूल्फ (Leonard-Woolf) का कहना है कि केनिया की सरकारने १९२४ में २० लाख पौण्डकी आयमें से ४४ हजार पौण्ड जेलो पर और सिर्फ ३६ हजार पौण्ड शिक्षा पर खर्च किया। सरकारकी नीति यह है कि २½ लाख अफ्रीका वासियों और ३६ हजार एशियाई लोगोंके हितोंका बलिदान करके लगभग १० हजार योरोपीय लोगोंका भला किया जाय। देशकी सम्पूर्ण उपयोगी भूमि इन योरोपीय लोगोंके लिए सुरक्षित रख ली गयी है। और "मूलदेशवासियोंको गरीबीकी राह भटकनेके लिए आजाद छोड दिया गया है (८३:८६)।"[1] दक्षिणी या पूर्वी अफ्रीका की हालतें यह साबित करती है कि यदि देशी जनताका भाग्य उस देशमें बस जानेवाले श्वेताग प्रवासियोंके हाथोंमें छोड दिया जाता है तो उनकी हालत मातृ-देशके औपनिवेशिक विभाग (colonial office of the mother country) के अधीन रहनेकी अपेक्षा और भी अधिक बुरी हो जाती है। उत्तरी और दक्षिणी रोडेशिया और न्यासालैण्डके मूल वासी इन प्रदेशोंको मिलाकर एक स्वशासन युक्त केन्द्रीय अफ्रीकी संघ बनाने का जो जोरदार विरोध करते थे उसका मुख्य कारण यही है। साधारणतया साम्राज्यवादी देशोंका दृष्टिकोण संकीर्ण होता है। उन्हे इस बातकी बहुत जल्दी रहती है कि मुर्गी को चीरकर जितनी जल्दी हो सके सोनेके कुल अण्डे निकाल लिये जायं। वे यह नही सोच पाते कि यह उन्हीके हितमें है कि उपनिवेशोंकी जनता सुखी रहे, उसके जीवनका स्तर ऊंचा हो और उसकी क्रय शक्ति अच्छी हो।

अफ्रीका को छोडकर जब हम भारत पर दृष्टि डालते है तो हम देखते है कि यहा भी हालत अंग्रेजोंके अधीन बहुत अच्छी नहीं थी, यद्यपि ब्रिटेन अन्य अधिकांश साम्राज्यवादी देशोंसे अच्छा रहा है। आर्थिक शोषण तथा देशके धनका देशसे बाहर जाना बेरोकटोक जारी रहा। पार्कर मून (Parker Moon) ने लिखा है:

---

[1] माऊ-माऊ संगठनका उदय इसीका परिणाम है। यह एक आतंकवादी संगठन है। यह संगठन किक्यू कबीलेमें है और श्वेतागो, तथा उनके साथ सहानुभूति रखने वालों और भेदियोंकी हत्या करता है।

"अंग्रेज पहले-पहल भारत क्यों आये और आकर क्यों भारतमें बने रहे, इसका प्रधान कारण यह नहीं है कि वे भारत की भलाई चाहते थे, बल्कि यह है कि वे ब्रिटेनका भला चाहते थे (६३ · २९०)।" १७५ वर्षमें अधिक अंग्रेजी शासनके बाद भी इस शासनके समाप्त होने पर भारतके मजदूरकी औसत मजदूरी लगभग ६ आना प्रति दिन थी। आज भी जनताकी दयनीय दरिद्रता एक ऐसा दुखदायी तथ्य है, जिस पर किसी भी पर्यवेक्षककी दृष्टि तुरन्त जाती है। महात्मा गाधी के शब्दोंमें: "अंग्रेजी भारतमें विधि द्वारा स्थापित सरकार जनताके इसी शोषणके लिए है। चाहे कितनी ही बातें बनायी जाय, आकडो से चाहे जैसे करिश्में दिखाये जाय पर अनेक गावोंमें जो हड्डीके ढाचे नजर आते हैं उनके कारण सत्यता पर धूल नही डाली जा सकती।"[1] गरीबीके अलावा देशमें निम्नतम् कोटिका अज्ञान छाया है। १९४० में ८७ प्रतिशत व्यक्ति निरक्षर थे, यद्यपि अब स्वतन्त्र भारतकी सरकार अपनी जनताको शिक्षित करनेका हर सम्भव प्रयत्न कर रही है। सार्वजनिक स्वास्थ्य बहुत ही बुरा था। जन्म और मृत्यु की सख्या बहुत ऊची थी। हम मानते हैं कि साम्राज्यवादी शक्ति पर ही इस सबका सारा दोष नही मढा जा सकता। देशकी आमदनीका बहुत अधिक भाग खर्चीली सेना पर खर्च किया जाता था और उतना ही अधिक भार एक बडी महगी असैनिक अधिसेवा (civil service) और पेन्शन पानेवालों पर खर्च हो जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसे राष्ट्र निर्माणके विभागोंको एन-केन-प्रकारेण जीवित रहना पडता था। पूजीके रूपमें ब्रिटेन से आनेवाली सम्पत्तिसे जनताका कोई कल्याण नही हो पाता था। जैसा कि बार्न्स् (Barnes) ने कहा है· "इस सम्पत्तिसे धनी लोगोका शिकंजा गरीबो पर तथा *ब्रिटेनका शिकंजा भारत पर और अधिक मजबूत हो गया था।"*

मुद्रा प्रणाली और सैनिक बजट पर तथा कुछ सीमा तक सीमान्त चुगी (tariff) और वित्त नीति (fiscal policy) पर अपना नियत्रण रखकर ब्रिटेन भारतकी दरिद्र जनताके हितोका बलिदान करके अपने देशवासियोंका कल्याण करनेमें समर्थ होता था। भारतके कुटीर तथा गृह-उद्योगोंको जो हजारो व्यक्तियो की जीविकाके साधन थे और जिनमें लोगोंको रचनात्मक कार्यों द्वारा अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्तिका अवसर मिलता था साम्राज्यवादी प्रतियोगिताकी होडमें करीब-करीब समाप्त कर डाला गया। यह सबको मालूम है कि भारतके व्यापक वस्त्र व्यवसायको पिछली शतीके आरंभमें ब्रिटेनमें, भारत के बढिया कपडो पर बहुत अधिक आयात चुगी लगाकर तथा अन्य तरीकोंसे समाप्त कर दिया गया। इन सब चीजोंको देखते हुए साम्राज्यवादको मानवतावादी कर्त्तव्य बताना ढोंग मालूम होता है। सेसिल रोड्स् (Cecil Rhodes) का यह कथन सत्यके अधिक निकट है कि "शुद्ध लोकोपकार अपने आपमें बहुत अच्छा है, पर लोकोपकारके साथ ५ प्रतिशतका लाभ

[1] भाषण, पृष्ठ ७५३-७५४।

भी हो तो और भी अच्छा है।" शूमन (Schuman) का कहना है कि "मानवतावाद, सभ्य बनानेका उद्देश्य, धर्म परिवर्तन और पिछड़े हुए लोगोंका भौतिक कल्याण आदि ऐसे शब्द हैं, जिनके पीछे लाभ उठानेके उद्देश्य, शक्ति प्राप्त करनेकी लालसा और आत्म प्रतिष्ठाको बड़ी चतुराईसे छिपाया गया है (७० : ४२२)।" इसी लेखक का कहना है कि जो देश साम्राज्यवादके जुएके नीचे हैं उनमें निरक्षरता दूर करने पर और शिक्षाके विकास पर बहुत कम धन व्यय किया जाता है। इसके विपरीत सैनिक कार्यों पर, प्रशासन पर और रेल निर्माणमें बहुत अधिक धन व्यय किया जाता है। श्वेताग प्रवासियोंको लाभ सबसे अधिक भाग मिलता है। सब कहीं भिखमगापन, भूखसे मौतें और सामाजिक विशृंखलता दिखायी देती है। अफ्रीका के लोगोके सिरो पर और झोपड़ियों पर कर लगाये जाते हैं जिनका उद्देश्य देशके राजस्वको बढ़ाना उतना नहीं होता है, जितना कि मूल देश वासियोंको सफेद चमड़ीवाले मालिकोंकी सेवाके लिए मजबूर करना होता है।

यदि यह भी मान लिया जाय, जैसा कि है भी, कि साम्राज्यवादके नीचे पिसने वाले देशोंकी जनताको कुछ अप्रत्यक्ष आर्थिक लाभ हो जाया करते हैं तो भी यह कहना ही पड़ेगा कि इस लाभके लिए उन्हें अपनी राजनीतिक स्वाधीनता, आत्म-सम्मान और आत्मगौरवको खोना पड़ता है। राजनीतिक दासता साम्राज्यवादका उतना ही अभिन्न अग है जितना आर्थिक शोषण। शक्तिकी प्रकृति कुछ ऐसी होती है कि जो लोग बहुत अधिक समय तक उसके अधीन रहते हैं उन्हें अपनी बेड़िया ही पसन्द आने लगती है। जैसा कि रूसो (Rousseau) ने कहा है : "यदि ऐसे लोग हैं जो अपनी प्रकृतिसे ही दास हैं तो इसका कारण यह है कि पहले प्रकृतिके विरुद्ध लोगो को दास बनाया गया है। "मिस्र, सीरिया, पेलेस्टाइन, भारत, बर्मा और लका का आधुनिक इतिहास यह साबित करता है कि साम्राज्यवादी शक्तिया अधिकार छोड़नेके लिए कभी तैयार नहीं होती और जनताको स्वशासनके योग्य बननेमें जितनी भी बाधाए सम्भव हैं उतनी बाधाए ये शक्तियां पैदा करती हैं। साम्राज्यवादी देशोंने अभी इस सत्यको स्वीकार नहीं किया है कि "कोई भी व्यक्ति इतना अच्छा नहीं होता कि वह दूसरोंका मालिक बन जाय।"

जब अधीन देशकी जनताका स्वशासन और स्वाधीनताका आन्दोलन प्रबल हो जाता है तब साम्राज्यवादी शक्ति निम्नलिखित उपायोंमें से एक या अधिक उपायोंका सहारा लेती है (७० : पृष्ठ ६२४-२९):

(क) जनताके प्रतिरोधकी शक्तिको ताकतसे कुचल दिया जाता है और उसे कमजोर कर देनेके उपाय किये जाते हैं।

(ख) जनताको साम्राज्यके प्रति वफादार बनानेके लिए साम, दाम, दण्ड, भेद और शिक्षा आदिका सहारा लिया जाता है।

(ग) देशी भाषा और संस्कृतिको हटाकर उसके स्थान पर विजेताओंकी भाषा और संस्कृति जनता पर लादी जाती है।

(घ) "राष्ट्रीय सरकारमें उपनिवेशकी प्रजाको प्रतिनिधित्व देनेका ढोंग रचा जाता है। इस व्यवस्थाको राष्ट्रीय आत्मनिर्णयके स्थान पर लागू किया जाता है।"

(ङ) स्वायत्त शासन, सुरक्षा और स्थानीय शासनके अनेक रूप और प्रकार खोज निकाल कर जनताको छोटे-छोटे मामलोंमें कुछ अधिकार दे दिये जाते हैं। पर इस बात का ध्यान रखा जाता है कि असली शक्ति साम्राज्यवादी देशके ही हाथमें रहे।

(च) देशी राजाओं (princes) और अन्य निहित स्वार्थोंका उपयोग औपनिवेशिक सरकारके अभिकर्ता (agents) के रूपमें किया जाता है।

(छ) इस बातका विशेष तौर पर ध्यान रखा जाता है कि *कार्यपालिका* (executive) पर व्यवस्थापिका (legislature) का नियंत्रण न होने पावे।

(ज) आपवादिक अवस्थामें ही साम्राज्यवादी शक्ति बिना युद्ध के अपना अधिकार छोड़ती है जैसा कि अंग्रेजोंने अपने कुछ उपनिवेशों और भारतमें किया।

विदेशी शासनका विरोध करनेवालोंकी शक्ति जब तक विजेताओंकी शक्तिसे कमजोर रहती है तब तक विदेशी अत्याचार और विदेशी तानाशाही बढ़ती ही जाती है (७०: ६२९)।" सार्वजनिक अव्यवस्था, साम्प्रदायिक तनातनी और संघर्ष, निरक्षरता, निम्न नैतिक स्तर आदिका बहाना लेकर स्वशासनको अनिश्चित काल तकके लिए स्थगित रखनेका प्रयत्न किया जाता है और इन बाधाओंको दूर करनेका प्रयत्न नहीं किया जाता। पिछड़े देशोंको आत्मविकास करने और गलती करके सीखने का कोई अवसर नहीं दिया जाता। इस दृष्टिसे अफ्रीका वासी सम्भवतः सबसे अधिक अभागे रहे हैं।

साम्राज्यवादके तथाकथित लाभोंके प्रसंगमें शूमन (Schuman) ने हमें इस तथ्यकी याद दिलायी है कि पश्चिमी सभ्यता शुद्ध वरदान ही नहीं है। ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जिनमें सफेद चमड़ीवालोंके धर्म, नैतिक आदर्श, भाषा और सामाजिक व्यवस्थाओंका परिणाम देशवासियोंकी संस्कृतिके विनाश, सामाजिक *अव्यवस्था* और नैतिक पतनमें हुआ है। हमें यह बताया गया है कि साउथ सीजके मूलनिवासी पश्चिमके साथ अपने सम्पर्कके कारण या तो मर चुके हैं या मर रहे हैं, क्योंकि शराब खोरी, बन्दूकबाजी और उपदंश रोग इस सम्पर्कके निकृष्टतम परिणाम हुए हैं। संसारके अन्य भागोंमें साम्राज्यवादी शासनके अधीन रहनेवाले लोगोंने अपना धर्म, अपनी कलाएं, अपने नैतिक आदर्श और अपनी ग्राम्य परम्पराओंको खो दिया है और वे पश्चिमी सफेद चमड़ीवालोंके भ्रष्ट और पतित उपहास्य नमूने (caricature) बन गये हैं (७०: ५९२)।" प्राचीन साम्राज्यवाद अपने अधीन लोगोंके जीवन पर बहुत थोड़ा प्रभाव डालता था। अधिकतर वह उन्हें अपनी मौलिक प्रतिभाके विकासके लिए स्वतन्त्र छोड़ देता था। पर आधुनिक साम्राज्यवाद लोगोंके जीवन पर व्यापक प्रभाव डालता है और उनकी संस्कृति और सभ्यतामें जो कुछ भी श्रेष्ठ और सुन्दरतम होता है उन सबका विनाश कर देता है। अपने अधीन लोगोंको वह "तुच्छ और निम्न कोटिके विधि हीन व्यक्ति समझता है और अपनी

सैनिक श्रेष्ठता तथा उच्च उद्योग विज्ञानको सास्कृतिक श्रेष्ठता मानता है।"

जातीय सम्बन्धोंको बिगाड़नेमें साम्राज्यवादका दायित्व बहुत अधिक है। एशिया और अफ्रीकामें जातियोंके सम्बन्धोंको बिगाड़नेवाला जातीय सघर्ष साम्राज्यवादकी विरासत है। सी० एफ० एण्ड्रूज (C. F. Andrews) पूछते हैं "आप एक ऐसे व्यक्तिके मित्र कैसे बन सकते हैं जो हमेशा आपको अपनेसे निम्नतर स्थितिमें रखनेको उतारू हैं?" वॉर्सेस्टर के प्रधानाचार्यने भारत पर भाषण देते हुए कहा था: "हमें भारत के क्लेशोंका मूल कारण खोजना चाहिए। उस देश पर हमारे शासनसे निस्सन्देह उस देशके वासियोंका बहुत लाभ हुआ है। आपसमें लड़नेवाले सम्प्रदायोंके बीच हमने बहुत समय तक शान्ति कायम रखी है। हमने रेलें बिछाई हैं, अकालसे युद्ध किया है, लोगोंका स्वास्थ्य सुधारा है और देशकी उपज बढ़ायी है। .... हमने भारतकी भौतिक आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए बहुत कुछ किया है लेकिन फिर भी हमें भारत वासियोंका प्रेम नहीं प्राप्त हो सका। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि हमने उनकी आत्मा को चोट पहुचाई है।" एच० जी० वैल्स (H. G. Wells) का कहना है कि साम्राज्यवादका मतलब है "हेकड़ी-शेखी, विश्वबन्धुत्व का उल्टा।" सयुक्त राज्य अमेरिकाके प्रसिद्ध समाजवादी नेता नार्मन टॉमस (Norman Thomas) व्यग्य पूर्वक कहते हैं: "अनेक ऐसे लोग हैं जिनके पास दफनाये जानेके लिए ६ फुट जमीन नही है पर वे इस गर्वसे फूले नही समाते कि उनका देश एक साम्राज्यका स्वामी है।" हमें बताया गया है कि प्रथम विश्वयुद्धके पहले जर्मनोंके उपनिवेशोंमें "गोरे लोग अपने साथ कोड़ा लेकर उसी प्रकार चलते थे, जिस प्रकार कोई रूमाल लेकर चलता है।"

जैसा कि प्रो० हॉकिंग (Prof. Hocking) ने कहा है, पश्चिम वाले यह मान बैठे हैं कि जो कुछ उनके लिए अच्छा है वह सबके लिए अच्छा है। "वह बहुत-सी अच्छी बातोंका विनाश कर रहे हैं—यह जाने बिना कि वह ऐसा कर रहे हैं। इसका एक उदाहरण, अरब संस्कृतिका विनाश है। पश्चिम यह नहीं समझता कि जीवनके सौन्दर्य, विचार और भाषाकी महत्ता, शिष्टता, आतिथ्य, सम्भाषण, अन्त प्रेरणा, काव्य और दार्शनिक ज्ञानके क्षेत्रमें पूर्व पश्चिमकी अपेक्षा कहीं अधिक आगे है।" (हॉकिंग)

इससे भी बड़ी दूसरी बुराई यह है कि युद्ध साम्राज्यवादका आवश्यक अग है। युद्ध पहले पिछड़े देशोंके साथ और बादमें दूसरे साम्राज्यवादी देशोंके साथ होता है। ऐसा एक भी उपनिवेश नहीं है जो बिना किसी रक्तपातके जीता गया हो। एक आधुनिक लेखकने लिखा है कि साम्राज्यका मार्ग उसके अधीन आ पड़ने वाले लोगोंके खूनसे लाल है। एक दूसरे लेखकने लिखा है कि कूटनीति, दबाव और सैनिक शक्ति साम्राज्यवादके आवश्यक साथी हैं। पिछड़े देशको अपने अधीन कर लेनेके बाद भी साम्राज्यवादी देशोंको एक बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ती है। यह सेना तीन कारणों से रखी जाती है: अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए; देशवासियोंके सम्भावित विद्रोहके भयके कारण और इस आशंकाके कारण कि वहाँ कोई प्रतिस्पर्धी साम्राज्य-

वादी देश लूटके मालको हड़प न लें। एक साम्राज्यवादी देश हमेशा काटों पर रहता हैं और उसकी मनोवृत्ति साधारण स्वस्थ्य मानव सम्बन्धोंके प्रतिकूल रहती हैं।

इन सब बुराइयोंके होते हुए भी साम्राज्यवादके समर्थक उसके पक्षमें निम्नलिखित दलीलें देते हैं: साम्राज्यवाद अराजकता और अव्यवस्थाको समाप्त करके शान्ति और व्यवस्था स्थापित करता है; पिछड़े समाजके आपसमें लड़नेवाले विभिन्न समुदायोंमें साम्राज्यवाद पंचका काम करता है। वह जनताको देशवासियोंके शोषण से बचाता है; साम्राज्यवाद देशके उन प्राकृतिक साधनोंको समार भरके लिए सुलभ बनाता हैं जिनका उपयोग पहले नहीं हुआ होता, विस्तृत प्रदेशों पर साम्राज्यवाद सामान्य विधि लागू करता हैं। आजकल जब तैयार माल और कच्चे मालके बाजारोंके लिए भयानक प्रतियोगिता चल रही हैं, अपने पैरों पर न खड़े हो सकने वाले देशोंके लिए यह निश्चित रूपसे लाभदायक है कि वे एक ऐसे बड़े साम्राज्यके अग बन जाय जो उन्हें व्यवस्थित जीवन और सुरक्षाकी सुविधा दे सके। हम मानते हैं कि इन सब तर्कोंके पीछे काफी बल है पर हमें यह मानना ही होगा कि ये सब बातें साम्राज्यवादकी बुराइयोंको केवल कम कर देती हैं वे किसी प्रकार भी साम्राज्यवाद का औचित्य सिद्ध नहीं करतीं। साम्राज्यवादका औचित्य तभी सिद्ध किया जा सकता है जब उसका उपयोग सबसे पहले और सबसे अधिक शासित लोगोंके कल्याणके लिए किया जाय और उन्हें जल्दीसे जल्दी स्वशासन और स्वाधीनताके योग्य बनाया जाय। ईमानदारी हमें यह कहनेके लिए मजबूर करती है कि इनमें से कोई भी बात उचित मात्रामें आजके साम्राज्यवादी ससारमें कहीं भी पूरी होती नहीं दिखायी देती है। विदेशी शासन पुरुषत्व और आत्म-सम्मानकी हानि के रूपमें शासितोंसे जो कीमत लेता है वह ऐसे शासनके लाभोंसे कहीं अधिक होती है।

(२) क्या साम्राज्यवाद मातृदेशकी जनताके लिए लाभप्रद है? (Does Imperialism Benefit the People of the Mother Country?). बहुधा यह मान लिया जाता है कि साम्राज्यवाद मातृदेशकी जनताको बहुत अधिक भौतिक लाभ पहुंचाता है। पर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे यह कल्पना सही नहीं साबित होती। जहा तक भावनाका सम्बन्ध है निस्सन्देह हेय मनोवृत्ति वाले लोगोंके लिए साम्राज्यवाद एक सुन्दर रसायन है। पर इससे जनताको कोई भौतिक लाभ नहीं होता। लीबियाके बारेमें इस तथ्यको सत्यता सिद्ध करते हुए शूमन (Schuman) ने कहा है: "लीबिया एक ऐसे औपनिवेशिक प्रदेशका अच्छा उदाहरण है जिसे मातृदेशकी जनता को काफी हानि पहुचाकर प्राप्त किया गया है और कूटनीतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठाके कारण मातृदेशके कर दाताओंको भारी हानि पहुचाकर उसे अधिकारमें बनाये रखा जा रहा है। जो कुछ थोड़ा बहुत लाभ होता भी है वह पूंजी लगाने वाले और कुछ थोड़ेसे सुविधा प्राप्त लोगोंको ही होता है। समूचे राष्ट्रको कोई भी आर्थिक लाभ नहीं होता (७०:४०६)।"

आमतौर पर साम्राज्यवादी अभियानोंसे जो कुछ आर्थिक लाभ होता है, वह

राज्यानुग्रह प्राप्त थोड़ेसे लोगोंको ही होता है। समूचे राष्ट्रको तो 'गुनाह बेलज्जत' ही बनना पड़ता है। उदाहरणके लिए ब्रिटेनकी आम जनताको भारत पर ब्रिटेनके अधिकारसे होनेवाला प्रत्यक्ष लाभ सम्भवतः बहुत ही कम था; यद्यपि यह सही है कि "एक उपनिवेशके रूपमें किसी भी औद्योगिक साम्राज्यको कभी भी प्राप्त होने वाले बाजारोंमे भारत सबसे बड़ा बाजार है (६३ · ५२०)।" वस्त्र और लोहे आदि के कुछ खास उद्योगोंको लाभ हो सकता है, पर सम्पूर्ण उद्योगको लाभ नहीं होता। यदि भारत और अन्य औपनिवेशिक प्रदेशोंमें लगी हुई कुल पूंजी ब्रिटेनमें ही लगी होती तो ब्रिटेनके मजदूरोंकी हालत उनकी आजकी हालतकी अपेक्षा बहुत अधिक अच्छी होती। लियोनर्ड बार्न्स् (Leonard Barnes) लिखते हैं "उपनिवेश विशेष तौर पर कुछ वर्गोंके लिए लाभप्रद होते हैं। वे पूंजी लगाने वालों और उत्पादकोंके लिए लाभप्रद होते हैं, पर वेतन भोगी मजदूरोंके लिए हानिकारक होते हैं (४ २१)।"

साम्राज्यवादके समर्थकोंका प्रायः यह कहना है कि साम्राज्यवादी देशोंको अपने उपनिवेशोंमें पैदा होनेवाला कच्चा माल बहुतायतसे मिल जाता है। पर वास्तविक तथ्योंसे इस दावेकी पुष्टि नहीं होती। जैसा कि पार्कर मून (Parker Moon) ने कहा है, कच्चे माल रंगभेदको नहीं पहचानते। कच्चे माल राजनीतिक नियमोंकी अपेक्षा आर्थिक नियमोंका अनुगमन करते हैं। यह सोचना मूर्खता है कि साम्राज्य-वादी देश द्वारा अपने उपनिवेशोंमें लगाई गयी पूंजी हमेशा प्रत्यक्ष लाभ देती है। यह विचार भी बिल्कुल गलत मालूम पड़ता है कि एक साम्राज्य कच्चे मालके मामलेमें आत्म-निर्भर बन सकता है, विशेषकर युद्धके समयमें। इस उद्देश्यकी सिद्धि जो बलि-दान चाहती है वह उद्देश्यके लाभसे कहीं अधिक है। एक ही साम्राज्यके भीतर के देश अपनत्वके जोशमें आकर इस बातके लिए तैयार हो सकते हैं कि वे पर्याप्त आर्थिक हानि उठाकर भी आपसमें ही एक दूसरेसे क्रय-विक्रय करें। पर यह जोश बहुत जल्दी ठण्डा हो जाता है। व्यापार साधारणतया कमसे कम मूल्यका अनुगमन करता है, अपनत्वकी दलीलोंका नहीं।

प्रथम विश्वयुद्धके बाद अंग्रेजी साम्राज्यमें साम्राज्यक रियायती चुंगी (imperial preference) के विचारने ज़ोर पकड़ा। यह विचार १९३१ में ऑटवा समझौतेमें अपनी चरम सीमा पर पहुंचा। पर इससे साम्राज्यको अधिक लाभ नहीं हुआ। 'टाइम्स' नामक समाचार-पत्र ने लिखा था 'ऑटवा (Ottawa Canada) और विश्व-युद्धके बीचके सात वर्षोंमें ब्रिटेन और उसके उपनिवेशोंने एक साथ ही यह सबक सीखा कि उनकी सबसे अधिक जटिल आर्थिक समस्याएं और उनको हल करनेकी आशाएं उनके पारस्परिक व्यापार पर नहीं बल्कि शेष संसारके साथ उनके व्यापार पर निर्भर करती हैं।'

ऊपरके तर्कोंके बावजूद मातृदेशके निम्न वर्गोंको अप्रत्यक्ष लाभ होता है। विदेशी व्यापार और सस्ते कच्चे मालके आयातसे सार्वजनिक समृद्धि और क्रय शक्तिमें वृद्धि होती है। यह बात संयुक्त राज्य अमेरिकाके बारेमें सही है, यद्यपि अमेरिका उन अर्थोंमें

साम्राज्यवादी नही है, जिन अर्थोमें ब्रिटेन, फ्रास, बेल्जियम और पुर्तगाल है।

लम्बे चौड़े साम्राज्यकी रक्षाके लिए ब्रिटेन को एक बहुत बडी जल, थल और नभ सेना रखनी पडती थी। और अंग्रेज करदाताओं इसका बोझ उठाना पड़ता था। ब्रिटेनके साम्राज्यवादी विस्तारसे जो कुछ भी अप्रत्यक्ष लाभ उसे होता था, उससे अधिक करोका बोझ उसे उठाना पड़ता था। सम्भवत यह आर्थिक बोझ ही एक कारण था कि द्वितीय विश्व-युद्धके बादसे ब्रिटेन अपने अधीनस्थ विविध देशोंको स्वाधीनता या स्वशासन देनेमें जुट गया।

यह तर्क कि साम्राज्यवाद अधिक आबादीका एक प्रतिकार है, तथ्यों द्वारा सिद्ध नही होता। इटली और जापान हमेशा अपनी बढती हुई आबादीका रोना रोते रहे, पर उपनिवेशोंसे उनकी यह समस्या हल नही हुई। उद्योग, कृषि और अर्थ-नीतिके समन्वयपूर्ण व्यवस्थापन और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा यह समस्या अधिक अच्छे ढगसे हल हो सकती है।

साम्राज्यवादका एक परिणाम यह होता है कि साम्राज्यवादी देशकी जनताका जीवनस्तर और मजदूरी कम हो जाती है। जब पूजीपति यह देखता है कि पिछड़े देशोंमें, जहा मजदूर सस्ते और काफी तादादमें मिल जाते है, अपनी पूजी लगानेमें उसे शीघ्र लाभ हो सकता है, तब वह अपनी पूजी मातृ-देशमें न लगा कर पिछड़े देशोंमें लगाता है। बहुत ही जल्दी उसे मालूम हो जाता है कि अपने देशकी अपेक्षा पिछड़े देशमें अनेक प्रकारकी वस्तुए बहुत कम लागतमें तैयार की जा सकती है। इस सबका नतीजा यह होता है कि उसके मातृ-देशमें मजदूरोकी मजदूरी कम हो जाती है और उन्हे बेकारीका भी सामना करना पडता है।

विजेताओं पर साम्राज्यवादका नैतिक प्रभाव निस्सन्देह बडा गम्भीर होता है। प्रो० हॉकिंग (Prof. Hocking) का यह कहना बिल्कुल सत्य है कि "किसी भी जातिके लिए एक लम्बी अवधि तक ऐसी जनताके बीच रहना जिसे वह हेय दृष्टिसे देखती हो, विशेष-रूपसे घातक होता है।" इससे नैतिकताका स्तर गिर जाता है और अन्त करण अशुद्ध हो जाता है। यह बात असाधारण नही है कि श्वेतांग लोग अपने लिए और काले लोगोंके लिए भिन्न-भिन्न मानदण्ड रखते है। देशकी विधि तकको इस भ्रष्ट दशाका समर्थन करनेके लिए विवश किया जाता है। सफेद चमडी वाले अपने अन्त करण को धोखा देकर यह विश्वास करने लगते है कि काले लोग एक निम्न जातिके है, काले लोगोंको उन सुख सुविधाओंकी कोई जरूरत नहीं है, जिन्हे श्वेतांग अपने लिए आवश्यक मानता है, काले लोग बिना कुछ खाये-पिये भी जीवित रह सकते है, उनके आचार, व्यवहार और आदर्श इस योग्य नही है कि उन पर ध्यान दिया जाय, और उनकी भावनाओं और उनके विचारों पर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता नही है आदि आदि। इस प्रकारकी आन्तरिक घृणा ही इस बातका मुख्य कारण है कि भारतमें शायद ही कुछ अंग्रेज भारतीय संस्कृति और सभ्यताका वास्तविक अर्थ और महत्व समझ पाये हो। वे यहाके हाथियो, चीतो, सांपो, मनोरजनके क्लबों और राज-

महलोंके बारेमें तो बहुत कुछ जानते हैं पर जनताके आन्तरिक जीवन और उसकी प्रतिभाके बारेमें उन्हें बहुत कम ज्ञान है। भारतीय दर्शन, काव्य, साहित्य और कलाके सौन्दर्यसे उनमें से अनेक बिल्कुल अनभिज्ञ रहे हैं।

जहां तक तथाकथित पिछड़े प्रदेशोंका सम्बन्ध है, साम्राज्यवाद अपने सबसे उत्तम रूपमें एक उदार तानाशाही कहा जा सकता है। दमन तो साम्राज्यवादकी रोटी-दाल है। अनुभव यह बताता है कि उपनिवेशोंमें काममें लाया जानेवाला दमन मातृ-देशमें भी अपनी जड़ें जमा लेता है। स्वाधीनताके प्रति स्वाधीनता प्रेमी अंग्रेजों का मौलिक उत्साह बहुत कुछ कम हो गया है। इसका कारण सम्भवत: यह है कि विदेशोंमें उनके देश वासियोंने जो सैनिक अत्याचार किये और उनके आश्रित साम्राज्यके विभिन्न भागोंमें स्वाधीनता पर जो कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये उनसे अंग्रेजोंकी मनोवृत्ति बदल गयी है।

साम्राज्यवादी देश और उसके अधीनस्थ देशोंके बीच जो अस्वाभाविक सम्बन्ध होता है, उससे यह बिल्कुल असम्भव हो जाता है कि दोनों एक दूसरेसे कुछ सीख सकें। जब तक दो जातियोंके बीच स्वामी और दासका सम्बन्ध रहता है तब तक नये विचारों और सुझावोंका स्वीकार किया जाना और शिक्षार्थीकी आन्तरिक शक्ति-सामर्थ्यका उपयोग असम्भव है। इसी सम्बन्धमें प्रो० हॉकिंग (Prof. Hocking) लिखते हैं: "एक अच्छा गुरु अपने शिष्यकी सब समस्याएं हल करके दे देना पसन्द नहीं करता बल्कि जहां तक हो उसे स्वावलम्बनके योग्य बनानेका प्रयत्न करता है। वह किसी कार्यके सम्पादनको उतना महत्व नहीं देता जितना शिष्यकी आन्तरिक शक्तियोंके विकसित करनेको, ताकि कार्य-सम्पादनके योग्य हो जाय। समस्या का हल भीख बांटना नहीं, बल्कि भिक्षुओंको आजीविका कमानेकी शिक्षा और प्रेरणा देना है।"

(३) क्या साम्राज्यवाद राष्ट्रोंके बीच संघर्षके कारण समाप्त करके विश्व-शान्तिमें सहायता देता है? **(Does Imperialism Help to Avoid Friction Points Among Nations and Make for World Peace?).** इस प्रश्न का उत्तर अधिकतर नकारात्मक ही है। साम्राज्यवादका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय होड़ और प्रतियोगिता है। इसका अर्थ है बाजारोंके लिए, कच्चे मालके लिए और पूंजी लगानेके स्थानोंके लिए संघर्ष[१]। जब तक अफ्रीका और एशिया में, बसने और शोषण करनेके लिए, काफी क्षेत्र थे तब तक पश्चिमी राष्ट्र आपसमें लड़े बिना उन्हें परस्पर बांटते रहे। आज प्रायः समस्त प्राप्य भूमि हड़पी

---

[१] यह संघर्ष आजकलके शीत युद्धमें सम्भावित साथियोंके लिए किया जाता है: उदाहरणके लिए अमेरिका और रूसके बीच युगोस्लावियाकी मैत्रीके लिए—और जहां तक रूसका सम्बन्ध है युगोस्लाविया पर हावी होनेके लिए चलनेवाली होड़ को देखें।

जा चुकी है और भविष्यमें साम्राज्यवादी शक्तियोंके बीच उपनिवेशों और बाजारोंके लिए संघर्ष होनेकी पूरी आशंका है। द्वितीय विश्व-युद्धमें जर्मनी और जापानने युद्ध सम्बन्धी अपनी जिम्मेदारीको यह कहकर उचित साबित करनेकी कोशिश की थी कि वे साम्राज्यवादी संसारमें समानता कायम करना चाहते थे। युद्धके आरम्भके पहले ही लियोनर्ड बार्न्‌स् (Leonard Barnes) ने लिखा था . "यह बिलकुल सत्य और उचित कथन है कि ब्रिटेनका इतने बड़े साम्राज्यका वर्तमान एकाधिकारी स्वत्वोंके साथ स्वामी बने रहना विश्वशान्तिके साथ मेल नहीं खाता (४:२१-२२)।"

अंग्रेज लेखक आमतौर पर बार्न्‌स् की उक्त रायसे सहमत नहीं हैं। वे अंग्रेजी साम्राज्यको विश्व-शान्तिका सबसे बड़ा रक्षक मानते हैं। प्रो० ई० बार्कर (Prof. E. Barker) का कहना है कि यद्यपि मूल रूपमें अंग्रेजी साम्राज्यका अभिप्राय बस्ती बसाने और व्यापार करनेके लिए समुद्रके पार देशोंमें अपना विस्तार करना था पर अब उसने अपनी पूर्णताकी एक ऐसी प्रणाली प्रकटकी है जिससे वह पूरी तरहसे स्वशासनयुक्त राष्ट्रोंके स्वेच्छाजन्य संगठित समाजके नवीन आदर्शरूपमें बदलता जा रहा है। यह संगठन विधान और स्वाधीनता सम्बन्धी अंग्रेजी विचारोंकी स्वेच्छाजन्य स्वीकृतिके आधार पर ही है। यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता नहीं है कि स्वशासनयुक्त राष्ट्रोंके स्वतंत्र संघका यह दावा वहीं तक ठीक है जहां तक अधि-राज्यों (Dominions) का सम्बन्ध है। उपनिवेशों और आश्रित प्रदेशोंके सम्बन्धमें यह कथन लागू नहीं होता। पूरे अंग्रेजी साम्राज्यका ६/७ भाग कुछ समय पहले तक उपनिवेश और आश्रित प्रदेश ही था।

बार्न्‌स् के अनुसार अंग्रेजी साम्राज्यके निम्नलिखित तथाकथित उद्देश्य हैं :

(क) साम्राज्यके समस्त सदस्योंके बीच शान्ति,

(ख) बाहरी आक्रमणके विरुद्ध सुरक्षाकी एक सहकारी व्यवस्था,

(ग) उसके सभी सदस्योंके लिए (१) वैयक्तिक (२) आर्थिक अर्थात् जीवनके सुन्दर और निरन्तर उन्नतशील मानदण्ड और (३) राष्ट्रीय स्वाधीनता।

बार्न्‌स् स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह सब केवल स्वशासन युक्त अधि-राज्योंके सम्बन्धमें ही सत्य है।

अगर दलीलके लिए यह मान भी लिया जाय कि अंग्रेजी साम्राज्यसे लम्बे-चौड़े प्रदेशोंमें शान्ति कायम हो जाती है तो भी इसका यह अर्थ नहीं होता कि इससे विश्व-शान्ति भी प्राप्त हो जाती है। युद्धोंमें कभी भाग न लेने, कभी आक्रमण न करने और अपने उपनिवेशों तथा आश्रित देशोंको यथासम्भव शीघ्र स्वशासनके उपयुक्त बनानेकी ब्रिटेनकी इच्छामें ईमानदारी हो सकती है, पर जब तक ब्रिटेन के अलावा संसारके अन्य पूंजीवादी देशोंको यह शिकायत बनी रहती है कि संसारके व्यापार और भू-प्रदेशोंमें उन्हें उपयुक्त भाग नहीं मिला है तब तक विश्वशान्ति कच्चे धागे पर ही झूलती है। इसलिए हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि व्यावहारिक साम्राज्यवाद—दार्शनिक साम्राज्यवाद नहीं—शान्तिके लिए खतरा नहीं है।

साम्राज्यवाद अपने सर्वोत्तम रूपमें एक सशस्त्र तटस्थता ही कहा जा सकता है।

(४) क्या साम्राज्यवाद का कोई विकल्प है? **(Is there an Alternative to Imperialism?).** हमारा विश्वास है कि साम्राज्यवाद स्थायी नहीं हो सकता। शूमन (Schuman) का विश्वास है कि साम्राज्योंके दिन अब गिने हुए ही हैं, यद्यपि उनका पतन बहुत धीरे-धीरे और क्रमश होगा। पार्कर मून (Parker Moon) का कहना है कि साम्राज्यवाद मध्य विक्टोरियनयुगका बचा-खुचा अंश है जो एक नितान्त गैरविक्टोरियन युगमें कायम है। यदि संक्रमण कालमें साम्राज्यवाद अपना औचित्य सिद्ध करना चाहता है तो उसे शोषण-मूलक न होकर उत्तरदायित्व मूलक होना होगा। प्रो० हॉकिंग (Prof Hocking) का कहना है कि केवल साम्राज्यवादी संगठनमें कुछ परिवर्तन कर देनेसे काम नहीं चलेगा। आवश्यकता तो एक नयी मनोवृत्ति की है। साम्राज्यवादी प्रश्नोंको सहानुभूतिपूर्वक हल करनेमें पुरानी औपनिवेशिक और सैनिक मनोवृत्तिसे सहायता नहीं मिलती। इन प्रश्नोंका निपटारा मनुष्य जातिकी सुख-समृद्धि और कल्याणके आधार पर होना चाहिए। समस्याका हल अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण और 'अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग' में मिल सकता है। इन प्रश्नों को हल करनेके लिए संयुक्तराष्ट्र संघ बहुत अधिक उपयोगी संस्था है पर अभी तक यह उपयोगिता अप्रगट रूपमें ही है।

बार्न्स् (Barnes) का कहना है कि आधुनिक युगमें साम्राज्यवाद तभी सहन किया जा सकता है जब औपनिवेशिक साम्राज्य भर में खुलाद्वार नीति अपनाई जाय। उनका विश्वास है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गला नहीं घोटना है तो ब्रिटेनको अपनी परम्परागत मुक्त व्यापार नीति (free trade policy) अपनानी होगी। उनकी राय है कि कच्चा माल सभी खरीदारोंको एक ही भाव देना जाना चाहिए। अपवाद तभी होना चाहिए जब किसी प्रकारके अपराधी राष्ट्रोंके विरुद्ध आर्थिक अनुशास्तिया (economic sanctions) लागू करनी हो। "यदि कच्चे मालकी पूर्तिको किसी और प्रकारसे नियंत्रित करना हो तो उपभोक्ताओंके हितोंकी रक्षा राजकीय नियंत्रण द्वारा की जानी चाहिए और उस नियंत्रणमें उपभोक्ता देशोंका भी हाथ होना चाहिए(४·१७)।"

उपनिवेशों और समादेशित प्रदेशोंके शासनके बारेमें बार्न्स् बहुत ही ठीक कहते हैं कि चूकि ये प्रदेश वहाके निवासियोंके हैं, इसलिए उनके हितोंका ध्यान सबसे पहले किया जाना चाहिए। यदि किसी प्रदेशका हस्तान्तरण जरूरी हो तो यह काम वहाके निवासियोंकी पूर्ण और स्वेच्छाजन्य स्वीकृतिसे ही किया जाना चाहिए। बार्नस् का विश्वास है कि इस समस्याका सबसे अच्छा हल यह है कि समादेशित प्रदेशों और उपनिवेशोंको एक अन्तर्राष्ट्रीय सत्ताके अधीन कर दिया जाय, यद्यपि वह यह मानते हैं कि सम्भवत. यह व्यवस्था आरम्भमें अच्छी तरह सफल नहीं होगी। जो देश स्वशासनके लिए उपयुक्त हैं उन्हें जल्दीसे जल्दी अपना लक्ष्य प्राप्त करनेमें

सहायता दी जानी चाहिए। यदि इन देशोको अब भी पश्चिमके प्रगतिशील देशोंकी सहायताकी आवश्यकता हो तो यह सहायता संयुक्त राष्ट्र-संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा विशेषज्ञों, परामर्शदाताओ और प्रशासकोंके रूपमें दी जानी चाहिए। इन देशोंको किसी एक देशका अनिश्चित कालके लिए गुलाम नही बनने देना चाहिए। किसी भी उपनिवेश या समादेशापित प्रदेशमें वहाकी जनता का या वहाके किसी क्षेत्रका सैन्यीकरण नही होना चाहिए।

साम्राज्यवादको सुधारनेके लिए दिये गये अन्य सुझाव इस प्रकार हैं :

(क) देशके मूल निवासियोका भाग्य सफेद चमड़ीवाले प्रवासियोंके हाथ नही सौंपा जाना चाहिए। वूल्फ (Woolf) और बार्न्स् दोनों ही दक्षिणी अफ्रीका और केनियाकी अनेक कठिनाइयोंका मूल कारण वहाके गोरे प्रवासियोंकी स्वार्थ-पूर्ण और सब कुछ हथिया लेनेवाली नीतिको ही बताते हैं। वर्ग-भेद और वर्ग क्षेत्र विधेयक (Class-areas Bill) आदिके आधार पर यदि निर्णय किया जाय तो ऐसा मालूम होगा कि सन् १९०९ में दक्षिण अफ्रीका संघको अधिराज्यका पद (Dominion Status) समयसे पहले ही दे दिया गया। सम्भवत. ब्रिटेनका उपनिवेश विभाग हब्शी लोगोंके प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण नीति अपनाता।

यह बहुत जरूरी है कि साम्राज्यवादी देश या अन्तर्राष्ट्रीय संस्था उपनिवेश की भूमिका विदेशीकरण और वहाके मजदूरोका शोषण न होने दे। दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीकामें मजदूरोंकी हालत करीब-करीब दासोंकी सी है। मजदूरों के "अधिकार तो कमसे कम और दायित्व अधिकसे अधिक" रहते हैं। बार्न्स्का कहना है कि दासता जैसी परिस्थितियोंका सुधार आज दिन बची-खुची दासताको मिटानेकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक समस्या है। जातीय विद्वेष और अत्याचारको मूल देश वासियोंके हितमें बताकर इसका औचित्य सिद्ध किया जाता है।

(ख) पिछडे देशोंमें वैयक्तिक पूंजीका अनियंत्रित प्रवाह न होना चाहिए। किसी भी देशके विकासमें निहित स्वार्थ, विशेष कर विदेशी स्वार्थ, प्राय. सबसे अधिक बाधा पहुचाते हैं। ऐसी स्थितिसे बचनेके लिए यह जरूरी है कि पूंजी का प्रवाह संयुक्तराष्ट्र संघके नियत्रणमें रखा जाय। बार्न्स् का सुझाव तो यह है कि एक अन्त-र्राष्ट्रीय औपनिवेशिक धन विनियोग समिति (International Board of Colonial Investment) की स्थापना की जाय, जो समादेशापित क्षेत्रोंमें लगानेके लिए सम्पत्ति निर्धारित करे, कर्ज ले और सदस्य राष्ट्रोंमें ठेकोंका न्याय सगत वितरण करे। वित्तीय और प्रशासकीय आवश्यकताओंको ध्यानमें रखते हुए जहा तक सम्भव हो, विकास योजनाओंके लिए वैयक्तिक सम्पत्ति (private investment) पर रोक लगनी चाहिए (४ · ३४)।"

(ग) पिछड़े देशोंको उनकी मूल परम्पराओंके आधार पर यथासम्भव शीघ्र स्वशासनके योग्य बनाया जाना चाहिए। बार्न्स् का विश्वास है कि भारतमें अंग्रेजी शासन यद्यपि कुशल था पर साथ ही हृदयहीन था। इसका कारण वह यह

बताते हैं कि देशी संगठनोंकी उपेक्षाकी गयी थी। "भारत वासियोंकी दृष्टिसे सरकार का समूचा ढाँचा उन पर ऊपरसे लादा गया था, वह उनके आह्वानका फल नहीं था।" वूल्फ ने लिखा था यदि "संघर्ष और आन्दोलनके बिना ही एशियाको साम्राज्य-वादी शासनसे छुटकारा दिला कर योरोप वाले, एशियाको पूर्णस्वाधीन नहीं कर देते तो फसाद और राष्ट्रीयताका गुबार इतनी जोरसे फूटेंगे कि उनके सामने महा-युद्धकी विभीषिका फीकी जान पडेगी (८३ : ३०)।" आज दिन हम यही देख रहे हैं।

(घ) जब तक बाहरी नियंत्रण जरूरी हो तब तक पूर्ण नियंत्रणकी अपेक्षा आंशिक नियंत्रण, प्रत्यक्ष नियंत्रणकी अपेक्षा देशी परम्पराओं और संस्कृति पर आधारित अप्रत्यक्ष नियंत्रण तथा एक राष्ट्रके नियंत्रणकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण अच्छा होगा।

(ङ) बार्न्स् ने एक बड़ा उपयोगी सुझाव यह दिया है कि चूंकि साम्राज्यवाद और पूंजीवादका एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए साम्राज्यवादमें व्यापक "सुधार करनेके लिए यह आवश्यक है कि मातृदेशमें" पूंजीवादको हटाकर समाज-वाद कायम किया जाय। बार्न्स् के ही शब्दोंमें "ब्रिटेन में किसी न किसी प्रकारकी समाजवादी क्रान्ति हो चुकनेके बाद ही साम्राज्यवादी व्यवस्था का रूप सुधार कर सहनीय हो सकता है। "उपनिवेशोंकी स्वाधीनता और उनका विकास तथा ब्रिटेनका समाजीकरण एक दूसरे पर आश्रित हैं। एकके बिना दूसरा नहीं हो सकता। वे एक ही अन्तर्सम्बद्ध प्रक्रियाके दो पहलू हैं"। आर० फॉक्स (R. Fox) का कहना है कि ब्रिटेनके मजदूर वर्गके संघर्ष और ब्रिटेनके समाजीकरणके प्रश्नों पर इन्हें अंग्रेजी साम्राज्यके लोगोंकी आजादीके प्रश्नसे अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता। बार्न्स् और फॉक्सके कथनकी सत्यता आजके ब्रिटेनके समाजवादसे सिद्ध हो गयी है। यद्यपि ईरान द्वारा अपने तेल उद्योगके समाजीकरणका ब्रिटेन जबरदस्त विरोधी भी है। मिलके इस्माइल ने पिछडे देशोंमें विदेशियोंके कर्तव्योंकी एक तालिका बनायी है जो साम्राज्यवादी शासकों और राजनीतिज्ञों पर भली-भांति लागू होती है। वह तालिका यह है—

"शासन भार तभी स्वीकार करो जब उसे स्वीकार करके तुम उस जातिका कल्याण कर सको जिस पर शासन करो;"

"जनताको एक उच्च सभ्यता तक उसका नेतृत्व कर ले जाओ, उसे खदेड कर नहीं;"

"अपनी मातृ-भूमिसे अपने सम्बन्ध तोड दो;"

"अन्य सरकारोंका मुकाबला करो और जिस राज्यका नमक खाओ उसकी सम्प्रभुताको अखण्ड रखो;"

"किसी भी ऐसे प्रश्न पर सम्मति देनेमें जिसे स्वयं तुम्हारी या कोई विदेशी सरकार हल करना चाहती हो देशवासियोंका प्रतिनिधित्व करो और ऐसा करनेमें"—

"अपना आधार और अपना निर्देशक आदर्श वही रखो जो पूरे संसारमें सबके

बनाते हैं कि देशी संगठनोंकी उपेक्षाकी गयी थी। "भारत वासियोंकी दृष्टिमें सरकार का समूचा ढांचा उन पर ऊपरसे लादा गया था, वह उनके आह्वानका फल नहीं था।" वूल्फ ने लिखा था यदि "संघर्ष और आन्दोलनके बिना ही एशियाको साम्राज्य-वादी दासतासे छुटकारा दिला कर योरोप वाले, एशियाको पूर्णस्वाधीन नहीं कर देंगे तो फसाद और राष्ट्रीयताका गुबार इतनी जोरसे फूटेंगे कि उसके सामने महा-युद्धकी विभीषिका फीकी जान पड़ेगी (८३ : ७०)।" आज दिन हम यही देख रहे हैं।

(घ) जब तक बाहरी नियंत्रण जरूरी हो तब तक पूर्ण नियन्त्रणकी अपेक्षा आंशिक नियंत्रण, प्रत्यक्ष नियन्त्रणकी अपेक्षा देशी परम्पराओं और संस्कृति पर आधारित अप्रत्यक्ष नियंत्रण तथा एक राष्ट्रके नियंत्रणकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण अच्छा होगा।

(ङ) बार्न्‌स् ने एक बड़ा उपयोगी सुझाव यह दिया है कि चूंकि साम्राज्यवाद और पूंजीवादका एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए साम्राज्यवादमें व्यापक "सुधार करनेके लिए यह आवश्यक है कि मातृदेशमें" पूंजीवादको हटाकर समाज-वाद कायम किया जाय। बार्न्‌स् के ही शब्दोंमें. ब्रिटेन में किसी न किसी प्रकारकी समाजवादी शान्ति हो चुकनेके बाद ही साम्राज्यवादी व्यवस्था का रूप सुधार कर गहनीय हो सकता है। "उपनिवेशोंकी स्वाधीनता और उनका विकास तथा ब्रिटेनका सामाजीकरण एक दूसरे पर आश्रित है। एकके बिना दूसरा नहीं हो सकता। वे एक ही अन्तर्सम्बद्ध प्रक्रियाके दो पहलू हैं"। आर० फॉक्स (R. Fox) का कहना है कि ब्रिटेनके मजदूर वर्गके संघर्ष और ब्रिटेनके सामाजीकरणके प्रश्नों पर इन्हें अंग्रेजी साम्राज्यके लोगोंकी आजादीके प्रश्नसे अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता। बार्न्‌स् और फॉक्सके कथनकी सत्यता आजके ब्रिटेनके समाजवादसे सिद्ध हो गयी है। यद्यपि ईरान द्वारा अपने तेल उद्योगके सामाजीकरणका ब्रिटेन जबरदस्त विरोधी भी है। मिस्रके इस्माइल ने पिछड़े देशोंमें विदेशियोंके कर्तव्योंकी एक तालिका बनायी है जो साम्राज्यवादी शासकों और राजनीतिज्ञों पर भली-भांति लागू होती हैं। वह तालिका यह है—

"शासन भार तभी स्वीकार करो जब उसे स्वीकार करके तुम उस जातिका कल्याण कर सको जिस पर शासन करो;"

"जनताको एक उच्च सभ्यता तक उसका नेतृत्व कर ले जाओ, उसे खदेड़ कर नहीं;"

"अपनी मातृ-भूमिसे अपने सम्बन्ध तोड़ दो;"

"अन्य सरकारोंका मुकाबला करो और जिस राज्यका नमक खाओ उसकी सम्प्रभुताको अखण्ड रखो;"

"किसी भी ऐसे प्रश्न पर सम्मति देनेमें जिसे स्वयं तुम्हारी या कोई विदेशी सरकार हल करना चाहती हो देशवासियोंका प्रतिनिधित्व करो और ऐसा करनेमें"—

"अपना आधार और अपना निर्देशक आदर्श वही रखो जो पूरे संसारमें सबके

लिए न्याय-संगत और उचित हो, और जो उस देशके निवासियोंके लिए सबसे अधिक कल्याणप्रद हो, जिसकी सेवा तुम कर रहे हो।"

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (Internationalism)

सभी देशोंके विचारशील लोग अब इस बातकी आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकताको समाप्त करके उसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम की जानी चाहिए। संसार अब उतना लम्बा-चौड़ा नहीं रह गया है जितना पहले हमारी कल्पनामें था। परिवहन (transport) और संचार (communication) के द्रुतगामी साधनों ने दूरीकी समस्या हल कर दी है। आर्थिक दृष्टिसे संसार एक इकाई है। देश (space) की दूरी और उससे पैदा होने वाले रहस्यमय भयको रेडियोंने समाप्त कर दिया है। जैसा कि मदारियागा (Madariaga) ने कहा है: खबरों और विचारोंके दृष्टिकोणसे सारा संसार एक बाजार सा हो गया है। जिस प्रकार बाजारके किसी एक कोनेकी खबर आनन-फाननमें बाजार भर में फैल जाती है, ठीक उसी प्रकार संसार के एक कोनेकी खबर तुरन्त संसार भर में फैल जाती है। आज वास्तवमें हम ऐसे संसारमें रह रहे हैं जिसमें एक देशके लोगोंकी समस्याका प्रभाव आगे-पीछे सभी देशों पर पड़ता है। यदि मानव-जातिको उस दुर्भाग्यसे बचना है, जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा है तो उसे राष्ट्रीय अलगावकी भावनाको छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्यकी भावनाको अपनाना होगा और राष्ट्रीय सम्प्रभुताके सिद्धान्तके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय एकताके सिद्धान्त को कायम करना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीयतावादका ध्येय आत्मसम्मान और स्वशासन पूर्ण राष्ट्रोंका एक ऐसा परिवार है जो समानता, शान्ति और पारस्परिक सहयोगके सम्बन्ध सूत्रोंसे एकतामें बंधा हो। मानव विकासकी वर्तमान स्थितिमें तो अवश्य ही, एक स्वस्थ राष्ट्रीयतावाद स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयतावादकी भूमिका बन सकता है। जोजेफ (Joseph) के शब्दोंमें: "राष्ट्रीयता मनुष्य और मनुष्य-जातिके बीच एक आवश्यक कड़ी है। सैनिकवाद तथा कट्टरपन और युद्ध प्रियता अथवा वह जिसे पहले "भेड़ियोंकी सी आक्रामक राष्ट्रीयता" कहा गया है, अन्तर्राष्ट्रीयतावादका निश्चित शत्रु है। अपने वर्गके प्रति निष्ठा रखनेके मतलब किसी प्रकार भी यह नहीं है कि दूसरे वर्गोंसे घृणा की जाय। सांस्कृतिक, नैतिक, और आध्यात्मिक राष्ट्रीयतावाद अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का मित्र है। विलियम लॉएड गैरीसन (William Lloyd Garrison) का कहना है कि पूरा संसार हमारा देश है, मानवमात्र हमारे देशवासी हैं। हम दूसरे देशोंकी धरती को उतना ही प्यार करते हैं जितना अपनी राष्ट्रीयता की धरती को।

१९वीं शताब्दीके पहले योरोप की जातियोंको एक दूसरेके समीप लानेके और एक दूसरेके बीच स्थायी शान्ति कायम करनेके लिए अनेक प्रयत्न किये गये। पर वे

सब प्रयत्न असफल रहे; क्योंकि उनका उद्देश्य यथास्थिति कायम रखना था। इन योजनाओंमें से एक योजना महान् फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ ड्यूक डु सली (Duc de Sully) की थी। उसने अपनी योजना १७वीं शतीके आरम्भमें सम्राट् हेनरी चतुर्थ के नाम से प्रकाशित की थी। इस योजनाकी प्रधान विशेषता यह थी कि इसने एक विश्व राज्यकी मध्यकालीन कल्पनाको छोड़कर तत्कालीन राज्योंकी स्वायत्तताको स्वीकार किया था। चाहे जितने अस्पष्ट रूपसे हो, पर सली ने विश्व-शान्तिकी किसी भी योजनामें राष्ट्रीय स्वाधीनताकी आवश्यकता अनुभव कर ली थी। उन्होंने मध्य-कालीन विश्व-आदर्शकी अव्यावहारिकता भली-भांति समझ ली थी। उनकी योजनाको महान् योजना (Grand design) कहा जाता है। इस योजनाके अनुसार योरोप एक ईसाई गणतंत्र बनता जिसमें रूस बहिष्कृत रहता और तुर्की साम्राज्य (Ottomon Empire) सबका शत्रु समझा जाता। इस गणराज्यमें ६ वंशा-नुगत राजतंत्र, पांच निर्वाचित राज्यतंत्र और चार गणतंत्र होते और रोमन-जर्मन सम्राट उसका अध्यक्ष होता। सम्राटकी सहायताके लिए जो स्थायी समिति बनती उसमें ६४ सदस्य होते। ये लोग सार्वजनिक हितके प्रश्नोंका विवेचन करते और राष्ट्रों के बीच होने वाले झगड़ोंका फैसला करके शान्ति कायम रखते। इस समितिके पास एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थल और जल सेना होती। इस सुझावको फ्रांस के प्रधान मंत्रियों तारद्यू और हेरियो (Tardieu and Harriot) ने १९३२ के निरस्त्रीकरण सम्मेलनमें फिरसे पेश किया था।

दूसरी महत्त्वपूर्ण योजना आबे दु सा पीर (Abbe de St. Pierre) ने उप-स्थित की थी। यह योजना उत्रेष्ट (Utrecht) सम्मेलन (१७१३) के बाद तुरन्त पेश की गयी थी। पीर ने इस सम्मेलनमें भाग लिया था। नेपोलियनके युद्धोंके समाप्त हो जानेके बाद भी यह योजना योरोपके राजनीतिज्ञोंकी विचारधारा को प्रभावित करती रही। इस योजनाका मौलिक सिद्धान्त यह था कि सम्पूर्ण योरोप एक समाज है और किसी भी एक राज्यको इतना शक्तिशाली नहीं होना चाहिए कि वह शेष योरोप पर हावी हो जाय। योरोपके सभी राज्योंको एक ऐसे संविदामें सम्मिलित होना था जिसके अनुसार वे प्रतिज्ञा करते कि वे एक दूसरेकी क्षेत्रीय अखण्डताको कायम रखेंगे, क्रान्तियोंको कुचलेंगे और राजाओंको उनके सिंहासनों पर बनाये रखेंगे। यदि कोई राज्य इस करारको तोड़नेकी कोशिश करता तो उसके विरुद्ध शक्तिका उपयोग किया जाता। राज्योंके बीच होनेवाले मतभेदोंको पंचायत द्वारा सुलझाया जाता। उत्रेष्ट शान्ति नगर बनाया जाता। वहां राज्योंके प्रतिनिधियोंकी "एक ऐसी सभा होती जिसे शान्ति कायम रखने और संधिके उद्देश्योंको पूरा करने तथा सभाके निश्चयोंको कार्यान्वित करने के लिए बहुमतसे आवश्यक और उपयुक्त विधियां बनानेका अधिकार प्राप्त होता (७० : २३५-३६)"। यह योजना इसलिए असफल हो गयी कि इसमें संधियोंकी अभंगुरता पहले ही से मान ली गयी थी। इसका उद्देश्य केवल यथास्थिति कायम रखना था। दूसरी बात यह थी

कि यह सन्धि तानाशाही राजाओंके बीच होतेकी थी न कि देशोंकी जनताके बीच और इसलिए यह एक ऐसी व्यवस्थाको स्थायी बना देना चाहती थी जिसका कोई औचित्य नहीं था। एक अन्तिम कारण यह था कि पीर इस राष्ट्रीय विचारके महत्व को नहीं समझ सके कि जहां तक सम्भव हो, राजनीतिक और राष्ट्रीय सीमाएं एक ही होनी चाहिए।

पीर की योजना रूसोके चिन्तनका आधार बनी। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और युद्ध स्वतन्त्र राज्योंके सम्बन्धोंसे पैदा होते है। इस लिए उन्होंने सर्वीय योरोपकी योजना प्रस्तुत की; जिसका संगठन विधि शासनके रूपमें होना। राज्योंको एक अविच्छेदनीय गठबन्धन (irrevocable alliance) में शामिल होना था। झगड़े, पंच निर्णयसे तय किये जाते। संघ अपने सदस्य राज्योंके प्रादेशिक अखण्डताकी तथा उनकी तत्कालीन शासन पद्धतिकी गारन्टी देता। राज्योंके आकारका विचार किये बिना सभी राज्योंको कांग्रेस या प्रतिनिधि सभामें मतदान का समान अधिकार और सदस्य राज्योंका बारी-बारीसे अध्यक्षीय पद पर आसीन होना इस योजनाके अन्य सिद्धान्त थे। यदि कोई सदस्य राज्य संविदा की शर्तोंको तोड़ता तो उसे सार्वजनिक शत्रु घोषित किया जाता और उसके विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की जाती। प्रतिनिधि सभाके पूर्णाधिकार प्राप्त प्रतिनिधियोंको तीन-चौथाई मतसे ऐसे नियम बनानेका अधिकार था जो सभी सदस्योंके ऊपर लागू किये जा सकते थे।

जेरमी बेन्थम (Jeremy Bentham) ने अपनी पुस्तक "प्रिन्सिपल्स् ऑफ इन्टरनेशनल लॉ" में रूसोके कार्य को अपने हाथों में लिया। बेन्थमको अंग्रेजी भाषामें सबसे पहले "इन्टरनेशनल" (अन्तर्राष्ट्रीय) शब्दका उपयोग करनेका श्रेय है। उन्होंने युद्धको "बड़ीसे बड़ी शैतानी" बताया था। उनका विश्वास था कि रक्षात्मक सन्धियों, सार्वजनिक गारन्टियों, निरस्त्रीकरण और औपनिवेशिक साम्राज्यको त्यागनेसे युद्धको दूर किया जा सकता है। उनका निश्चित मत था कि गुप्त कूटनीति, चुंगी प्रणालियां (tariffs), सरकारी उपहार और उपनिवेश, ये सब विश्व-शान्तिमें घातक है और इसलिए इन सबका उन्मूलन किया जाना चाहिए। विभिन्न देशोंकी विधियों को संहिता-बद्ध (codify) करके बेन्थम ने अन्तर्राष्ट्रीयता-वादकी एक और सेवा की है।

१८वीं शतीके अन्तिम महान् दार्शनिक जिन्होंने विश्वशान्तिकी समस्याका विवेचन किया, इमैनुअल काण्ट (Immanuel Kant) थे। अपने प्रसिद्ध निबन्ध *Towards Eternal Peace* में उन्होंने शान्ति कायम रखनेके लिए एक संघीय योजना बनायी थी। काण्ट द्वारा निर्धारित सिद्धान्त ये हैं: "सभी राज्योंकी स्वाधीनताकी सुरक्षा, किसी दूसरेके मामलेमें हस्तक्षेप न करनेकी नीतिका पालन और स्थायी सेनाका क्रमिक उन्मूलन।" उन्होंने सभी राज्योंके लिए गणतन्त्रीय संविधानों का और विश्व नागरिकताका समर्थन किया। पर उनकी शिक्षाओंका घटनाचक्र पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा।

१९वीं शतीके आरम्भमें नेपोलियन ने विश्व-शान्तिकी समस्या पर कुछ ध्यान दिया। यदि हम "लैकासे" (*Les Cases*) के अभिलेखों पर विश्वास करें तो, राष्ट्रीयताके आधार पर योरोपका मानचित्र नये सिरेसे बनाया और इन नव निर्मित राज्योंको फ्रान्सके नेतृत्वमें एक संघमें शामिल करना ही नेपोलियन के युद्धोंका उद्देश्य था।

२०वीं शती में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद: राष्ट्र संघ (**Internationalism in the 20th Century: The League of Nations**). अन्तर्राष्ट्रीयताके क्षेत्रमें सबसे अधिक प्रगति २०वीं शतीके प्रथम चरणमें हुई—कमसे कम इस दृष्टिसे कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना की गयी। यदि कमी थी तो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भावनाकी और अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण की। फिर भी जनमत धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीयतावादकी ओर झुक रहा था और यह आशा करना युक्ति-संगत हो गया था कि राष्ट्रीयतावाद और साम्राज्यवादकी भांति अब अन्तर्राष्ट्रीयतावादको मनुष्यकी विचार-धाराका एक स्वाभाविक अंग बन जानेमें अधिक समय नहीं लगेगा।

राष्ट्र-संघ (League of Nations) का जन्म १ जनवरी सन् १९२० को हुआ। यद्यपि यह किसी एक अकेले व्यक्ति या किसी एक अकेली पीढ़ीका कार्य नहीं था, फिर भी राष्ट्र संघको एक व्यावहारिक वास्तविकताका रूप देनेमें अन्य किसी भी राजनीतिज्ञकी अपेक्षा वुड्रो विल्सन ने अधिक सहायता दी थी। विल्सन द्वारा घोषित प्रसिद्ध १४ सूत्रोंमें से अन्तिम सूत्रको व्यावहारिक रूप देनेके लिए राष्ट्र संघकी स्थापना हुई थी। इस सूत्रमें उन्होंने घोषित किया था कि सरकारों तथा छोटे राज्यों की स्वाधीनता तथा प्रादेशिक अखण्डताकी पारस्परिक गारण्टी देनेके उद्देश्य से निश्चित प्रसंविदाओं (covenants) के अनुसार राज्योंका एक सामान्य संगठन बनाया जाना चाहिए। राष्ट्र संघका श्रीगणेश बुरे ढंगसे हुआ क्योंकि योरोपीय राजनीतिज्ञोंका समर्थन प्राप्त करनेके लिए (और इन राजनीतिज्ञोंमें राष्ट्र संघके प्रति केवल मौखिक उत्साह था) विल्सन को उन शान्ति सन्धियोंसे राष्ट्र संघको बांध देना पड़ा जिनमें अनेक अन्यायपूर्ण और अव्यावहारिक शर्तें जुड़ी हुई थीं और जो असामान्य शान्तिकाल (uneasy piece) (१९१९-३९) में उत्पन्न होने वाली अनेक कठिनाइयोंके लिए जिम्मेदार थीं।

प्रसंविदा (covenant) की प्रस्तावनामें राष्ट्रसंघके उद्देश्य इस प्रकार घोषित किये गये हैं :—

'इस संघमें शामिल होने वाले राष्ट्र

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम करने के उद्देश्यसे;

युद्धका मार्ग न अपनानेका दायित्व स्वीकार करके;

राष्ट्रोंके बीच खुले, न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सम्बन्धोंको स्थापित करके,

सरकारोंके बीच पारस्परिक व्यवहारके निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय विधिको दृढ़ता-पूर्वक स्थापित करके,

और सुसंगठित राष्ट्रोंके बीच पारस्परिक व्यवहारमें न्याय कायम रखकर और जितने भी सन्धिजन्य दायित्व हों उन सबका पूरी निष्ठासे आदर करते हुए राष्ट्र सघके इस प्रसंविदाको स्वीकार करते हैं।'

प्रसंविदाकी धाराओंका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेसे राष्ट्र सघके निम्न-लिखित उद्देश्य जान पड़ते हैं :

(क) शान्ति सम्मेलन द्वारा स्थापित यथास्थिति (*status quo*) को स्थायी रूपसे कायम रखना,

(ख) कुछ निश्चित प्रशासकीय और निरीक्षणिक कर्तव्योंको पूरा करना, जैसे राष्ट्रोंके अल्प सख्यकोंकी रक्षा, डैन्जिगके स्वतन्त्र शहरकी देख-रेख, सारघाटीका प्रशासन और समादेशित प्रणाली (mandates system) का कार्यान्वय;

(ग) जन-स्वास्थ्य, वित्त, आयात और सचारमें तथा इसी प्रकारके अन्य मामलोंसे सम्बन्धित समस्याओं और सामाजिक प्रश्नों पर ध्यान देना।

(घ) युद्धोंका निवारण (prevention) और झगड़ोंका शान्ति-पूर्ण निपटारा।

राष्ट्र-संघ—सदस्यता और प्रत्याहरण (Membership in the League and Withdrawal) राष्ट्रसघका आरम्भ ४२ प्रारम्भिक सदस्योंसे हुआ। प्रसंविदाकी धाराओंके अनुसार नये सदस्योंके प्रवेशके लिए सभाके दो तिहाई सदस्यों की स्वीकृति जरूरी थी। सदस्यताकी शर्त यह थी कि सदस्य बननेवाले राष्ट्रको सघ द्वारा निर्धारित अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वको निभाने और निरस्त्रीकरण सम्बन्धी नियमोंको पालन करनेका वचन देना पड़ता था। सैन मैरीनो और आरमीनिया जैसे बहुत छोटे राष्ट्रोंको सदस्यतासे वंचित रखा गया था। स्विट्जरलैण्ड को सदस्य बना लिया गया था। यद्यपि उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह अपनी तटस्थ स्थितिके कारण अपने सैनिक दायित्वोंको पूरा नहीं करेगा। सयुक्तराज्य अमेरिका सघका कभी सदस्य नहीं बना क्योंकि अमेरिका की सीनेट ने प्रसंविदाको स्वीकार नहीं किया। पर अमेरिका ने सघकी अनेक कार्रवाइयोंमें सहयोग दिया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायके स्थायी न्यायालयमें कुछ विख्यात अमेरिकियोंने न्यायाधीशोंके पद पर काम किया और हारे हुए देशोंसे जो रकमें जीते हुए देशोंको युद्धकी क्षतिपूर्तिके लिए देनेके लिए निर्धारित हुई थीं (reparations) उनको कम करवा देनेमें कुछ अमेरिकियोंका महत्वपूर्ण योग था।

राष्ट्र-सघकी सदस्यता छोड़नेके लिए दो वर्षकी अग्रिम सूचना आवश्यक थी। पर यदि प्रसंविदामें किया गया कोई सशोधन किसी सदस्यको अस्वीकार हो तो सदस्यतासे अलग होनेके लिए यह प्रतिबन्ध न था। अलग होनेके पूर्व अपने सभी दायित्व पूरे कर देना सदस्यके लिए जरूरी था। प्रसंविदाका उल्लंघन करनेवाले

सदस्यसे निकाला जा सकता था। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व जर्मनी, जापान और इटली, इन तीन राष्ट्रोंका राष्ट्रसंघसे अलग होना महत्वपूर्ण था।

राष्ट्र-संघके अंग (The Organs of the League).

(क) असेम्बली या सभा (Assembly). प्रत्येक सदस्यको एक वोट प्राप्त था। सिद्धान्ततः इसका मतलब यह था कि राष्ट्रसंघका नियंत्रण छोटे राज्योंके हाथोंमें था, क्योंकि बहुमत उन्हींका था। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्रको तीन प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार था, पर उनका वोट एक ही होता था। इस सम्बन्धमें भारत और ब्रिटिश साम्राज्यके स्वशासित उपनिवेशोंकी गणना पृथक राज्योंके रूपमें होती थी। प्रतिनिधियोंका चयन प्रत्येक देशकी सरकारें करती थीं, और इस प्रकार प्रतिनिधि, जनताके प्रतिनिधि न होकर सरकारोंके प्रतिनिधि होते थे।

द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने तक इस सभाकी बैठक जेनेवा में प्रतिवर्ष एक बार होती थी। विशेष अधिवेशन करनेकी भी व्यवस्था थी। कार्यवाही अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओंमें होती थी। असेम्बली या सभाका बहुत-सा कार्य समितियोंके द्वारा होता था। राष्ट्र-संघके महत्वपूर्ण कार्योंको करनेके लिए ६ स्थायी समितियां थीं। निर्णायक विवाद (final debates) सभाके पूरे अधिवेशनमें होते थे। सभाकी कार्य-सूची (agenda) संघका महामंत्री परिषदके अध्यक्षके परामर्श से तैयार करता था। पिछले अधिवेशन द्वारा अथवा परिषद द्वारा या संघके किसी सदस्य द्वारा उठाये गये प्रश्न कार्य-सूचीमें शामिल कर लिये जाते थे। सभाका सभापतित्व एक निर्वाचित सभापति करता था। सभापतिकी सहायताके लिए बारह उपसभापति होते थे जिनमें से ६ उपसभापति स्थायी समितियोंके अध्यक्ष होते थे।

सभाके कार्योंमें से एक कार्य दो तिहाई बहुमतसे नये राष्ट्रोंको सदस्य बनाना था। परिषदके नौ अस्थायी सदस्योंमें से तीनका निर्वाचन भी प्रतिवर्ष सभा बहुमतसे करती थी। ९ वर्षोंमें एक बार यह सभा, और परिषद दोनों मिलकर, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके पन्द्रह न्यायाधीशों और ४ उपन्यायाधीशोंका निर्वाचन भी बहुमतसे करती थी। परिषद द्वारा महामंत्रीके पद के लिए मनोनीत व्यक्तिकी स्वीकृति भी यह सभा बहुमतसे देती थी। धारा २६ के अनुसार प्रसंविदामें संशोधन करनेका अधिकार भी इस सभाको था।

एक पर्यालोचन संस्थाके रूपमें इस सभाका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। राष्ट्र संघ की कार्य परिधिके भीतर आनेवाले और संसारकी शान्तिको संकटमें डालनेवाले किसी भी प्रश्न पर विचार करनेका अधिकार सभाको था। राष्ट्रसंघका कोई भी सदस्य सभा या परिषदका ध्यान किसी ऐसे मसलेकी ओर आकर्षित कर सकता था जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिको या राष्ट्रोंके बीच स्थापित सद्भावनाओं—जिन पर विश्व शान्ति टिकी थी—खतरा हो रहा हो। सभाको अधिकार था कि सदस्योंको ऐसी सन्धियों पर फिरसे विचार करनेकी सलाह दे जो अव्यावहारिक हो चुकी हों।

वार्षिक बजटको स्वीकार करना सभाका विशेष काम था। यह बजट एक आधुनिक युद्धपोतकी लागतका पाँचवा भाग ही होता था। मदारयागा (Madariaga) के अनुसार १९३६ में सभारने शस्त्रीकरण पर १ पदम (10 billion) डॉलर खर्च किये थे। पर राष्ट्रसंघका औसत बजट ८० लाख (8 million) डॉलरका ही होता था अर्थात् शस्त्रीकरण पर खर्च होनेवाली रकमका १/१२५० वाँ भाग ही। बजट राष्ट्र संघका सचिवालय तैयार करता था। सभा बजटमें संशोधन कर सकती थी और वही तय करती थी कि बजटको पूरा करनेके लिए किस सदस्य राष्ट्रको कितनी रकम देनी चाहिए। समूचे बजटकी रकमको एक हजार इकाइयोंमें बाँटा जाता था। हर सदस्यके नाम उसके आकार, उसकी जन संख्या और उसके राजनीतिक महत्त्वके अनुसार इकाइयों की कुछ संख्या निश्चित कर दी जाती थी। सम्पूर्ण आयका लगभग आधा सचिवालय पर, तिहाई अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय पर और दसवाँ भाग न्यायालय पर व्यय होता था।

सभाका संगठन ही कुछ ऐसा था कि उसका कार्य सामान्य प्रकार (general nature) का ही रहा। उसके आकार और उसकी महत्ताने उसके लिए परिषदकी भाँति तेजीसे काम कर सकना कठिन कर दिया। फिर भी सभा परिषदके कार्योंका सामान्य निरीक्षण करती थी।

कई एक प्राविधिक संगठन (technical organisations) सभा तथा परिषद की सहायता करते थे। सभाके कार्योंमें एक बाधा यह थी कि वह अधिवेशनमें उपस्थित सदस्योंकी सर्वसम्मतिके बिना कोई भी निर्णय नहीं कर सकती थी। पर चूँकि उसके अधिकांश कार्य सुझाव या सिफारिशोंके रूपमें होते थे इसलिए बहुमत ही काफी समझा जाता था। सभामें भाग लेनेवाले प्रतिनिधि अपनी-अपनी सरकारोंका प्रतिनिधित्व करते थे, इसलिए वे लोग स्वतंत्र रूपसे अपना मत नहीं दे सकते थे। उन्हें अपने-अपने देशके वैदेशिक विभाग के निर्देशोंके अनुसार मत देना होता था।

इन खामियोंके बावजूद सभा एक बहुत उपयोगी संस्था थी। अन्तर्राष्ट्रीय शिकायतों और झगड़ों पर विचार विमर्श करनेके लिए वह एक अच्छे मंचका काम करती थी। किसी देशके ऐसे आन्तरिक मसलों पर भी, जिनके सम्बन्धमें राष्ट्र संघ की कोई भी संस्था पंचायतका काम नहीं कर सकती थी, सभा द्वारा ग्यारहवीं धारा के अन्तर्गत विचार किया जा सकता था; और यदि ऐसे मसलेका कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व होता था तो उसके बारेमें ऐसी सन्धि करायी जा सकती थी जो उस सन्धि को स्वीकार करने वाले राष्ट्रों पर लागू होती थी। यद्यपि परिषद अधिक प्रभावपूर्ण थी पर जापान द्वारा मंचूरिया को हड़पने के मामलेमें सभा परिस्थितिका निराकरण बहुत अधिक प्रभावपूर्ण ढंगसे कर सकनेमें समर्थ हुई।

(ख) **परिषद (The Council).** परिषदके सदस्य तीन कोटिके होते थे : (१) स्थायी, (२) अस्थायी और (३) विशेष। स्थायी सदस्य वे मित्र राष्ट्र थे जिन्होंने १९१८ में युद्ध जीता था। जर्मनी को १९२६ में परिषदका स्थायी सदस्य

बनाया गया पर राष्ट्र संघको छोड़ने पर उसने यह सदस्यता खो दी।

प्रतिवर्ष परिषदकी चार निश्चित बैठके होती थीं। विशेष अधिवेशनोंके लिए भी व्यवस्था थी। प्रत्येक अधिवेशनके आरम्भमें राष्ट्र संघका महामंत्री बतलाता था कि परिषदके पिछले निर्णयोंको कार्यान्वित करनेके लिए क्या-क्या किया गया। परिषदके अध्यक्ष और उपाध्यक्षका निर्वाचन प्रतिवर्ष बहुमत द्वारा होता था। एक ही व्यक्ति पुनः दूसरे वर्षके लिए नहीं चुना जा सकता था।

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको निपटाना परिषदका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। जिन झगड़ोंमें दोनों पक्ष पंचायत अथवा अदालतसे फ़ैसला करवाना अस्वीकार कर देते थे और जो झगड़े इन तरीकोंसे नहीं निपटाये जा सकते थे उनके लिए प्रसंविदा में यह व्यवस्था थी कि उन्हें परिषदके पास उचित कार्रवाईके लिए भेजा जाय। इसका मतलब यह था कि वे झगड़े जिनका अदालती फ़ैसला नहीं हो सकता था अथवा 'राजनीतिक' झगड़े परिषदकी अधिकार सीमाके अन्दर आते थे। जब तक कोई भी झगड़ा परिषद या सभाके विचाराधीन होता था तब तक सम्बन्धित पक्षोंके लिए यह आवश्यक था कि वे युद्ध न करें।

परिषदके अधिकारको सदस्य राष्ट्रोंके पारस्परिक सन्धियोंसे बढ़ाया जा सकता था। प्रसंविदा भंग करने वाले राज्यके विरुद्ध अनुशास्तिमूलक कदम उठानेका अधिकार परिषदको था। परिषद और सभा दोनों मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशोंका निर्वाचन और महामंत्रीकी नियुक्ति करती थी। वे दोनों मिल कर परिषदके सदस्योंकी संख्या भी बढ़ा सकती थी। सभाकी तरह परिषदमें भी सर्वसम्मतिसे ही निर्णय और निश्चय किये जा सकते थे। पर कार्यविधि (procedure) तथा इसी प्रकारके अन्य मामलोंमें बहुमत ही काफ़ी होता था।

प्रसंविदाने सभा और परिषदके पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट तौर पर निश्चित नहीं किये थे। कुछ लोगोंने इन दोनों संस्थाओंकी तुलना आधुनिक विधायिकाके दोनों सदनोंसे की है और कुछ लोगोंने सभा की तुलना संसदसे और परिषदकी तुलना मंत्रिमण्डल से की है। ये दोनों ही तुलनाएं भ्रामक हैं। सभाका कार्य अधिकांश रूपमें विधायी (legislative) नीतिसे रहता था और परिषदका कार्य अधिकांश रूपमें अर्द्ध-न्यायिक (semi-judicial) और प्रशासी (administrative) होता था।

(ग) सचिवालय (**The Secretariat**). सचिवालय राष्ट्र संघका स्थायी प्रशासी अंग था। इसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासी अधिसेवा (civil service) कहा जा सकता है। कार्यपालिका न होते हुए भी इसे प्रशासी अधिकार प्राप्त थे। इसका प्रधान राष्ट्र संघका महामंत्री होता था, जिसकी नियुक्ति सभाके बहुमतसे अनुमोदन से परिषद करती थी। अन्य मंत्रियों और सदस्योंकी नियुक्ति परिषदके अनुमोदन से महामंत्री स्वयं करता था। सचिवालयमें नियुक्त किये जानेके लिए कोई प्रतियोगी परीक्षा नहीं होती थी, पर नियुक्ति करनेमें इस बातका ध्यान रखा जाता था कि व्यक्तिमें अपने पदके अनुकूल योग्यता हो और सचिवालयके पदोंमें विभिन्न

का अनुपात राष्ट्र संघके सदस्य राष्ट्रोंके बीच उचित रूपमें बना रहे। नियुक्ति हो जाने पर नियुक्त किये गये व्यक्तिको अपनेको राष्ट्र संघका सेवक मानना होता था, न कि उस राष्ट्रका जिसका वह नागरिक होता था। सचिवालयके सदस्योंके कर्तव्य राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय होते थे। सचिवालयके सदस्योंको अपने कार्यकालमें अपनी सरकारोंसे किसी प्रकारका सम्मान आदि प्राप्त करनेकी आज्ञा नहीं थी।

सचिवालयका काम था आंकड़े एकत्र करना, परिषद और सभाके अधिवेशनों की कार्यसूची बनाना, अधिवेशन बुलाना, रिकार्ड रखना, सदस्य राष्ट्रोंको उनकी मंजूरीके लिए निर्णयों और प्रबन्धों (arrangements) की सूचना देना, सूचना और कार्रवाईके लिए दिये गये सुझावोंको भेजना, मसविदे तैयार करना और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंको सुलझानेके लिए सुझाव देना। सचिवालय राष्ट्र संघकी पत्रिका (official journal) तैयार और प्रकाशित करता था जिसमें सभा तथा परिषदकी कार्यवाही छपती थी। अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें सचिवालय एक स्थायी सलाहकारका काम करता था।

(घ) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायका स्थायी न्यायालय (The Permanent Court of International Justice).** १९२० के पहले जबकि इस न्यायालयकी स्थापना हुई थी, सही मानेमें कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय था ही नहीं, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयकी बात तो दूर है। इस न्यायालय को उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर निर्णय देनेका अधिकार प्राप्त था जो सम्बन्धित पक्षों द्वारा निर्णयके लिए उसके सामने पेश किये जाते थे। परिषद अथवा सभा द्वारा भेजे गये सभी मामलों पर न्यायालय परामर्शमूलक सम्मति भी देता था। यद्यपि इस सम्मतिको मान लिया जाना अनिवार्य नहीं था पर वह प्रायः स्वीकार कर ली जाती थी। राष्ट्र संघके प्रसंविदाकी व्याख्या करना न्यायालयके कार्य क्षेत्रसे बाहर था। यह कार्य सदस्य राष्ट्र करते थे।

इस न्यायालयके अधिकार पूर्ववर्ती हेग न्यायालयकी अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक थे। न्यायालयको सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्बन्धी प्रश्नोंकी व्याख्या करने, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व भंग करनेके दण्ड रूप मुआवजेकी रकम और उसका स्वरूप तय करने और यह निर्णय करनेका अधिकार था कि ऐसी कोई स्थिति है या नहीं जिसके प्रतिष्ठित हो जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व भंग हो जाय। पर इन मामलोंमें न्यायालयका अधिकार-क्षेत्र केवल उन्हीं सदस्य राष्ट्रों पर लागू होता था जो "वैकल्पिक धारा (optional clause)" पर हस्ताक्षर कर देते थे। न्यायालय द्वारा तय न किये जा सकने वाले मामलोंको राष्ट्र संघके सदस्य परिषदके सम्मुख जांच-पड़ताल अथवा पंचायती फैसलोंके लिये पेश करते थे। बन्दरगाहों, जल मार्गों, रेलों तथा अन्य ऐसे ही मामलों पर न्यायालयका पंचायती फैसला अनिवार्य होता था।

निर्णय बहुमत द्वारा किये जाते थे और उनके विरुद्ध कोई अपील नहीं होती

थी। पर यदि मामले से सम्बन्धित किसी पक्षको कोई ऐसा नया तथ्य मालूम हो जाय, जिसका इस मामलेसे सम्बन्ध हो तो वह निर्णय पर फिरसे विचार करनेकी माग "तथ्य ज्ञात होनेसे ६ महीनेके भीतर और निर्णयके १० वर्षके भीतर कर सकता था (८:५८८)"। निर्णय देनेमें न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओंका और इन प्रथाओंके अन्तर्गत उन नियमोंका उपयोग करता था जो संविदा करने वाले राज्यों की स्वीकृतिमें बनते थे। अन्तर्राष्ट्रीय रीति रिवाजों, सभ्य राज्यों द्वारा स्वीकृत विधिके सामान्य सिद्धान्तों और विख्यात न्याय शास्त्रियोंके निर्णयों तथा प्रसिद्ध विधि लेखकोंकी सम्मतियोंका भी उपयोग किया जाता था।

१९३० में न्यायाधीशोंकी संख्या १५ और उनकी कार्यावधि ९ वर्ष थी। न्यायाधीशोंके निर्वाचनकी पद्धति कुछ ऐसी थी कि छोटे और बड़े सभी राष्ट्रोंके प्रतिनिधि न्यायाधीश चुने जाते थे। यदि किसी मामलेके पक्ष या विपक्षके किसी राष्ट्रका नागरिक न्यायाधीश नहीं होता था तो वह एक न्यायाधीश चुन सकता था। नियुक्तिकी शर्तोंको पूरा न करने पर अपने सहयोगियोंकी सर्वसम्मतिसे किसी भी न्यायाधीशको उसके पदसे हटाया जा सकता था।

(ड) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (The International Labour Organisation). अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठनके निम्नलिखित तीन अंग थे (१) सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सम्मेलन, (२) शासिका परिषद और (३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय। सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सम्मेलनमें प्रत्येक सहयोग करने वाली सरकारके चार प्रतिनिधि होते थे। इनमें से दो सरकारके, एक पूंजीपति वर्गका और एक मजदूर वर्गका प्रतिनिधि होता था। यद्यपि पूंजीपति और मजदूर वर्गके प्रतिनिधियोंका चयन भी प्रत्येक देशकी सरकार ही करती थी फिर भी यह चयन सम्बन्धित औद्योगिक संगठनके परामर्शसे किया जाता था। प्रतिनिधियोंको व्यक्तिगत रूपमें अपना मत देनेका अधिकार प्राप्त था। इससे यह सम्भव था कि सम्मेलनके सभी श्रमिक वर्गके प्रतिनिधि पूंजीपतियोंके प्रतिनिधियों के विरुद्ध वोट दें। जो राज्य राष्ट्र संघके सदस्य नहीं थे उन्हें भी प्रतिनिधि भेजनेकी अनुमति थी।

सम्मेलन दो तिहाई मतोंसे प्रस्तावोंको स्वीकार करता था। ये प्रस्ताव सिफ़ारिशों अथवा अभिसमयों (conventions) के रूपमें होते थे। दोनों ही अवस्थाओं में उन्हें लागू करनेके लिए सम्बन्धित सरकारोंकी स्वीकृति आवश्यक थी। सरकारों द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर वे देशकी विधियोंकी भांति ही शक्तिमान हो जाते थे। सभी सिफ़ारिशों या अभिसमयोंको सम्बन्धित देशोंके राष्ट्रीय विधायिका अथवा अन्य उपयुक्त संस्थाओंके समक्ष कार्रवाईके लिए एक वर्षके भीतर ही पेश करना होता था। भले ही उस देशके प्रतिनिधियोंने सम्मेलनमें उसके विरुद्ध ही अपना मत दिया हो। इस व्यवस्थाका दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया गया।

शासिका परिषदमें २४ सदस्य होते थे। बारह सरकारी प्रतिनिधि, छः मजदूर

वर्गके प्रतिनिधि और छः पूंजीपतियोंके प्रतिनिधि। इनका कार्यकाल तीन वर्षका होता था। बारह सरकारी प्रतिनिधियोंमें से आठकी नियुक्ति संसारके प्रधान औद्योगिक देशों द्वारा की जाती थी और चार सम्मेलन द्वारा चुने जाते थे। पूंजीपतियो और श्रमिकोंके प्रतिनिधियोंका चुनाव सम्मेलनमें पूंजीपतियों तथा श्रमिकोंके प्रतिनिधि करते थे।

शासिका-परिषदका अधिवेशन हर तीसरे महीने होता था। परिषद सम्मेलनकी कार्यावलि (agenda) तैयार करती थी, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालयके सचालककी नियुक्ति और कार्यालयके कामका निरीक्षण करती थी। संचालककी देख-रेखमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्बन्धी सूचनाएं एकत्र करता था और उन्हे अनेक रूपोंमें प्रकाशित करता था, वार्षिक सम्मेलनोंके लिए कार्यावलि तैयार करता था, श्रमिक सन्धियोंको स्वीकार करनेकी राज्योंसे माग करता था और उनके कार्यान्वयका निरीक्षण करता था (८ : १५१)।" श्रमिक सन्धियोंको स्वीकार करनेमें राष्ट्रोंके मार्गमें जो कठिनाइया होती थी उन्हें दूर कर इन सन्धियों को स्वीकार किये जाने योग्य बनानेकी दिशामें अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय महत्त्वपूर्ण कार्य करता था।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठनका प्रधान उद्देश्य सारे संसारमें एक सी श्रमिक विधि लागू करना था, यद्यपि जापान, चीन और भारतके मामलोंमें भिन्न जलवायु तथा परिस्थितियोंके कारण कुछ अपवाद भी किये गये। जो उपयोगी अभिसमय मजूरको गयी उनमें से एक, आठ घण्टे प्रतिदिन और अड़तालिस घण्टे प्रति सप्ताह कार्यका निश्चय है। ऐसा ही एक दूसरा अभिसमय था—१४ वर्षसे कम उम्रके बच्चोंको नौकर रखनेका निषेध। जहा तक भारतका सम्बन्ध है, १४ वर्षसे कम उम्रके बच्चोंको केवल खानो, फैक्टरियो तथा यातायातमें काम करनेसे रोका गया।

जिन राष्ट्रोने इन अभिसमयों (conventions) को स्वीकार कर लिया था वे हमेशा इनका पालन नही करते थ। शासिका परिषदको इस बातका अधिकार था कि वह इस तरहके उल्लघनोंका प्रकाशन करे और राष्ट्रसघके महामत्रीसे कहे कि वह ऐसे उल्लघनोंकी जाच करनेके लिए आयोग नियुक्त करे। यदि आयोगकी रिपोर्टसे कोई पक्ष असन्तुष्ट होता था तो उसे स्थायी न्यायालयमें अपील करनेका अधिकार था और इस न्यायालयका निर्णय अन्तिम होता था। न्यायालय अथवा जाच-पड़ताल करनेवाला आयोग अपराधी राष्ट्रके विरुद्ध आर्थिक कार्रवाई किये जानेका आदेश दे सकता था। यद्यपि ऐसा कभी किया नही गया।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन अपनी खामिओंके बावजूद उपयोगी सस्था थी। यह सगठन राष्ट्र सघके कार्योंमें एक प्रशसनीय कार्य था। लास्की ने श्रम सम्बन्धी अभिसमयोंका महत्त्व इस प्रकार आका है—(क) ये अभिसमय संसारके सम्मुख औद्योगिक जीवनके उस न्यूनतम मानदण्डकी घोषणा करती है जो आधुनिक राज्योंकी सामान्य चेतना (common consciousness) को स्वीकार होता है। (ख) प्रत्येक

सम्बन्धित राष्ट्रके मजदूर आन्दोलनके हाथोंमें वह एक यथार्थ शक्ति है। (ग) सारे संसारमें गरीब लोगोंके कल्याणके लिए विधि निर्माणका जो मानदण्ड आवश्यक है उसे स्वीकार करवानेके लिए राज्यों पर दबाव डालनेका यह साधन है।

राष्ट्र-संघका मूल्यांकन (Appraisal of the League of Nations). राष्ट्र संघके बड़ेसे बड़े समर्थक भी यह दावा नहीं कर सकते कि उसे पूर्ण सफलता मिली। यद्यपि राष्ट्रसंघने बहुत भलाईकी पर अनेक मामलोंमें वह युद्ध और अन्याय को रोक नहीं सका, विशेषकर, चीन, अबीसीनिया और स्पेन में। फिर भी यह ठीक दिशामें उठाया गया कदम था। उसकी असफलता अधिकतर 'उच्च राजनीति' में रही। गैर राजनीतिक मामलोंमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करनेमें उसे काफी सफलता मिली, विशेषकर श्रम सम्बन्धी मामलोंमें। वह सम्प्रभु राज्योंका संगठन था। आवश्यकता है जनताके संगठनकी। केवल ऐसी सरकारोंका महासंघ कभी सफल नहीं हो सकता जिनमें से प्रत्येक सरकार अपना उल्लू सीधा करनेकी ताकमें ही रहे।

जिन लोगोंने राष्ट्र संघका महत्त्व आंकनेका प्रयत्न किया है उनमें से अधिकांशने अन्तर्राष्ट्रीय झगडोंको शान्तिमय साधनोंसे सुलझाने और युद्ध रोकनेकी उसकी सामर्थ्यके आधार पर उसका मूल्य आंका है। इस दृष्टिकोणसे राष्ट्रसंघ अधिकतर विफल रहा है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात थी कि राष्ट्रसंघ वरसाईकी सन्धिके साथ जुड़ा हुआ था, जिसकी एक धाराके अनुसार जर्मनीको "युद्धका दोषी" ठहराया गया था और उसे ही युद्धकी तमाम लागतका उत्तरदायी बनाया गया था। क्षति-पूर्तियोंकी काली कहानीने और रूर (Ruhr) प्रान्त पर अधिकार करनेकी कथाने राष्ट्र संघको बहुत बदनाम कर दिया था। राष्ट्र संघको बदनाम करने वाले कुछ अन्य कारण यह हैं: फ्रांसके हितमें सार-घाटी पर राष्ट्र संघकी न्यासधारिता (Trusteeship) स्थापित करना, डैन्जिगको राष्ट्र संघ और पोलैण्डका सम्मिलित सरक्षित राज्य बनाना, मेमेल बन्दरगाह पर, जो लिथुआनियाको दिया गया था, राष्ट्र संघका प्रशासन कायम करना।

राष्ट्र संघके प्रसंविदा (covenant) का एक दोष यह है कि उसमें इस बातकी कोई व्यवस्था नहीं की गयी कि सन्धियों पर फिरसे शान्तिमय उपायोंसे विचार किया जा सके। उसकी उन्नीसवीं धारा आरम्भसे ही निर्जीव बनी रही। अन्तर्राष्ट्रीय झगडों को शान्ति पूर्वक सुलझानेके लिए बडी सावधानीसे व्यवस्थाकी गयी पर सदस्य राज्योंने उसके प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया। झगडोंको दो भागोंमें बांटा गया: (१) अन्तर्राष्ट्रीय और (२) घरेलू। और फिर अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के भी दो भाग किये गये: (१) वैधिक और (२) राजनीतिक। वैधिक झगडे पञ्चनिर्णयके लिए होते थे और *राजनीतिक या न्यायाधिकरणके क्षेत्रमें न आने वाले मामले, जिनका सम्बन्ध देशोंके* राष्ट्रीय सम्मान, महत्त्वपूर्ण स्वार्थों आदिसे होता था, जांच-पड़ताल तथा पारस्परिक समझौते या अन्य किसी कार्रवाईके लिए परिषदके पास और कभी-कभी सभाके पास भेजे जाते थे।

प्रसंविदाके अनुसार यदि कोई झगड़ा परिषद् या सभा अथवा समझौता आयोग (commission of conciliation) के विचाराधीन होता था तो उस समय दोनों पक्षोंको युद्ध बन्द रखना पड़ता था। परिषद् उचित जाँच-पड़ताल करनेके बाद दोनों पक्षोंमें समझौता करानेकी कोशिश करती थी। यदि वह समझौता करानेमें असफल होती थी तो झगड़ा पेश किये जानेके ६ महीनेके अन्दर ही वह अपनी रिपोर्ट और सुझाव प्रकाशित कर देती थी। यदि यह रिपोर्ट झगड़ेमें सम्बन्धित राष्ट्रोंके अतिरिक्त अन्य सदस्य राष्ट्रोंकी सर्वसम्मतिसे होती थी और यदि झगड़ेसे सम्बन्धित एक राष्ट्र भी उसे स्वीकार कर लेता था तो दूसरे राष्ट्रके लिए यह आवश्यक था कि वह युद्धका सहारा न ले। हर हालतमें परिषदके निर्णय अथवा रिपोर्टके बाद तीन महीने तक दोनों ही पक्षोंके लिए यह आवश्यक था कि वे युद्ध न आरम्भ करें।

राष्ट्र संघको छोटे-छोटे मामलोंके सुलझानेमें सफलता मिली। राष्ट्र संघ आलैण्ड (Aaland) द्वीपों और १९२५ के ग्रीस बल्गेरिया के सीमाके झगड़ोंको सुलझानेमें सफल हुआ। पर वह १९३१-३२ के चीन-जापान के युद्धको न रोक सका। इस मामलेमें राष्ट्र संघ ने ढीलेढालेका मार्ग अपनाया और लिटन कमीशनने अपनी रिपोर्ट तब प्रकाशित की जब चिड़िया खेत चुग चुकी थी। रिपोर्टने जापान के विरुद्ध किसी प्रकारकी अनुशास्ति (sanction) की सिफारिश नहीं की।

इटली और अबीसीनिया के युद्धके प्रश्न पर राष्ट्र संघको सबसे अधिक दुखदायी असफलता मिली। बहुत लम्बे विलम्बके बाद इटलीके विरुद्ध आर्थिक अनुशास्तियाँ (economic sanctions) लागू की गयीं, पर तेलके बारेमें फिर भी नहीं की गयीं। इस मामलेमें फ्रांस अपनी जिम्मेदारी पूरी नहीं करना चाहता था। इसका कारण यह था कि फ्रांस चाहता था कि जर्मनीके विरुद्ध किसी भी भावी संघर्षमें इटली फ्रांस का शक्तिशाली मित्र बना रहे। ब्रिटेन ने अनुशास्तियाँ आधे मनसे ही लागू की और यह स्पष्ट कर दिया कि वह इटली से युद्ध मोल लेनेको तैयार नहीं है। अमेरिका राष्ट्र संघका सदस्य नहीं था पर वह इटलीके विरुद्ध अनुशास्तियाँ लागू करनेके लिए तैयार था और उसने लागू की भी। पर अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह घोषणा कर दी थी कि यदि व्यक्तिगत अमेरिकी व्यापारी स्वयं अपने खतरे पर इटली को तेल भेजना चाहें तो अमेरिकी सरकार उसमें बाधा नहीं डालेगी। अनुशास्तियोंके इस प्रकार बेमन और मुर्दा ढंगसे लागू किये जानेका परिणाम यह हुआ कि अबीसीनियाको तो इनसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ, पर इटलीने शीघ्र विजय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे क्रुद्ध होकर युद्धको और भी बर्बर बना दिया। इस प्रकार 'सामूहिक सुरक्षा' 'सामूहिक संकट' बन गयी।

युद्ध को उद्वंध करना (The Outlawry of War). राष्ट्र संघके सदस्य राष्ट्रों और बाहरी राष्ट्रों द्वारा युद्धका परित्याग करने और रक्षात्मक सन्धियाँ करनेके अनेक प्रयत्न किये गये। पर ऐसे एकसे अधिक प्रयत्न राष्ट्र संघके सदस्योंका समर्थन प्राप्त करनेमें असफल रहे। उदाहरणके लिए पारस्परिक सहायताके प्रारूप-सन्धि

(Draft Treaty of Mutual Assistance 1923) और जेनेवा पूर्वपत्र, १९२४ (Geneva Protocol, 1924)। लोकार्नो सन्धियां जो ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, पोलैण्ड और जैकोस्लोवाकिया के बीच १९२४ में हुई पारस्परिक गारण्टी की सन्धियां थीं। पर जेनेवा पूर्वपत्रकी तरह इन सन्धियोंके बारेमें भी कठिनाई यह थी कि यथास्थितिको बदलनेके लिए किसी शान्तिपूर्ण साधनकी व्यवस्था नहीं की गयी थी। अमेरिका और फ्रांस द्वारा आरम्भ किये गये १९२८ के केलाग ब्रायण्ड सन्धिमें राष्ट्रीय नीतिके रूपमें युद्धको त्यागने और समझौतेके शान्तिपूर्ण उपायों को ही अपनानेका निश्चय किया गया। इसमें हस्ताक्षर करनेवालोंने हमेशाके लिए युद्ध त्यागनेकी शपथ ली थी।

इस सन्धिमें बड़े-बड़े सिद्धान्त तो बना दिये गये किन्तु सन्धिको लागू करनेकी कोई भी व्यवस्था नहीं की गयी। इसका स्वरूप नकारात्मक ही रहा (The pact was too sweeping and general in its nature. It was also negative and did not provide machinery for its enforcement)। हमारा पिछला अनुभव बताता है कि दीर्घकालीन मैत्रीकी शपथें और युद्ध न करनेके करार असफल रहे हैं। जब राज्यकी सुरक्षा खतरेमें पड़ती है तब अनेक राष्ट्र अपनी शपथोंको तोड़ देते हैं और सन्धियोंको रद्दी कागजका टुकड़ा समझ लेते हैं। इसके अलावा, पहलेकी सन्धियोंमें और लोकार्नोकी सन्धियोंमें भी युद्धकी गुंजाइश आत्मरक्षा या पारस्परिक सहायताके नाममें थी (Besides, the reservations incorporated in the past were such as not to exclude the right of self-defence or mutual assistance promised in the Locarno Treaties)। सभी आधुनिक युद्धोंको, लड़नेवाले दोनों पक्ष, 'रक्षात्मक' ही बताते हैं। उदाहरणके लिए जापान का यह कहना था कि मञ्चूरिया में उसकी सैनिक कार्रवाई और अन्ततः उस प्रदेशका अनुयोजन (annexation) न तो लीगके प्रसंविदाका उल्लंघन था और न केलाग-ब्रायण्ड सन्धिका, जिन दोनों पर जापान अपने हस्ताक्षर कर चुका था। जापान का कहना था कि न तो मञ्चूरिया ने और न स्वयं जापान ने वैधिक युद्ध स्थिति घोषित की थी और जापान अपने हितोंकी रक्षाके लिए कार्रवाई कर रहा था। इसलिए "केलॉग-ब्रायण्ड सन्धिका महत्त्व युद्धका बहिष्कार करनेके अर्थमें केवल प्रतीकात्मक, नैतिक, शिक्षात्मक और प्रचारात्मक ही था (७० : ६६७)।" उसने व्यावहारिक राजनीति की कठोर वास्तविकताका स्पर्श तक नहीं किया था।

निरस्त्रीकरण (Disarmament). युद्धका बहिष्कार करनेके प्रयत्नके समान ही निरस्त्रीकरणके प्रयत्नमें भी अधिक सफलता नहीं मिली। वॉशिंगटन सम्मेलनसे कुछ परिणाम अवश्य निकला यद्यपि उसका आयोजन संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकारने किया था, राष्ट्रसंघने नहीं। राष्ट्रसंघने स्थायी सलाहकार समिति और अस्थायी मिश्रित आयोगके माध्यमसे निरस्त्रीकरणके लिए प्रयत्न किया पर

प्रयत्न भी करना पड़ा। उस समय तक राष्ट्र संघकी स्वास्थ्य संगठन शाखाकी स्थापना भी न हो पाई थी फिर भी उसने इन विपत्ति ग्रस्त लोगोंकी पुकार सुनी, उन्हें आज सामानकी तथा टेकनिकल सहायता पहुंचाई। सिंगापुर का पतन होनेसे पहले ही राष्ट्र संघने वहा पर एक महामारी सोधक स्थायी कुशल अधिसेवा की स्थापना कर दी थी। यह अधिसेवा बीमारियोंको फैलने और उनसे पीड़ित होने वालोंके आंकड़े एकत्र करके उनकी सूचना राष्ट्र संघके सचिवालयको भेजने थे जहा उनका संकलन होता था और उन्हें साप्ताहिक तथा त्रैमासिक स्वास्थ्य समाचारों के रूपमें प्रकाशित किया जाता था।

स्वास्थ्य संगठनके खासखास सीरमों, विटामिनों, लैंगिक हार्मोनों (sex harmones) और ग्रन्थि-निस्सारों (gland extracts) आदिके अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों और दवाइयोंको निर्धारित किया। इसने अनेक रोगोंके बारेमें गवेषणा कार्य किया। खासकर मलेरियाके बारेमें। तपेदिक, कोढ़ और उपदंश जैसे रोगों तथा ग्रामीण क्षेत्रोंकी स्वच्छता, सामान्य पोषाहार (nutrition) और शहरी और ग्रामीण गृह निर्माण पर भी स्वास्थ्य संगठनने ध्यान दिया। राष्ट्र संघ के प्राविधिक कार्योंके बारेमें सारांश यह है कि "अन्य किसी क्षेत्रमें राष्ट्र संघके प्रयत्नोंका परिणाम इतना सफल नहीं रहा जितना इस नितान्त प्राविधिक क्षेत्रमें, जो सभी प्रकारके राजनीतिक दाव पेंचसे सर्वथा अलग है और जिसमें मानव एकता के लक्ष्यकी ओर बढ़नेमें कोई बाधा नहीं है (८५ · १५१)।"

(४) **बौद्धिक सहयोग (Intellectual Co-operation).** राष्ट्र संघ ने १९२८ में बौद्धिक सहयोग समिति कायम की थी। इस समिति ने शान्ति स्थापित करने में, बौद्धिक विषयोंका निरपेक्ष विवेचन प्रोत्साहित करनेमें, और राज्योंकी शिक्षा व्यवस्था के सुधार और संगठनमें सहायता दे कर बहुत अधिक उपयोगी कार्य किया। इस समिति ने राष्ट्रोंको इस बातके लिए तैयार किया कि उनके देशकी पाठ्य पुस्तकोंमें यदि कोई ऐसी बातें हों जिनसे विदेशियों और पड़ोसी देशोंके प्रति उपेक्षा और तिरस्कार प्रकट होता हो तो उन्हें पुस्तकोंसे निकाल दिया जाय। इस समिति ने नवयुवकों और नवयुवतियोंको विदेशोंका भ्रमण करनेके लिए उत्साहित किया ताकि वे विदेशोंमें जाकर विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओंको समझें और उनमें जो अच्छाइया हो उन्हें ग्रहण करें। इस समिति द्वारा तैयार किया गया रेडियो भाषण और शान्ति सम्बन्धी कार्यक्रमका प्रारूप अनेक सरकारों ने स्वीकार किया। इस बातकी व्यवस्था की गयी कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंका वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सके। कलाकृतियों और इतिहासीय स्मारकोंकी सुरक्षाके लिए सुझाव दिये गये। दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंके नियतकालिक सम्मेलनोंको प्रोत्साहित किया गया।

(५) **समाजसेवी और मानवता प्रेरित कार्य (Social and Humanitarian Works).** राष्ट्र संघ ने डॉक्टर नैन्सेन के निर्देशनमें युद्धके बादके वर्षोंमें

पांच लाख युद्ध बन्दियोको उनके पितृदेशमें पहुचा कर बडा प्रशंसनीय कार्य किया। शरणार्थियोंकी भी ऐसी ही सेवा की गयी। १९२६ में राष्ट्र सघने दास प्रथा के सम्बन्ध में किये गये पूर्ववर्णीय करारोको और अधिक दृढतासे लागू करनेका एक इकरारनामा स्वीकृत किया। दासता की परिभाषा इतनी व्यापक की गयी कि उसमे अर्ध-दासता, वैयक्तिक चाकरी, बलातश्रम और लडकियोंके क्रय आदि भी आ गये। दासताकी परिभाषा इस प्रकार की गयी : "एक व्यक्तिकी ऐसी दशा जिसमें उसके ऊपर स्वामित्वके अधिकार की किसी एक या समस्त शक्तियोंका उपयोग किया जा रहा हो।" जिन देशोने दास व्यापारको समाप्त करनेका निश्चय किया था उनके लिए यह आवश्यक था कि "क्रमिक रूपमें और यथासम्भव शीघ्र दासताका पूर्ण विनाश उसके सभी रूपोमें कर दें।" सार्वजनिक उद्देश्योके कुछ कार्योको छोड कर अन्य सभी कार्योमें दासतासे मिलते-जुलते सभी प्रकारके बलातश्रमका निषेध कर दिया गया था। राष्ट्र सघकी एक स्थायी सलाहकार समितिने १९३३ में अपना काम शुरू किया। इस समितिका उद्देश्य दासताके अन्तिम गढोंको तोड़ना था।

राष्ट्र सघने एक और गम्भीर सामाजिक समस्या हल की। यह समस्या थी बच्चो और स्त्रियोका क्रय-विक्रय। १९२१ में यह निश्चय किया गया कि कोई भी २०, २१ वर्षसे कम आयुकी स्त्री अपनेको विकवानेकी अनुमति नहीं दे सकती। इससे कम उम्रमें ऐसा कार्य कानूनन दण्डनीय था। स्त्रियोको व्यापारके लिए सुलभ बनाना और उन्हे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना दोनो ही दण्डनीय घोषित किये गये। जिन सरकारोंने यह इकरारनामा स्वीकार किया था उनसे कहा गया कि वे राष्ट्र सघ-को हर साल एक रिपोर्ट भेज कर बताया करे कि यह इकरारनामा उनके देशमें किस प्रकार कार्यान्वित किया जा रहा है।

स्त्रियों और बच्चोंके क्रय-विक्रयकी समस्याके बारेमें राष्ट्रसघकी परिषद्को परामर्श देनेके लिए, एक समिति बनाई गयी। दो बार ससारके विभिन्न भागोंमें जाच पडताल करके इस बातकी जानकारी प्राप्त की गयी कि स्त्रियो और बच्चोंका क्रय-विक्रय किस प्रकार और किस पैमाने पर होता है। १९३३ में यह निश्चय किया गया कि "दूसरे देशोंमें अनैतिक कार्योंके लिए वयस्क स्त्रियोंका अन्तर्राष्ट्रीय क्रय-विक्रय दण्डनीय होगा भले ही यह काम उनकी स्वीकृतिसे ही हो रहा हो"। राष्ट्र-सघ ने वेश्यावृत्तिके उन अड्डोकी समस्या पर भी ध्यान दिया जिनका अस्तित्व समाज बर्दाश्त कर रहा था और उन्हें समाप्त करनेके लिए सरकारो पर जोर दिया।

राष्ट्र संघने अश्लील साहित्य की समस्या पर भी ध्यान दिया। १९२३ में एक इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार अश्लील प्रकाशनोंके क्रय-विक्रय और प्रचार पर रोक लगानेका निश्चय किया गया। इस इकरारनामे पर ४० से अधिक राष्ट्रोंने हस्ताक्षर किये। अश्लील साहित्य का प्रकाशन, व्यावसायिक उद्देश्यसे

उसका रखना, उसका आयात-निर्यात आदि, सभी वैधिक तौर पर दण्डनीय घोषित किये गये।

राष्ट्र सघने 'एक शिशु कल्याण समिति' की स्थापना की। इस समितिने एक आदर्श करारका स्वरूप निश्चित किया जिसके अनुसार पथ भ्रष्ट बच्चों, युवकों तथा युवतियोंको उनके घरोंमें वापस पहुचाना स्वीकार किया गया। इस समितिके प्रयत्नोंसे एक ऐसे इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार विदेशी बच्चों को स्वदेशके बच्चोंके समान ही व्यवहार मिलने लगा। राष्ट्रोंने अपने यहा विधिया बना कर विवाहकी आयुको बढ़ाने, जारज (*illegitimate*) सन्तानोंकी वैधिक स्थिति सुधारने और उनके लिए अनिवार्य सरक्षणकी व्यवस्था करने, अन्धे बालकोंकी शिक्षा तथा उनकी रक्षा करनेके सफल प्रयत्न किये।

समाजसेवी और मानवता प्रेरित कार्य-क्षेत्रोंमें राष्ट्र सघका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अफीम तथा अन्य घातक औषधियोंके क्रय-विक्रयका निरीक्षण था। १९२१ के हेग सम्मेलनके निश्चयके बावजूद घातक औषधिया बडी आसानीसे एक देशसे दूसरे देशको भेजी जाती थी। १९२३ में राष्ट्र सघ ने निश्चय किया कि उपयुक्त प्रमाण-पत्रके बिना औषधियोंका आयात नही हो सकता। औषधियोंके निर्माणका भी नियमन किया गया और औषधियोंके राष्ट्रीय क्रय-विक्रयके कठोर निरीक्षणकी व्यवस्था की गयी। केवल अफीमके व्यापारको ही नहीं बल्कि मॉर्फीनसे बनाये गये नये-नये रस द्रव्योंके व्यापारको भी प्रतिबन्धित किया गया। एक स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड कायम किया गया। राष्ट्रोंको हर तीसरे महीने इस बोर्डके पास इस बातका विवरण भेजना पडता था कि उनके यहा इस अवधिमें प्रमीलको (narcotics) का कितना आयात, निर्यात और उत्पादन हुआ। इस व्यवस्थाका एक लक्ष्य यह भी था कि इस बातका पता लग सके कि ऐसी वस्तुए कहा से लुक-छिपकर आती जाती हैं। लगभग चालीस राष्ट्रोंने इस इकरारनामेको मान कर अपने ऊपर कडी जिम्मेदारी ली। १९३१ मे एक दूसरे इस इकरारनामेको और अधिक राष्ट्रोंने स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप अफीम तथा अन्य सम्बन्धित औषधियोंके पश्चिमी देशोंमें भेजे जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। जो मानदण्ड तय किया गया वह वही था जो मेडिकल और वैज्ञानिक प्रयोजनो के लिए आवश्यक था। इन औषधियो के उत्पादन पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया।

१९३१ के इकरारनामेका महत्त्व इस बातमे था कि सम्प्रभु राष्ट्रोंने पहली बार एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था द्वारा "अपनी आर्थिक सक्रियताकी एक सम्पूर्ण शाखा पर, कच्चे मालके उत्पादनसे लेकर तैयार वस्तुके उपभोग तक, निरीक्षण व्यवस्था को मजूर कर लिया (८५ : १७९)।" उत्पादन और उपभोगोंमें पूरा-पूरा समन्वय कायम किया गया। इतना सब होने पर भी प्रमीलको (narcotics) का अवैध उत्पादन पूर्ण रूपसे अभी तक नहीं बन्द हो सका है यद्यपि बन्द हो सकने की पूरी सम्भावना है।

अन्तर्युद्ध विकास
(The Inter War Development)

आलोचकोंने पिछले दिनों राष्ट्र संघको पूर्व निर्धारित विचारोंका संघ, लुटेरोंका
संघ और समस्याओंको लटकाये रखने वालोंका संघ कहा है। कुछ लोगोंने कहा कि
राष्ट्र संघ गरज सकता है लेकिन बरस नहीं सकता। पर इस प्रकारकी आलोचनाके
बावजूद लोगोंमें, प्रभावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और नियंत्रणके पक्षमें, भावना
बढ़ रही थी।

१९३८ के बाद विश्व संघके प्रश्न पर साहित्यकी एक बाढ़-सी आ गयी थी।
क्लेरेन्स स्ट्रीट (Clarence Street) ने अमेरिका और पश्चिमी योरोप के लोकतंत्र
राज्यों के एक संघ (federal union) की रूपरेखा तैयार की। इस योजनाके
अनुसार संघ भर के लिए एक ही विधायिका, एक ही राष्ट्रपति, एक ही प्रधान मंत्री
और एक ही मंत्रिमण्डल होता। और इस संघीय सरकारका युद्ध तथा शान्ति, सुरक्षा
तथा वैदेशिक सम्बन्ध, डाक व्यवस्था तथा मुद्रा आदि प्रश्नों पर पूरा-पूरा नियंत्रण
रहता। संघमें रहने वाले सभी लोग संघके ही नागरिक माने जाते, किसी देश विशेष
के नहीं। संघ भर के लिए एक ही रक्षात्मक सेना होती; संघ भरमें एक ही मुद्रा चलती
और एक ही टिकट व्यवस्था होती तथा संघ भरमें बेरोकटोक व्यापार होता। सदस्य
राष्ट्रोंके उपनिवेशोंको उसमें ले लिया जाता और उनका शासन सम्मिलित रूप
से संघ द्वारा किया जाता। इस शासनका उद्देश्य यह होता कि उन प्रदेशोंको यथा-
सम्भव शीघ्रसे शीघ्र संघका सदस्य बनने योग्य बना दिया जाय। यह संघ आत्म-
निर्मित सन्तों (self-canonized saints) का संघ होता।

मदारियागा (Madariaga) एक विश्व समाज और विश्व-संघके प्रबल
समर्थक थे। उन्होंने अपने विश्व संघको कुछ खास देशों तक ही सीमित नहीं रखा।
अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय जैसी तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय
संस्थाओंके अतिरिक्त उन्होंने, एक विश्व बैंक, एक विश्व व्यापार आयोग, उपनिवेशों
के लिए एक विश्व-न्यास-समिति, अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस और एक अन्तर्राष्ट्रीय पौर
असैनिक सेवा (International Civil Service)—इन सबकी आवश्यकताका अनुभव
किया था।

'वर्ल्ड फेडरेशन' (१९३९) के लेखक ऑस्कर न्यूफंग (Oscar Newfang)
के अनुसार राष्ट्र संघका संगठन ऐसा था कि उसे बड़ी सरलतासे एक विश्व संघ
में परिणत किया जा सकता था। राष्ट्र संघ की सभा विश्व विधायिका बन जाती
और परिषद मंत्री परिषद बनती। विश्व न्यायालयका अधिकार क्षेत्र अनिवार्य
होता। सदस्य राष्ट्रोंकी सभी सशस्त्र-सेनाएं धीरे-धीरे केन्द्रीय अधिकार सत्ताके
अधीन हो जातीं। व्यापारकी रुकावटोंको हटा दिया जाता और एक मौद्रिक व्यवस्था
लागू कर दी जाती।

सर विलियम बेवरिज (Sir William Beveridge) का कहना था कि तत्कालीन परिस्थितियोंमें विश्व संघ असम्भव था। इसलिए अपनी योजनामें उन्होंने ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी (लोकतन्त्रीय), बेल्जियम, हॉलैण्ड, फिनलैण्ड, स्वीडेन, नॉर्वे, स्विट्जरलैण्ड और पाच अंग्रेजी उपनिवेशों तक ही सीमित रखा था। केन्द्रीय नियन्त्रणमें दिये जाने वाले कमसे कम विषय थे—सुरक्षा और वैदेशिक नीति। आश्रित प्रदेशोंकी व्यवस्था, मुद्रा, व्यापार और प्रवास आदि विषयोंको क्रमश केन्द्रके हाथों सौंपा जाना।

सेन्टपाल गिरजाघरके भूतपूर्व डीन डॉक्टर डब्ल्यू० आर० इन्ज (Dr. W. R. Inge) ने ससारके अंग्रेजी बोलने वाले देशोंका सघ बनानेकी योजना तैयार की। इस योजनाके अनुसार ब्रिटेन, उसके स्वशासित उपनिवेशों और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का सघ बनता। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी दैनिक स्टेट्समैन के भूतपूर्व सम्पादक सर ए० वाट्सन (Sir A. Watson) का कहना था कि एक ब्रिटिश साम्राज्य सघ बनाया जाय। 'ग्रेट ब्रिटेन एण्ड ईस्ट' में उन्होंने लिखा था "भविष्यकी कल्पनामें एक ऐसा साम्राज्य सघ आता है जिसमें अलग रहनेका साहस उनमें से कोई भी देश न कर सकेगा जो आज अपनी ओछी स्थिति की शिकायत करते हैं क्योंकि उनकी सुरक्षा और उनका अस्तित्व ही राष्ट्रोंके एक ऐसे समुदायके सहयोग पर निर्भर होगा जो सम्मिलित रूपमें अजेय होगा पर पृथक रहनेसे वे अपनी स्वाधीनता कायम न रख सकेंगे।" उस समय विंस्टन चर्चिल (Winston Churchill) भी अमेरिका, ब्रिटेन और उपनिवेशोंका एक प्रकारका सघ बनानेका विचार कर रहे थे।

डॉ० आइवर जेनिंग्स (Dr Ivor Jennings) ने पश्चिमी योरोपीय देशों के एक सीमित सघकी विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की। उनका कहना था कि "योरोप ही वह अखाड़ा है जिसमें अधिकाश युद्धोंका ससाला पक कर तैयार होता है और इसलिए एक सघ (federal union)—खासकर पश्चिमी योरोप के राष्ट्रों—इन युद्ध प्रिय प्रवृत्तियोंको रोक सकेगा। उनका उद्देश्य समस्त विश्वकी शान्ति और समृद्धिकी सुरक्षा इतना अधिक नही जान पडता, जितना यह कि अफ्रीका तथा एशिया के कुछ भागोंके शोषणमें योरोपीय राष्ट्रोंकी प्रतिस्पर्धा या पारस्परिक होडको समाप्त किया जाय। उन्हींके शब्दोंमें इस सघका प्रधान उद्देश्य "पश्चिमी योरोप के राष्ट्रोंमें परस्पर युद्धको बिल्कुल असम्भव बना देना था।"

डॉ० जेनिंग्स अपनी योजनाके अनुसार अंग्रेजी साम्राज्य और राष्ट्र सघ इन दो में से किसी एक का भी तिरस्कार नही करना चाहते थे। अंग्रेजी साम्राज्य इस नये सघमें एक इकाईके रूपमें बना रहता। उसके उपनिवेशों और आश्रित प्रदेशोंसे होने वाले हानि लाभमें सघीय भाई बन्धु साझीदार होते और पिछडे प्रदेश सभी सघीय नागरिकोंकी पूजी और उद्यमके लिए खुले रहते। एक सघीय आयोग होता जिसका अधिकार क्षेत्र सभी औपनिवेशिक प्रदेशों पर रहता। सभी सघीय देशोंके

लोग औपनिवेशिक अधिसेवाके पदों पर नियुक्त किये जा सकते थे। राष्ट्र संघका अस्तित्व उन राष्ट्रोंके कल्याणके लिए बना रहता जो पश्चिमी योरोपीय संघके सदस्य न होते। पश्चिमी योरोपीय संघ राष्ट्र संघकी परिषदमें एक इकाईके रूप में अपना प्रतिनिधि भेजता। यह संघ राष्ट्र संघको अपने देशोंके प्रति उत्तरदायित्वों से मुक्त रखता और राष्ट्र संघको शेष संसारके कल्याण पर और अधिक ध्यान देने का अवसर मिलता। संघीय विषय प्रधान रूपसे सुरक्षा और वैदेशिक मामले होते और कुछ हद तक आर्थिक सम्बन्ध और उपनिवेश भी। शेष बचे हुए अधिकार (residuary powers) राज्योंके हाथोंमें रहते।

डी० एन० प्रिट (D. N. Pritt) ने संसारका आंशिक संघ बनानेकी सभी योजनाओंकी सबसे कठोर आलोचना की है। आपने समाजवादी आधार पर तर्क करते हुए कहा है कि जब तक पूंजीवाद और साम्राज्यवादको कायम रखा जायगा तब तक संसारका संघ केवल एक माया या भ्रम है। आपका कहना था कि आज दिन असली शक्ति पूंजी और उद्योग पतियोंके छोटेसे गुटके हाथोंमें है और सरकारों का नियंत्रण करने वाले प्रायः वे ही होते हैं जो उद्योगोंका नियंत्रण करते हैं। इसलिए ऐसी हालतमें एक संघ बनानेका मतलब होगा विभिन्न देशोंके निहित स्वार्थ वाले गुटोंका एकीकरण जिससे वे स्वयं अपने देशकी जनताका और उपनिवेशोंकी जनताका और भी अधिक शोषण कर सकें। कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों और उनके पिछलग्गू राष्ट्रोंकी यह एक गुटबन्दी होगी। प्रिट के ही शब्दोंमें: "आधुनिक औद्योगिक राज्योंमें कुछ थोड़ेसे धनी व्यक्तियोंमें वास्तविक शक्ति केन्द्रित रहती है। राज्योंके इस स्वरूपको पहले बिल्कुल बदल देना होगा तभी एक विश्व संघ सम्भव हो सकता है।"

उन्होंने विश्व संघकी विभिन्न योजनाओंकी आलोचना इस आधार पर भी की है कि उनमें सारे संसारको नहीं सम्मिलित किया गया। उनका कहना है कि ऐसे आंशिक संघसे तो किसी प्रकारका संघ न होना ही अच्छा है। यह आंशिक संघ तो एक साम्राज्यसे भी अधिक घातक है क्योंकि अन्य राष्ट्रोंके विरुद्ध इसका उपयोग एक भालेकी नोंककी भांति किया जा सकता है। ऐसे संघमें जो राज्य बाहर रखे जायगे वे अपना एक अलग गुट बना सकते हैं। और तब संघ और इस गुटके बीच बराबर संघर्ष और ईर्षा बनी रहेगी।

विश्व संघकी योजनाओंका समर्थन करने वाले भी यह अनुभव करते हैं कि ये योजनाएं इतनी विशाल हैं कि इन्हें कार्यान्वित करना असम्भव है। इसलिए ये लोग क्षेत्रीय संघोंकी योजनाका समर्थन करते हैं। इन लोगोंका कहना है कि इन संघोंके ऊपर सीमित अधिकारों वाला एक महासंघ हो सकता है।

प्रो० कैटलिन (Prof. Catlin) ने राष्ट्रीय सम्प्रभुता के पिटे-पिटाये सिद्धान्तके स्थान पर समन्वित सम्प्रभुता (pooled sovereignty) के नये सिद्धान्त का समर्थन किया। उनका कहना था कि तीन पृथक अधिकार सत्ताओंके अधीन

तीन पृथक क्षेत्र होने चाहिए। सबसे ऊपर सारा विश्व हो जिसकी अपनी एक विश्व सरकार हो। इस सरकारके अधिकार क्षेत्रमें डाक व्यवस्था, हवाई यातायात, विश्व मुद्रा, कुछ कच्चे मालोंका उपयोग और टंग्स्टन (tungsten), टाइटेनियम (titanium) तथा निकेल (nickel) जैसे महत्त्वपूर्ण कच्चे पदार्थों (raw materials) का अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण हो। शक्ति द्वारा शान्ति स्थापित करने के लिए एक विश्व न्यायालय और विश्व पुलिस भी हो।

इसके बाद एक प्रादेशिक अधिकार सत्ता हो जिसके अधीन एक प्रादेशिक भू-भाग रहे। इसका काम एक बीचके क्षेत्रमें हो जिसके भीतर समाजका एकीकरण तुरन्त सम्भव हो। श्रम और व्यापार सम्बन्धी कुछ बातें और चुंगी (tariff), आप्रव्रजन (immigration) उसके अधीन रहे। प्रादेशिक क्षेत्रोंमें रहने वालोंकी आदतें तथा जीवन पद्धतियां मिलती-जुलती होंगी। इन प्रादेशिक भू-भागोंके निर्माण में और उन्हें कायम रखनेमें भौगोलिक राजनीति (Geo-politics) का बड़ा प्रभाव-पूर्ण हाथ रहता। इन प्रादेशिक भू-भागोंके ऊपर एक संघ होता जो राष्ट्र संघ या विश्व संघसे बिल्कुल भिन्न होता।

लॉर्ड डेवीज (Lord Davies) का कहना था कि निम्नलिखित संघ बन सकते हैं: अंग्रेजी भाषा भाषी देशोंका संघ, व रूस को केन्द्र बनाकर स्लाव देशोंका संघ, दक्षिणी अमेरीका के लेटिन गणराज्योंका संघ, भारत और उसके पड़ोसी राज्योंको मिलाकर मध्य एशियाई देशोंका संघ, सुदूर पूर्वी देशोंका संघ और योरोप के राष्ट्रोंका संघ। अफ्रीका का नाम बड़ी सुविधाके साथ छोड़ दिया गया था—सम्भवतः अंग्रेजी भाषा भाषी देशों द्वारा शोषण किये जानेके लिए। लॉर्ड डेवीज के अनुसार युद्धको समाप्त कर देना, विधि राज्यकी स्थापना करना, एक सामान्य वैदेशिक नीति निर्धारित करना, न्यायाधिकरणके लिए एक विश्व अधिकार सत्ताकी स्थापनाके उद्देश्यसे विश्व महासंघमें सम्मिलित होना, शान्ति स्थापित रखना और आर्थिक समस्याओंके निराकरणमें सहयोग देना—आदि इन संघों के उद्देश्य थे। नवीन संघमें पचास या उससे अधिक राज्योंके बजाय पांच या छ राज्य होते और उनके बीच होने वाले विवादोंका निराकरण पारस्परिक विचार विमर्श और परामर्श द्वारा किया जाता।

संगठनोंकी श्रृंखलामें तीसरी श्रेणी राष्ट्रीय क्षेत्रोंकी थी जिनकी एक राष्ट्रीय सरकार होती। कैटलिन इस क्षेत्रको शिक्षा और संस्कृतिके विकासके लिए उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। राष्ट्रीय भावनाके लिए यह क्षेत्र उपयुक्त था। इस सीमाके भीतर राष्ट्रीयतावाद कल्याणकारी था; इस सीमाके बाहर राष्ट्रीयतावादको कल्पना मूलक, प्रतिक्रियावादी, और कभी समाप्त न होने वाले युद्धोंका सक्रिय कारण माना गया।

इन प्रस्तावोंका निचोड़ था सांस्कृतिक क्षेत्रमें राष्ट्रीयतावाद, आर्थिक क्षेत्र में प्रादेशिकतावाद और उच्च राजनीतिक क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद।

एटलांटिक घोषणापत्र या अधिकारपत्र (Atlantic Charter) से हमें इस बातका संकेत मिलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन युद्धके बादके संसारमें किस प्रकारकी विश्व व्यवस्था कायम करना चाहते थे। इस घोषणा पत्र को विन्स्टन चर्चिल के यथार्थवाद और कॉर्डेल हलके आदर्शवादका रूज़वेल्टीय समन्वय कहा जाता है। वाइकाउण्ट सैमुअल (Viscount Samuel) का कहना है कि इस अधिकार पत्रकी प्रथम तीन धाराएं बाइबिल (old testament) के दशम आदेश (tenth commandment) की व्याख्या-मात्र हैं। यह आदेश हैं "तुम लालच नहीं करोगे।" संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन दोनोंने इस बातकी घोषणाकी कि उन्हें प्रादेशिक या अन्य किसी भी प्रकारके विस्तारकी महत्वाकांक्षा नहीं है। सच बात तो यह है कि इस धारामें किसीके भी हृदयमें कोई उत्साह नहीं पैदा होता। क्योंकि अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन का उक्त निश्चय ठीक वैसा ही है जैसा ऊँचे रक्तचापसे पीड़ित एक व्यक्ति अपनेको जीवित रखनेके लिए अपने खान पानको नियमित और नियंत्रित रखनेका निश्चय करता है। इस धाराने हिटलर की युद्धके पहले की गयी फरेबसे भरी इस घोषणाको और भी बल दे दिया कि वह जो युद्ध आरम्भ करने जा रहा था, वह धनी देशोंके विरुद्ध निर्धन देशोंका युद्ध था। चर्चिल के वक्तव्योंमें उनका यह इरादा साफ झलकता था कि "जो हमारे अधिकारमें है उसे हम अपनी मुट्ठीमें निकलने न देंगे"। हम प्रिट के इस विश्वाससे सहमत हैं कि "जब तक साम्राज्यवाद जड़से नष्ट नहीं होता तब तक एक सुन्दर विश्व व्यवस्था नहीं कायमकी जा सकती।

इस घोषणापत्रकी दूसरी धारामें यह इच्छा प्रकटकी गयी थी कि "ऐसा कोई प्रादेशिक परिवर्तन नहीं होगा जो उस प्रदेशकी जनताकी स्वतंत्र सम्मतिसे मेल न खाता हो"। तो क्या इसका यह अर्थ था कि फ़िनलैण्ड, पोलैण्ड और बाल्टिक राज्योंको उनके वे प्रदेश वापस दिलाये जायगे जो युद्धके पूर्व उनके अधिकारमें थे? इस व्यवस्थाके प्रति रूस की क्या प्रतिक्रिया हुई?

तीसरी धारामें घोषणा की गयी कि "सभी जातियोंके इस अधिकारका सम्मान किया जायगा कि वह स्वयं यह निर्णय करें कि किस प्रकारकी सरकारके अधीन वह रहना चाहती हैं"। इस धारामें यह इच्छा भी व्यक्तकी गयी कि जिन लोगोंके सम्प्रभु अधिकार और जिनका स्वशासन उनसे बलात् छीन लिया गया है वे उन्हें वापस दिलाये जाय। तो क्या इसका मतलब यह है कि केवल बहुमत का शासन होगा या इसमें उपजातियों द्वारा अपने पृथक राज्य स्थापित करनेका अधिकार भी निहित है? यदि उसका दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है तो इस प्रकार बनाये जानेवाले नये राज्यों में अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंकी क्या व्यवस्था होगी? क्या यह धारा भारत पर भी लागू थी? चर्चिल ने कहा था कि वह भारत पर लागू नहीं होती और रूज़वेल्ट का विचार था कि यह भारत पर लागू होती है।

चौथी और पांचवी धाराएं आर्थिक पक्षसे सम्बन्धित हैं। इन धाराओंमें इस

तीन पृथक क्षेत्र होने चाहिएं। सबसे ऊपर सारा विश्व हो जिसकी अपनी एक विश्व सरकार हो। इस सरकारके अधिकार क्षेत्रमें डाक व्यवस्था, हवाई यातायात, विश्व मुद्रा, कुछ कच्चे मालोंका उपयोग और टंग्स्टन (tungsten), टाइटेनियम (titanium) तथा निकेल (nickel) जैसे महत्वपूर्ण कच्चे पदार्थों (raw materials) का अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण हो। शक्ति द्वारा शान्ति स्थापित करने के लिए एक विश्व न्यायालय और विश्व पुलिस भी हो।

इसके बाद एक प्रादेशिक अधिकार सत्ता हो जिसके अधीन एक प्रादेशिक भू-भाग रहे। इसका काम एक बीचके क्षेत्रमें हो जिसके भीतर समाजका एकीकरण तुरन्त सम्भव हो। श्रम और व्यापार सम्बन्धी कुछ बातें और चुंगी (tariff), आप्रव्रजन (immigration) उसके अधीन रहे। प्रादेशिक क्षेत्रोंमें रहने वालोंकी आदतें तथा जीवन पद्धतियां मिलती-जुलती होंगी। इन प्रादेशिक भू-भागोंके निर्माण में और उन्हें कायम रखनेमें भौगोलिक राजनीति (Geo-politics) का बड़ा प्रभाव-पूर्ण हाथ रहता। इन प्रादेशिक भू-भागोंके ऊपर एक संघ होगा जो राष्ट्र संघ या विश्व संघसे बिल्कुल भिन्न होता।

लॉर्ड डेवीज (Lord Davies) का कहना था कि निम्नलिखित संघ बन सकते हैं : अंग्रेजी भाषा भाषी देशोंका संघ, व रूस को केन्द्र बनाकर स्लाव देशोंका संघ, दक्षिणी अमेरीका के लेटिन गणराज्योंका संघ, भारत और उसके पड़ोसी राज्योंको मिलाकर मध्य एशियाई देशोंका संघ, सुदूर पूर्वी देशोंका संघ और योरोप के राष्ट्रोंका संघ। अफ्रीका का नाम बड़ी सुविधाके साथ छोड़ दिया गया था—सम्भवत. अंग्रेजी भाषा भाषी देशों द्वारा शोषण किये जानेके लिए। लॉर्ड डेवीज के अनुसार युद्धको समाप्त कर देना, विधि राज्यकी स्थापना करना, एक सामान्य वैदेशिक नीति निर्धारित करना, न्यायाधिकरणके लिए एक विश्व अधिकार सत्ताकी स्थापनाके उद्देश्यसे विश्व महासंघमें सम्मिलित होना, शान्ति स्थापित रखना और आर्थिक समस्याओंके निराकरणमें सहयोग देना—आदि इन संघों के उद्देश्य थे। नवीन संघमें पचास या उससे अधिक राज्योंके बजाय पाच या छः राज्य होते और उनके बीच होने वाले विवादोंका निराकरण पारस्परिक विचार विमर्श और परामर्श द्वारा किया जाता।

सगठनोंकी शृंखलामें तीसरी श्रेणी राष्ट्रीय क्षेत्रोंकी थी जिनकी एक राष्ट्रीय सरकार होती। कैटलिन इस क्षेत्रको शिक्षा और संस्कृतिके विकासके लिए उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। राष्ट्रीय भावनाके लिए यह क्षेत्र उपयुक्त था। इस सीमाके भीतर राष्ट्रीयतावाद कल्याणकारी था ; इस सीमाके बाहर राष्ट्रीयतावादको कल्पना मूलक, प्रतिक्रियावादी, और कभी समाप्त न होने वाले युद्धोंका सक्रिय कारण माना गया।

इन प्रस्तावोंका निचोड था सांस्कृतिक क्षेत्रमें राष्ट्रीयतावाद, आर्थिक क्षेत्र में प्रादेशिकतावाद और उच्च राजनीतिक क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद।

एटलांटिक घोषणापत्र या अधिकारपत्र (Atlantic Charter) से हमें इस बातका संकेत मिलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन युद्धके बादके संसारमें किस प्रकारकी विश्व व्यवस्था कायम करना चाहते थे। इस घोषणा पत्र को विन्स्टन चर्चिल के यथार्थवाद और कॉर्डेल हलके आदर्शवादका रूजवेल्टीय समन्वय कहा जाता है। वाइकाउण्ट सैमुअल (Viscount Samuel) का कहना है कि इस अधिकार पत्रकी प्रथम तीन धाराएं बाइबिल (old testament) के दशम आदेश (tenth commandment) की व्याख्या-मात्र है। यह आदेश है: "तुम लालच नहीं करोगे।" संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन दोनोंने इस बातकी घोषणाकी कि उन्हें प्रादेशिक या अन्य किसी भी प्रकारके विस्तारकी महत्वाकांक्षा नहीं है। सच बात तो यह है कि इस धारासे किसीके भी हृदयमें कोई उत्साह नहीं पैदा होता। क्योंकि अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन का उक्त निश्चय ठीक वैसा ही है जैसा ऊंचे रक्तचापसे पीड़ित एक व्यक्ति अपनेको जीवित रखनेके लिए अपने खान पानको नियमित और नियंत्रित रखनेका निश्चय करता है। इस धाराने हिटलर की युद्धके पहले की गयी फरेबसे भरी इस घोषणाको और भी बल दे दिया कि वह जो युद्ध आरम्भ करने जा रहा था, वह धनी देशोंके विरुद्ध निर्धन देशोंका युद्ध था। चर्चिल के वक्तव्योंसे उनका यह इरादा साफ झलकता था कि "जो हमारे अधिकारमें है उसे हम अपनी मुट्ठीसे निकलने न देंगे"। हम प्रिट के इस विश्वाससे सहमत हैं कि "जब तक साम्राज्यवाद जड़से नष्ट नहीं होता तब तक एक सुन्दर विश्व व्यवस्था" नहीं कायमकी जा सकती।

इस घोषणापत्रकी दूसरी धारामें यह इच्छा प्रकटकी गयी थी कि "ऐसा कोई प्रादेशिक परिवर्तन नहीं होगा जो उस प्रदेशकी जनताकी स्वतंत्र सम्मतिसे मेल न खाता हो"। तो क्या इसका यह अर्थ था कि फिनलैण्ड, पोलैण्ड और बाल्टिक राज्योंको उनके वे प्रदेश वापस दिलाये जायगे जो युद्धके पूर्व उनके अधिकारमें थे? इस व्यवस्थाके प्रति रूस की क्या प्रतिक्रिया हुई?

तीसरी धारामें घोषणा की गयी कि "सभी जातियोंके इस अधिकारका सम्मान किया जायगा कि वह स्वयं यह निर्णय करें कि किस प्रकारकी सरकारके अधीन वह रहना चाहती हैं"। इस धारामें यह इच्छा भी व्यक्तकी गयी कि जिन लोगोंके सम्प्रभु अधिकार और जिनका स्वशासन उनसे बलात् छीन लिया गया है वे उन्हें वापस दिलाये जाय। तो क्या इसका मतलब यह है कि केवल बहुमत का शासन होगा या इसमें उपजातियों द्वारा अपने पृथक राज्य स्थापित करनेका अधिकार भी निहित है? यदि उसका दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है तो इस प्रकार बनाये जानेवाले नये राज्यों में अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंकी क्या व्यवस्था होगी? क्या यह धारा भारत पर भी लागू थी? चर्चिल ने कहा था कि वह भारत पर लागू नहीं होती और रूजवेल्ट का विचार था कि यह भारत पर लागू होती है।

चौथी और पांचवीं धाराएं आर्थिक पक्षसे सम्बन्धित हैं। इन धाराओंमें इ

तीन पृथक क्षेत्र होने चाहिए। सबसे ऊपर सारा विश्व हो जिसकी अपनी एक विश्व सरकार हो। इस सरकारके अधिकार क्षेत्रमें डाक व्यवस्था, हवाई यातायात, विश्व मुद्रा, कुछ कच्चे मालोंका उपयोग और टंग्स्टन (tungsten), टाइटेनियम (titanium) तथा निकेल (nickel) जैसे महत्वपूर्ण कच्चे पदार्थों (raw materials) का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण हो। शक्ति द्वारा शान्ति स्थापित करने के लिए एक विश्व न्यायालय और विश्व पुलिस भी हो।

इसके बाद एक प्रादेशिक अधिकार सत्ता हो जिसके अधीन एक प्रादेशिक भू-भाग रहे। इसका काम एक बीचके क्षेत्रमें हो जिसके भीतर समाजका एकीकरण तुरन्त सम्भव हो। श्रम और व्यापार सम्बन्धी कुछ बातें और चुंगी (tariff), आप्रवजन (immigration) उसके अधीन रहें। प्रादेशिक क्षेत्रोंमें रहने वालोंकी आदतें तथा जीवन पद्धतियां मिलती-जुलती होंगी। इन प्रादेशिक भू-भागोंके निर्माण में और उन्हें कायम रखनेमें भौगोलिक राजनीति (Geo-politics) का बड़ा प्रभाव-पूर्ण हाथ रहता। इन प्रादेशिक भू-भागोंके ऊपर एक संघ होता जो राष्ट्र संघ या विश्व संघसे बिल्कुल भिन्न होता।

लॉर्ड डेवीज (Lord Davies) का कहना था कि निम्नलिखित संघ बन सकते हैं: अंग्रेजी भाषा भाषी देशोंका संघ, व रूस को केन्द्र बनाकर स्लाव देशोंका संघ, दक्षिणी अमेरीका के लेटिन गणराज्योंका संघ, भारत और उसके पड़ोसी राज्योंको मिलाकर मध्य एशियाई देशोंका संघ, सुदूर पूर्वी देशोंका संघ और योरोप के राष्ट्रोंका संघ। अफ्रीका का नाम बड़ी सुविधाके साथ छोड़ दिया गया था—सम्भवतः अंग्रेजी भाषा भाषी देशों द्वारा शोषण किये जानेके लिए। लॉर्ड डेवीज़ के अनुसार युद्धको समाप्त कर देना, विधि राज्यकी स्थापना करना, एक सामान्य वैदेशिक नीति निर्धारित करना, न्यायाधिकरणके लिए एक विश्व अधिकार सत्ताकी स्थापनाके उद्देश्यसे विश्व महासंघमें सम्मिलित होना, शान्ति स्थापित रखना और आर्थिक समस्याओंके निराकरणमें सहयोग देना—आदि इन संघों के उद्देश्य थे। नवीन संघमें पचास या उससे अधिक राज्योंके बजाय पांच या छः राज्य होते और उनके बीच होने वाले विवादोंका निराकरण पारस्परिक विचार विमर्श और परामर्श द्वारा किया जाता।

संगठनोंकी श्रृंखलामें तीसरी श्रेणी राष्ट्रीय क्षेत्रोंकी थी जिनकी एक राष्ट्रीय सरकार होती। कैटलिन इस क्षेत्रको शिक्षा और संस्कृतिके विकासके लिए उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। राष्ट्रीय भावनाके लिए यह क्षेत्र उपयुक्त था। इस सीमाके भीतर राष्ट्रीयतावाद कल्याणकारी था; इस सीमाके बाहर राष्ट्रीयतावादको कल्पना मूलक, प्रतिक्रियावादी, और कभी समाप्त न होने वाले युद्धोंका सक्रिय कारण माना गया।

इन प्रस्तावोंका निचोड़ था सांस्कृतिक क्षेत्रमें राष्ट्रीयतावाद, आर्थिक क्षेत्र में प्रादेशिकतावाद और उच्च राजनीतिक क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद।

एटलांटिक घोषणापत्र या अधिकारपत्र (Atlantic Charter) से हमें इस बातका संकेत मिलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन युद्धके बादके संसारमें किस प्रकारकी विश्व व्यवस्था कायम करना चाहते थे। इस घोषणा पत्र को विन्स्टन चर्चिल के यथार्थवाद और कॉर्डेल हलके आदर्शवादका रूजवेल्टीय समन्वय कहा जाता है। वाइकाउण्ट सैमुअल (Viscount Samuel) का कहना है कि इस अधिकार पत्रकी प्रथम तीन धाराएं बाइबिल (old testament) के दशम आदेश (tenth commandment) की व्याख्या-मात्र हैं। यह आदेश है "तुम लालच नहीं करोगे।" संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन दोनोंने इस बातकी घोषणाकी कि उन्हें प्रादेशिक या अन्य किसी भी प्रकारके विस्तारकी महत्वाकांक्षा नहीं है। सच बात तो यह है कि इस धाराने किसीके भी हृदयमें कोई उत्साह नहीं पैदा होता। क्योंकि अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन का उक्त निश्चय ठीक वैसा ही है जैसा ऊंचे रक्तचापसे पीडित एक व्यक्ति अपनेको जीवित रखनेके लिए अपने खान पानको नियमित और नियन्त्रित रखनेका निश्चय करता है। इस धाराने हिटलर की युद्धके पहले की गयी फरेबमें सारी इस घोषणाको और भी बल दे दिया कि वह जो युद्ध आरम्भ करने जा रहा था, वह धनी देशोंके विरुद्ध निर्धन देशोंका युद्ध था। चर्चिल के वक्तव्योंसे उनका यह इरादा साफ़ झलकता था कि "जो हमारे अधिकारमें है उसे हम अपनी मुट्ठीसे निकलने न देंगे"। हम ब्रिट के इस विश्वाससे सहमत हैं कि "जब तक साम्राज्यवाद जड़से नष्ट नहीं होता तब तक एक सुन्दर विश्व व्यवस्था नहीं कायमकी जा सकती।

इस घोषणापत्रकी दूसरी धारामें यह इच्छा प्रकटकी गयी थी कि "ऐसा कोई प्रादेशिक परिवर्तन नहीं होगा जो उस प्रदेशकी जनताकी स्वतन्त्र सम्मतिसे मेल न खाता हो"। तो क्या इसका यह अर्थ था कि फ़िनलैंड, पोलैण्ड और बाल्टिक राज्योंको उनके वे प्रदेश वापस दिलाये जायगे जो युद्धके पूर्व उनके अधिकारमें थे? इस व्यवस्थाके प्रति रूस की क्या प्रतिक्रिया हुई?

तीसरी धारामें घोषणा की गयी कि "सभी जातियोंके इस अधिकारका सम्मान किया जायगा कि वह स्वयं यह निर्णय करें कि किस प्रकारकी सरकारके अधीन वह रहना चाहती हैं"। इस धारामें यह इच्छा भी व्यक्तकी गयी कि जिन लोगोंसे सम्प्रभु अधिकार और जिनका स्वशासन उनसे बलात् छीन लिया गया है वे उन्हें वापस दिलाये जाय। तो क्या इसका मतलब यह है कि केवल बहुमत का शासन होगा या इसमें उपजातियों द्वारा अपने पृथक राज्य स्थापित करनेका अधिकार भी निहित है? यदि उसका दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है तो इस प्रकार बनाये जानेवाले नये राज्यों में अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंकी क्या व्यवस्था होगी? क्या यह धारा भारत पर भी लागू थी? चर्चिल ने कहा था कि यह भारत पर लागू नहीं होती और रूजवेल्ट का विचार था कि यह भारत पर लागू होती है।

चौथी और पांचवीं धाराएं आर्थिक पक्षसे सम्बन्धित हैं। इन धाराओंमें इस

तीन पृथक क्षेत्र होने चाहिए। सबसे ऊपर सारा विश्व हो जिसकी अपनी एक विश्व सरकार हो। इस सरकारके अधिकार क्षेत्रमें डाक व्यवस्था, हवाई यातायात, विश्व मुद्रा, कुछ कच्चे मालोंका उपयोग और टङ्स्टन (tungsten), टाइटेनियम (titanium) तथा निकेल (nickel) जैसे महत्वपूर्ण कच्चे पदार्थों (raw materials) का अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण हो। शक्ति द्वारा शान्ति स्थापित करने के लिए एक विश्व न्यायालय और विश्व पुलिस भी हो।

इसके बाद एक प्रादेशिक अधिकार सत्ता हो जिसके अधीन एक प्रादेशिक भू-भाग रहे। इसका काम एक बीचके क्षेत्रमें हो जिसके भीतर समाजका एकीकरण तुरन्त सम्भव हो। श्रम और व्यापार सम्बन्धी कुछ बातें और चुगी (tariff), आप्रव्रजन (immigration) उसके अधीन रहे। प्रादेशिक क्षेत्रोंमें रहने वालोंकी आदतें तथा जीवन पद्धतियां मिलती-जुलती होंगी। इन प्रादेशिक भू-भागोंके निर्माण में और उन्हें कायम रखनेमें भौगोलिक राजनीति (Geo-politics) का बड़ा प्रभावपूर्ण हाथ रहता। इन प्रादेशिक भू-भागोंके ऊपर एक सघ होता जो राष्ट्र सघ या विश्व सघसे बिल्कुल भिन्न होता।

लॉर्ड डेवीज़ (Lord Davies) का कहना था कि निम्नलिखित सघ बन सकते हैं. अग्रेजी भाषा भाषी देशोंका सघ, व रूस को केन्द्र बनाकर स्लाव देशोंका सघ, दक्षिणी अमेरीका के लेटिन गणराज्योंका सघ, भारत और उसके पड़ोसी राज्योंको मिलाकर मध्य एशियाई देशोंका सघ, सुदूर पूर्वी देशोंका संघ और योरोप के राष्ट्रोंका सघ। अफ्रीका का नाम बड़ी सुविधाके साथ छोड़ दिया गया था—सम्भवत. अग्रेजी भाषा भाषी देशों द्वारा शोषण किये जानेके लिए। लॉर्ड डेवीज़ के अनुसार युद्धको समाप्त कर देना, विधि राज्यकी स्थापना करना, एक सामान्य वैदेशिक नीति निर्धारित करना, न्यायाधिकरणके लिए एक विश्व अधिकार सत्ताकी स्थापनाके उद्देश्यसे विश्व महासंघमें सम्मिलित होना, शान्ति स्थापित रखना और आर्थिक समस्याओंके निराकरणमें सहयोग देना—आदि इन सघों के उद्देश्य थे। नवीन सघमें पचास या उससे अधिक राज्योंके बजाय पाच या छः राज्य होते और उनके बीच होने वाले विवादोंका निराकरण पारस्परिक विचार विमर्श और परामर्श द्वारा किया जाता।

सगठनोंकी श्रृखलामें तीसरी श्रेणी राष्ट्रीय क्षेत्रोंकी थी जिनकी एक राष्ट्रीय सरकार होती। कॅर्टलिन इस क्षेत्रको शिक्षा और सस्कृतिके विकासके लिए उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। राष्ट्रीय भावनाके लिए यह क्षेत्र उपयुक्त था। इस सीमाके भीतर राष्ट्रीयतावाद कल्याणकारी था; इस सीमाके बाहर राष्ट्रीयतावादको कल्पना मूलक, प्रतिक्रियावादी, और कभी समाप्त न होने वाले युद्धोंका सक्रिय कारण माना गया।

इन प्रस्तावोंका निचोड था सास्कृतिक क्षेत्रमें राष्ट्रीयतावाद, आर्थिक क्षेत्र में प्रादेशिकतावाद और उच्च राजनीतिक क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद।

एटलांटिक घोषणापत्र या अधिकारपत्र (Atlantic Charter) से हमें इस बातका संकेत मिलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन युद्धके बादके संसारमें किस प्रकारकी विश्व व्यवस्था कायम करना चाहते थे। इस घोषणा पत्र को विन्स्टन चर्चिल के यथार्थवाद और कॉर्डेल हलके आदर्शवादका रूजवेल्टीय समन्वय कहा जाता है। वाइकाउण्ट सैमुअल (Viscount Samuel) का कहना है कि इस अधिकार पत्रकी प्रथम तीन धाराएं बाइबिल (old testament) के दसम आदेश (tenth commandment) की व्याख्या-मात्र हैं। यह आदेश है: "तुम लालच नहीं करोगे।" संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन दोनोंने इस बातकी घोषणाकी कि उन्हें प्रादेशिक या अन्य किसी भी प्रकारके विस्तारकी महत्वाकांक्षा नहीं है। सच बात तो यह है कि इस धारासे किसीके भी हृदयमें कोई उत्साह नहीं पैदा होता। क्योंकि अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन का उक्त निश्चय ठीक वैसा ही है जैसा ऊंचे रक्तचापसे पीड़ित एक व्यक्ति अपनेको जीवित रखनेके लिए अपने खान पानको नियमित और नियंत्रित रखनेका निश्चय करता है। इस धाराने हिटलर की युद्धके पहले की गयी फ़रेबसे भरी इस घोषणाको और भी बल दे दिया कि वह जो युद्ध आरम्भ करने जा रहा था, वह धनी देशोंके विरुद्ध निर्धन देशोंका युद्ध था। चर्चिल के वक्तव्योंसे उनका यह इरादा साफ़ झलकता था कि "जो हमारे अधिकारमें है उसे हम अपनी मुट्ठीसे निकलने न देंगे"। हम ब्रिटेन के इस विश्वाससे सहमत हैं कि "जब तक साम्राज्यवाद जड़से नष्ट नहीं होता तब तक एक सुन्दर विश्व व्यवस्था नहीं कायमकी जा सकती।

इस घोषणापत्रकी दूसरी धारामें यह इच्छा प्रकटकी गयी थी कि "ऐसा कोई प्रादेशिक परिवर्तन नहीं होगा जो उस प्रदेशकी जनताकी स्वतंत्र सम्मतिसे मेल न खाता हो"। तो क्या इसका यह अर्थ था कि फ़िनलैण्ड, पोलैण्ड और बाल्टिक राज्योंको उनके वे प्रदेश वापस दिलाये जायगे जो युद्धके पूर्व उनके अधिकारमें थे? इस व्यवस्थाके प्रति रूस की क्या प्रतिक्रिया हुई?

तीसरी धारामें घोषणा की गयी कि "सभी जातियोंके इस अधिकारका सम्मान किया जायगा कि वह स्वयं यह निर्णय करें कि किस प्रकारकी सरकारके अधीन वह रहना चाहती हैं"। इस धारामें यह इच्छा भी व्यक्तकी गयी कि जिन लोगोंके सम्प्रभु अधिकार और जिनका स्वशासन उनसे बलात् छीन लिया गया है वे उन्हें वापस दिलाये जाय। तो क्या इसका मतलब यह है कि केवल बहुमत का शासन होगा या इसमें उपजातियों द्वारा अपने पृथक राज्य स्थापित करनेका अधिकार भी निहित है? यदि उसका दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है तो इस प्रकार बनाये जानेवाले नये राज्यों में अल्पसंख्यकोंके अधिकारोंकी क्या व्यवस्था होगी? क्या यह धारा भारत पर भी लागू थी? चर्चिल ने कहा था कि वह भारत पर लागू नहीं होती और रूजवेल्ट का विचार था कि यह भारत पर लागू होती है।

चौथी और पांचवी धाराएं आर्थिक पक्षसे सम्बन्धित हैं। इन धाराओंमें इस

चातथा वादा किया गया है कि सभी राज्य समान शर्तों पर संसार भरमें व्यापार कर सकेंगे और अपनी आर्थिक समृद्धिके लिए आवश्यक कच्चा माल संसार भरसे प्राप्त कर सकेंगे। एक प्रश्न जो सम्भवतः हमारे मनमें उठता है, यह है: "क्या यह आवश्यक था कि ऐसा वादा करनेके लिए युद्ध समाप्त हो जानेके बाद दो वर्षों तक प्रतीक्षा की जाती? यदि यह वादा युद्धके पहले कर दिया गया होता तो क्या उपनिवेशोंके बारेमें हिटलर के दावोंका आधार ही समाप्त न हो जाता। इस धाराका निहित अर्थ यह है कि १९३२ का ऑटवा करार जिसके अनुसार साम्राज्य बाहरके देशोंके विरुद्ध कठोर चुंगीकी दीवार (tariff wall) खड़ीकी गयी थी, एक भयकर भूल थी। चौथी और पाचवी धाराओंमें सभी राष्ट्रोंमें परस्पर घनिष्ठ सहयोगका आश्वासन दिया गया है ताकि श्रमके विकसित मानदण्ड, आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा ससारके सभी राष्ट्रोंमें सुलभ हो सकें।

अन्तिम तीन धाराओंमें उन साधनोंको बताया गया है जिनके द्वारा नाजी अत्याचारोंके समाप्त हो जानेके बाद स्थायी शान्ति क़ायमकी जायगी। इन साधनोंमें आक्रमण करनेवाले राष्ट्रोंका निःशस्त्रीकरण, सामुद्रिक स्वातन्त्र्य और भय तथा अभावसे मुक्ति प्रमुख थे।

इन धाराओंका मूल्य आज आका जा रहा है। जनरल स्मट्स् की इस घोषणा ने इन धाराओंका पर्दाफाश कर दिया है कि एटलांटिक घोषणापत्र उत्तरी अफ्रीका स्थित इटली के उन प्रदेशों पर नही लागू हो सकता जो युद्धके दौरानमें संयुक्त राष्ट्र सघके अधिकारमें आ गये थे।

रूज़वेल्ट द्वारा घोषित चार स्वाधीनताओंको हर व्यक्तिको स्वाधीनता प्रदान करने वाला घोषणा पत्र कहा जाता है। इनमें से पहली स्वाधीनता है अकारण आक्रमणके भयसे मुक्ति, और बिना किसी प्रकारकी बाहरी बाधा या दबावके, अपना राष्ट्रीय जीवन बितानेकी स्वाधीनता। दूसरी स्वाधीनता है अभावसे मुक्ति, इसमें दरिद्रतासे मुक्ति और सामूहिक बेकारीसे मुक्ति तथा काम करनेका अधिकार और प्रत्येक व्यक्तिके लिए जीवनका एक न्यूनतम मान दण्ड सम्मिलित हैं। शेष दो स्वाधीनताएं—विवेक स्वातंत्र्य और अभिव्यक्तिकी स्वाधीनता—अपने आप स्पष्ट हैं। इस सूचीसे एक महत्त्वपूर्ण स्वाधीनताको बाहर रखा गया है। और वह है जातीय और सामाजिक अत्याचारोंसे मुक्ति। रूज़वेल्ट की मंत्रिपरिषदमें गृह विभागोंके मत्री आइक्स् ने कहा था कि अमेरिकामें अल्प समुदायोंके साथ, विशेषकर नीग्रो लोगोंके साथ, जो व्यवहार किया जाता है वह उस व्यवहारसे कहीं खराब है जो रूस में अल्प समुदायोंके साथ किया जाता है।

हम भारतवासी निम्नलिखित चार स्वाधीनताएं चाहते हैं: (१) अकारण आक्रमणसे मुक्ति; (२) आर्थिक अरक्षा (economic insecurity) से मुक्ति; (३) सामाजिक अत्याचारों (वर्ण, वर्ग, समाज धर्म व भाषा द्वारा होने वाले) से

मुक्ति और (४) पूर्ण आत्माभिव्यक्ति की स्वाधीनता जिसमें विवेककी स्वाधीनता और अभिव्यक्तिकी स्वाधीनता सम्मिलित है।

युद्धके बादके वर्षोंमें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद चाहे जो भी संगठनात्मक रूप धारण करे पर जब तक निम्नलिखित चार बातोंकी व्यवस्था नहीं होती तब तक अन्तर्राष्ट्रीयतावादका ढिंढोरा पीटना व्यर्थ है: (१) चरम राष्ट्रीयसम्प्रभुताके सिद्धान्तका परित्याग, (२) रचनात्मक शान्तिकी स्थापना और उसको बनाये रखनेके लिए एक उपयुक्त व्यवस्थाकी स्थापना (३) राष्ट्रों और राष्ट्र समूहोंके बीच आर्थिक न्याय और (४) व्यक्तियोंके लिए सामाजिक सुरक्षा। जहां तक भारत का सम्बन्ध है यह सुरक्षा द्वितीय पंचवर्षीय योजना सम्बन्धी बेवेरिज योजनाके अनुसार होनी चाहिये।

इस समय अपनेको केवल दूसरी बात तक ही सीमित रखते हुए हम वाइकम स्टीड (Wickham Steed) के इस कथनसे सहमत हैं कि शान्तिका अर्थ केवल युद्ध बन्दी या युद्धका न होना ही नहीं होता। शान्ति नकारात्मक नहीं है। यह रचनात्मक और गतिशील है और इसमें जोखिमका पुट होनेके कारण यह एक आकर्षक उपक्रम है। लिविनॉफ (Livinof) के शब्दोंमें "शान्ति अविभाज्य है"।

शान्ति तभी स्थायी तौर पर कायम रह सकती है जब हम परिश्रम और सावधानीसे विश्व समाजकी भावनाको विकसित कर लें और प्रत्येक राष्ट्र अपने को समूचे विश्व समाजका ही अंग मानने लगे तथा विश्व समाजके हित को ही अपना हित समझने लगे। हम यह नहीं चाहते कि एक आंग्ल-सेक्सनी संघ शेष समस्त संसारके लिए विधायकका काम करे। कौन जानता है कि ऐसा विधान कितने दिन चले। हम शक्ति सन्तुलनके बदनाम सिद्धान्तकी पुनरावृत्ति भी नहीं चाहते।

युद्धके बादके कुछ वर्षोंके लिये जर्मनी को निरस्त्र करना चाहे जितना आवश्यक रहा हो, पर एक पक्षीय निरस्त्रीकरण युद्ध और शान्तिकी समस्या को कदापि सहन नहीं कर सकता। प्रथम विश्व-युद्धकी समाप्ति पर एक पक्षीय निरस्त्रीकरणका प्रयत्न किया गया था पर योरोपीय सरकारें परस्पर वाक्-युद्ध ही करती रहीं और किसी एक सामान्य नीति पर एकमत न हो सकीं। हर सरकार अपने शस्त्रास्त्रोंको अपने पास ही सुरक्षित रखना चाहती थी और उनका समुच्चय किसी ने स्वीकार नहीं किया। वाइकाउण्ट सैमुअल (Viscount Samuel) का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि एक पक्षीय शस्त्रीकरणमें निरपराध राष्ट्रोंके मुकाबिले अपराधी राष्ट्रोंको एक बहुत बड़ी आर्थिक सुविधा मिल जायगी। इसके अतिरिक्त एक पक्षीय निरस्त्रीकरणसे न तो सद्भावना स्थापित हो सकती है और न इस पर अधिक समय तक अमल ही किया जा सकता है।

सब राष्ट्रोंका एक साथ निरस्त्रीकरण और एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार सत्ताकी स्थापना जिसे विश्व न्यायालय और एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस

या शान्ति-रक्षक दलका बल प्राप्त हो, ही इस समस्याका एक मात्र हल है। इस शान्ति रक्षक सेनाका एक प्रधान सेनापति होना चाहिए और उसे कुछ ऐसी शक्तियोंकी सैनिक मैत्रीमें पड कर भ्रष्ट न होना चाहिये जो किसी दूसरे सैनिक मैत्री वाले गुटके साथ शस्त्रीकरणकी होडमें लगे हो। इसमें अंग्रेजों, अमरीकियों तथा रूसी और चीनी लोगोंके साथ-साथ जर्मन, इटालियन और जापानी लोगोंको भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। यदि इससे राष्ट्रीय देशभक्ति समाप्त हो जाती है तो उसके कोई हानि नही होगी क्योंकि ऐसी देशभक्ति स्थायी बनाये जानेके योग्य नही है। इस अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार सत्ताको यथार्थ रूपमें एक सच्चे राष्ट्र सघका पुलिस दल बनाना होगा। हम नही चाहते कि ससारका आधा हिस्सा दूसरे हिस्सेके लिए पुलिसका कार्य करे। ससार भरके कल्याणके लिए सारे ससारको पुलिस बनना होगा। राष्ट्रीय सैन्य दलोंके स्थान पर एक वास्तविक विश्व पुलिस दल होना चाहिए जो जाने बूझे अपराधियोंके विरुद्ध उनके जाने-बूझे अपराधोंके लिए सीमित शक्तिका उपयोग करे।

SELECT READINGS

Aims, Methods and Activity of the League of Nations, 1935.

ASIRVATHAM, E.—*A New Social Order*—Chs. IX, X, and XI.

BARNES, LEONARD—*The Duty of Empire.*

BARNES, LEONARD—*The Future of Colonies.*

BARNES, LEONARD—*Empire or Democracy.*

BRYCE, LORD—*International Relations.*

BUELL, R. L.—*International Relations.*

CURTIS, L.—*Civitas Dei.*

GIBBONS, H A.—*Introduction to World Politics.*

GILCHRIST, R. N.—*Indian Nationality.*

GOOCH, G. P.—*Nationalism.*

HALLOWELL, J. H.—*Main Currents in Modern Political Thought*—Ch. 16.

HAYES, C. J. H.—*Essays on Nationalism.*

HOBSON, J. A.—*Imperialism, A Study.*

HOCKING, W. E.—*The Spirit of World Politics.*

JENNINGS, IVOR—*A Federation for Western Europe.*

JOSEPH BERNARD—*Nationality.*

KOHN, HANS—*Nationalism in the East.*

LASKI, H. J.—*A Grammer of Politics.*

MADARIAGA, SALVADOR DE—*The World's Design.*

MAZZINI—*Selected Writings.*
MAZZINI—*The Duties of Man and other Essays.*
MILL, J. S.—*Representative Government.*
MOON, P. T.—*Imperialism and World Politics.*
MOON, P. T.—*Syllabus on International Relations.*
MORGENTHAU, J. H.—*Politics among Nations.*
MUIR, R.—*Nationalism and Internationalism.*
PALMER, N. D. AND PERKINS—*International Politics.*
PILLSBURY, W. B.—*The Psychology of Nationality and Internationalism.*
PRITT, D. N.—*Federal Illusion.*
ROSE, J. H.—*Nationality in Modern History.*
SCHUMAN, F. L.—*International Politics*, (4th Ed., 1945).
SITARAMAYYA—*History of the Indian National Congress.*
TOYNBEE, A.—*Nationality and the War.*
TOYNBEE, A.—*Study of International Affairs.*
TAGORE, R.—*Nationalism.*
VON TREITSCHKE—*Politics*—(2 Vols.).
WOOLF, L.—*Imperialism and Civilization.*
WOOLF, L. S.—*International Government.*
ZIMMERN, A. E.—*Nationality and Government.*
ZIMMERN, A. E.—*The Third British Empire.*

२०

संयुक्त राष्ट्र-संघ

(The United Nations)

हिटलर और मुसोलिनी की तथा जापान के युद्ध नायकोंकी महत्वाकांक्षाओंके कारण १९३९ में ससार एक भयानक युद्ध में फस गया। इनके विरुद्ध युद्ध करने वाले मित्र राष्ट्रोंको उस समय युद्धमें विजय पाना सर्व प्रमुख लक्ष्य हो गया। पर जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया वैसे-वैसे मित्र राष्ट्रोंके राजनीतिज्ञोंने अधिकाधिक अनुभव किया कि यदि उन्हें युद्ध जीतना है तो उन्हें अपनी जनताके सामने कोई ऐसा महत्वपूर्ण उद्देश्य रखना होगा जिसके लिए युद्ध करना उचित मालूम पड़े। इसीलिए अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने चार स्वाधीनताओंकी घोषणाकी और रूजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधान मंत्री चर्चिल ने एक सयुक्त घोषणा पत्र निकाला जिसे अतलान्तिक अधिकार पत्र या घोषणा पत्र (Atlantic Charter) कहते हैं।

रूजवेल्ट ने निम्नलिखित चार स्वाधीनताओंकी घोषणा की थी—भय और अरक्षा (insecurity) से मुक्ति, अभावसे मुक्ति, विचारकी स्वतन्त्रता और उपासना की स्वतन्त्रता (freedom of fear and insecurity; freedom from want; freedom from expression, and freedom of worship)। जर्मनो में नाजियोंके अत्याचारकी पृष्ठभूमिके विरुद्ध इन स्वाधीनताओंका निर्धारण हुआ था। रूजवेल्ट ने घोषणाकी थी कि ये स्वाधीनताएं सारी मानव जाति पर सब कहीं लागू होंगी। अतलान्तिक अधिकार पत्रकी घोषणा अगस्त १९४१ में की गयी थी। यह मौलिक सिद्धान्तोंकी घोषणा थी। ये सिद्धान्त विल्सन के चौदह सूत्रोंसे बहुत मिलते-जुलते थे। विल्सन के चौदह सूत्रोंमें से कुछ ये हैं—शान्तिकी स्थापना, भय और अभाव से मुक्ति, शक्ति उपयोगका निरोध, निरस्त्रीकरण, अनाक्रमण, सम्बन्धित जनताकी स्वीकृति बिना प्रादेशिक सीमा परिवर्तनका निषेध, सब देशोंके लिए कच्चे मालकी समान सुविधा आर्थिक क्षेत्रमें सब देशोंका पूर्ण पारस्परिक सहयोग आदि।

जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया धुरी राष्ट्रों (axis powers) जर्मनी, इटली और जापान के विरुद्ध युद्ध करने वाले मित्र राष्ट्रोंको सयुक्त राष्ट्र या युनाइटेड नेशस कहा जाने लगा। यह नाम रूजवेल्ट ने रखा था। उनकी मृत्युके बाद उन्हींकी यादगारमें विश्वराष्ट्रों के सगठनका नाम सयुक्त राष्ट्र सघ (The United Nations Organization) रख दिया गया। अब इसे सक्षेपमें सयुक्त राष्ट्र (The United Nations) या यू० एन० ही कहा जाता है।

मित्र राष्ट्रोंके राजनीतिज्ञ युद्ध समाप्त होनेकी प्रतीक्षा किये बिना युद्धके

दौरानमें ही संयुक्त राष्ट्र संघके संगठनमें लग गये। पिछले राष्ट्र संघ या लीग आफ नेशन्सकी असफलता सबकी आखें खोल चुकी थी फिर भी लोगोंने महसूस किया कि राष्ट्र संघका ढांचा अधिकांश रूपमें सन्तोषजनक था। इसलिए वे उसी ढाचे पर नये संगठनका निर्माण करने लगे। पहली जनवरी १९४२ को संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र (The United Nations Declaration) पर हस्ताक्षर किये गये। ब्रिटेन की ओर से चर्चिल ने, अमेरिका की ओर से रूजवेल्ट ने, रूस की ओर से लिटविनाव ने और चीन की ओर से टी० यू० सूंग ने इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये। एक वर्षसे कुछ अधिक समय बाद मॉस्को में एक सम्मेलन हुआ जिसमें ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और फ्रान्स के विदेश मंत्री सम्मिलित हुए। ३० अक्टूबर, १९४३ को उन्होंने यह घोषणा की—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखनेके लिए यथासम्भव शीघ्र एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करनेकी आवश्यकता हम अनुभव करते हैं जिसका संगठन सभी शान्ति प्रिय राष्ट्रोंकी समान सम्प्रभुताके सिद्धान्त पर हो और जिसका द्वार सभी छोटे-बड़े शान्तिप्रिय राष्ट्रोंके लिए खुला हो"।

मॉस्को की इस घोषणाके बाद और कई सम्मेलन हुए जैसे काहिरा-सम्मेलन (नवम्बर १९४३, काहिरा—यूनाइटेड अरब रिपब्लिक की राजधानी), तेहरान सम्मेलन (तेहरान—ईरान की राजधानी), ब्रेटन वुड्स् सम्मेलन (ब्रेटन वुड्स् नामक नगर संयुक्त राज्य अमेरिका में) और हॉटस्प्रिंग्स सम्मेलन (हॉटस्प्रिंग्स, संयुक्त राज्य अमेरिका में एक नगर)। अन्तिम सम्मेलनमें संयुक्त राष्ट्र संघकी शाखा "खाद्य व कृषि संगठन" की नींव डाली गयी जिसने शुरूसे ही महान सेवा कार्य किया है।

संयुक्त राष्ट्र संघकी रूपरेखा तय करने वाला सम्मेलन अक्टूबर १९४४ में वाशिंगटन में डम्बर्टन ओक्स नामक भवनमें हुआ था। इस सम्मेलनमें एक आम सभा, एक ११ सदस्यी सुरक्षा परिषद, एक आर्थिक और सामाजिक परिषद, एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, और एक स्थायी सचिवालय कायम करनेके प्रस्ताव रखे गये। अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दलके प्रश्न पर भी विचार किया गया था।

एक महत्वपूर्ण बात जो इस सम्मेलनमें तय होनेसे रह गयी थी वह थी सुरक्षा परिषदमें मतदानकी पद्धति। इस प्रश्नका फ़ैसला याल्टा-सम्मेलनमें हुआ। इसमें स्तालिन, रूजवेल्ट और चर्चिल शामिल हुए थे। इस प्रश्नको तय करनेके अतिरिक्त उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि अप्रैल सन् १९४५ में सैनफ्रैंसिस्को में उन सभी राष्ट्रोंका एक सम्मेलन हो जो धुरी राष्ट्रोंके विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं। सम्मेलन होनेके पहले ही रूजवेल्ट का देहान्त हो गया और उनके स्थान पर ट्रूमैन अमेरिका के राष्ट्रपति हुए। जब २५ अप्रैल सन् १९४५ को निश्चित स्थान पर सम्मेलन हुआ तब नयी कठिनाइयां पैदा हो गयीं। रूस उस सम्मेलनसे बाहर निकल आया और राष्ट्रपति ट्रूमैन के बहुत समझाने बुझाने पर ही वह फिर सम्मेलनमें शामिल हुआ। भारत इस सम्मेलनमें सम्मिलित हुआ था। ए० रामास्वामी मुदालियर, वी० टी० कृष्णमाचारी और फ़िरोज खा नून भारत के प्रतिनिधि थे। डम्बर्टन ओक्स

में बनी रूपरेखा पर सम्मेलनने विस्तारपूर्वक विचार कर उसका ब्योरेवार विस्तार किया। सबसे अधिक और ब्योरेवार विचार इस सम्मेलनमें आर्थिक और सामाजिक परिषदके गठन और उसके कार्यों पर किया गया क्योंकि यह अनुभव किया जा चुका था कि जब तक मनुष्य जातिके कुछ गम्भीर आर्थिक प्रश्नोंको नहीं सुलझाया जाता तब तक स्थायी शान्ति असम्भव है।

इस सम्मेलन में ५० राष्ट्र शामिल हुए थे और वे ही संयुक्त राष्ट्र संघके प्रथम सदस्य बने। २४ अक्टूबर सन् १९४५ को हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रोंने घोषणा पत्र स्वीकार कर तत्सम्बन्धी सूचनापत्र अमेरिका के राष्ट्र विभागमें दाखिल कर दिये। १० जनवरी सन् १९४६ को संयुक्त राष्ट्र संघकी स्थापनाकी गयी। उस दिन राष्ट्र संघ (League of Nations) का २६वां जन्मदिवस था। संयुक्त राष्ट्र संघकी आम सभा की पहली बैठक लन्दन में वेस्ट मिन्स्टर के सेन्ट्रल हालमें हुई। उसके बाद राष्ट्र संघ (League of Nations) विधिवत् समाप्त कर दिया गया।

घोषणा पत्रमें एक सौ ग्यारह छोटी-छोटी धाराएं हैं। घोषणा पत्रकी प्रस्तावना (Preamble) में संयुक्त राष्ट्रके मौलिक उद्देश्य बताये गये हैं। प्रस्तावना का आरम्भ इन अर्थपूर्ण शब्दोंके साथ होता है—"हम संयुक्त राष्ट्रोंके लोग"। राष्ट्र संघ (League of Nations) घोषणा पत्रमें इन शब्दोंका उपयोग किया गया था—हम संविदा करने वाले उच्चाधिकारी (The High Contracting Parties)—इससे यह मतलब निकलता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ संसारकी जनताकी ओरसे बोलता और काम करता है। पर इस शाब्दिक अन्तरमें बहुत अधिक अर्थ न ढूंढ़ना चाहिए क्योंकि संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य स्वतंत्र और सम्प्रभु राज्य ही हैं। राष्ट्र संघकी भांति संयुक्त राष्ट्र संघ भी अपने सदस्योंसे अपनी सम्प्रभुता समर्पित करने की मांग नहीं करता। संयुक्त राष्ट्र संघ "सम्प्रभु राज्योंका स्वेच्छामूलक सहयोग" है। वह राज्यों पर राज्य (super state) नहीं है।

संयुक्त राष्ट्र-संघके उद्देश्य (Purposes of the U.N.).

संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित चार उद्देश्य हैं :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना;

(२) समान अधिकारों और आत्म निर्णयके प्रति निष्ठाके आधार पर—राष्ट्रोंके बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धोंका विकास करना;

(३) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवता मूलक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंको सुलझाने और मानवीय अधिकारों तथा सबके लिए मौलिक स्वाधीनताओंके प्रति सम्मानकी भावनाका विकास करनेमें सहयोग करना; और

(४) इन सामान्य उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए राज्यों द्वारा किये जाने वाले कार्योंके समन्वय (harmony) का केन्द्र बनना।

सिद्धान्त (principles)—ऊपर बताये गये उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ निम्नलिखित सिद्धान्तोंके अनुसार काम करता है:

(१) संघका संगठन अपने सभी सदस्योंकी सम्प्रभुताकी समताके सिद्धान्त पर आधारित है;

(२) सदस्य राष्ट्रोंने घोषणा पत्रके अनुसार जो जिम्मेदारियां या कर्तव्य पूरा करनेका भार अपने ऊपर लिया है उन्हें सदस्य राष्ट्र ईमानदारीके साथ पूरा करें;

(३) सदस्योंको अपने अन्तर्राष्ट्रीय झगडे शान्तिमय तरीकोंसे सुलझाने हैं;

(४) सदस्योंको अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंमें ऐसे किसी ढगसे शक्ति-प्रयोग की धमकी नहीं देना है और न शक्तिका प्रयोग करना है जो संयुक्त राष्ट्रोंके उद्देश्यके प्रतिकूल हो;

(५) घोषणा पत्रके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ जो भी काम करे उसमें सदस्यों को हर प्रकारकी मदद करनी है और ऐसे किसी भी राष्ट्रको सहायता नहीं देनी है जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ निषेधात्मक या आदेशमूलक कार्रवाई कर रहा हो;

(६) संयुक्त राष्ट्र संघको इस बातका प्रयत्न करना है कि जो राष्ट्र संघके सदस्य नहीं हैं वे भी, जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखनेके लिए आवश्यक है, इन सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण करें;

(७) संयुक्त राष्ट्र संघको किसी राष्ट्रके घरेलू मामलोंमें दखल नहीं देना है। पर जब शान्ति भंग होनेका खतरा हो या शान्ति भंगकी गयी हो तथा आक्रमण किया गया हो तब यह धारा लागू नहीं होगी और संयुक्त राष्ट्र संघ आदेश मूलक कार्रवाई कर सकेगा।

सदस्यता (Membership). जैसा ऊपर बताया जा चुका है, संयुक्त राष्ट्र संघके प्रथम सदस्योंकी संख्या पचास थी। १९५५ तक केवल दस सदस्य और शामिल किये गये क्योंकि नये सदस्योंके लिए जानेके प्रश्न पर संघके दो शक्तिशाली गुटोंमें संघर्ष छिड गया। १९५५ में दोनों गुटोंमें समझौता हो जाने पर एक साथ सोलह सदस्य संघमें शामिल कर लिये गये। सदस्योंकी संख्या १९५८ के अन्त तक ८२ पर पहुंच गयी थी। "सभी शान्तिप्रिय राष्ट्र" संघके सदस्य हो सकते हैं। सदस्योंको घोषणा पत्रमें लिखित उत्तरदायित्व स्वीकार करने होते हैं और उनमें इन उत्तरदायित्वोंको निभानेकी सामर्थ्य और इच्छा होनी चाहिए। सुरक्षा परिषदकी सिफारिश पर आम सभाके दो तिहाई सदस्योंके समर्थन द्वारा नये सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघमें शामिल किये जाते हैं। और सुरक्षा परिषदमें पांच बड़ों (ब्रिटेन, राष्ट्रीय चीन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस) में से कोई भी अपने वीटो (veto) का उपयोग कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के छोटेसे इतिहासमें सोवियत रूस ने बहुत बार वीटोका उपयोग किया है जिसमें कई बार यह उपयोग नये सदस्योंके लिए जानेके सम्बन्धमें किया गया है। इस अधिकारका इतना अधिक दुरुपयोग किया गया है कि यह सामान्य धारणा बन गयी है कि इस स्थितिसे बचनेके लिए कोई उपाय निकालना

चाहिये। एक सम्भव हल यह है कि किसी भावी सदस्यकी सदस्यता पर वीटोका उपयोग केवल दो बार ही किया जाय। या नये सदस्य सुरक्षा परिषदकी सिफारिशके बिना ही आम सभाके दो तिहाई वोटोंसे शामिल किये जाय। राष्ट्र संघमें ऐसा ही होता था। यह बहुत आवश्यक है कि संयुक्त राष्ट्र संघका आधार यथासम्भव अधिकाधिक व्यापक हो और केवल वही राष्ट्र उससे बाहर रखे जाय जिनका संकल्प ही उसे नष्ट कर देना हो।

घोषणा पत्रके सिद्धान्तोंका बार-बार उल्लंघन करने पर किसी सदस्यको संघसे निकाला जा सकता है। आम सभाको अधिकार है कि सुरक्षा परिषद द्वारा जिन सदस्योंके विरुद्ध निषेधात्मक या आदेशमूलक कार्रवाईकी गयी हो उनकी सदस्यताको सुरक्षा परिषदकी सिफारिश पर दो तिहाई सदस्योंके वोटसे निलम्बित (suspend) कर दें। निलम्बित सदस्य राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघकी किसी भी शाखाकी बैठकमें शामिल नहीं हो सकता जिसका वह सदस्य है। वह किसी न्यासप्रदेश (trust) का शासन नहीं कर सकता। पर ऐसे राष्ट्रके जो नागरिक संयुक्त राष्ट्र संघके सचिवालयमें काम करते हैं वे काम करते रहते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघमें किसी सदस्यके संघसे अलग होनेकी कोई व्यवस्था नहीं है। राष्ट्र संघमें यह व्यवस्था थी। पर यदि कोई सदस्य राष्ट्र विशेष परिस्थितियोंके कारण संघसे अलग होना चाहता है तो उसे ऐसा करनेसे रोकनेका कोई इरादा नहीं है। अभी तक कोई सदस्य संघसे अलग नहीं हुआ है यद्यपि फ्रांस और दक्षिणी अफ्रीका ने बैठकोंमें से विरोध प्रस्थान किया है (staged a walk-out)।

संयुक्त राष्ट्र-संघके अंग (The Organs of the United Nations). जहां राष्ट्र संघ (League of Nations) के तीन प्रधान अंग थे—आम सभा, परिषद और सचिवालय—वहां संयुक्त राष्ट्र संघके निम्नलिखित ६ मुख्य अंग हैं—आमसभा (the General Assembly), सुरक्षा परिषद (The Security Council), आर्थिक तथा सामाजिक परिषद (The Economic and Social Council), न्यास-परिषद (The Trusteeship Council), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The International Court of Justice) और सचिवालय (the Secretariat)। आर्थिक और सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद आम सभाके अधीन काम करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयको संयुक्त राष्ट्र संघका एक अविभाज्य अंग बनाया गया है। संघके सारे प्रशासनीयकार्य सुरक्षा परिषद, आर्थिक और सामाजिक परिषद और न्याय परिषदके बीच बंटे हुए हैं। सुरक्षा परिषद आम सभासे अलग स्वतन्त्र रूपमें काम करती है।

आम-सभा (The General Assembly)

आम सभा ही संयुक्त संघका एक अकेला अंग है जिसमें संघके सभी सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधि रहते हैं। प्रत्येक सदस्यको पांच प्रतिनिधि रखनेका अधिकार है जिन

सबका एक वोट होता है। आम सभाकी बैठक नियमित रूपसे सालमें एक बार होती है। प्राय. यह बैठक सितम्बर के महीनेमें आरम्भ होती है। सुरक्षा परिषद या संघके सदस्योंके बहुमतकी प्रार्थना पर आम सभाकी विशेष बैठक बुलाई जा सकती है। आम सभा केवल विचार विमर्श करने वाली संस्था है। वह केवल सिफ़ारिश कर सकती है। शान्ति और सुरक्षाके मसले अकेले सुरक्षा परिषदको ही सौंपे गये हैं। जब सुरक्षा परिषद ऐसे मसलों पर विचार कर रही हो तब आम सभा उन सम्बन्धमें कोई सिफ़ारिश भी नहीं कर सकती। पर १९५० में स्वीकृत "शान्तिके लिए सगठित कार्रवाई" वाले प्रस्ताव {या अचेसन प्रस्ताव (Acheson महोदयके नाम पर)} के अनुसार यदि सुरक्षा परिषद किसी महत्वपूर्ण मसले पर कदम उठानेमें असफल होती है तो आम सभा उस मसले पर विचार कर सकती है और उचित सिफारिश कर सकती है। आम सभाका काम "विचार विमर्श करना, विवाद करना, और सिफारिश करना है पर कार्रवाई करना नहीं"। विचार विमर्श करनेके अधिकार के साथ-साथ आम सभाको कुछ प्रशासनीय या व्यवस्था सम्बन्धी, निर्वाचन सम्बन्धी और बजट सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। उसे घोषणा पत्रमें सशोधनोंके लिए कदम उठानेका भी अधिकार है।

राष्ट्र सघ और सयुक्त राष्ट्र सघकी आम सभाओंके बीच एक प्रधान अन्तर यह है कि राष्ट्र सघकी आम सभा ऐसे निर्णय कर सकती थी जो सदस्यों पर लागू होते थे, पर संयुक्त राष्ट्र सघकी आम सभा केवल सुझाव दे सकती है, यद्यपि उसके पीछे काफी नैतिक बल रहता है।

सयुक्त राष्ट्र सघकी आम सभामें मतदान की पद्धति राष्ट्र सघकी पद्धतिकी अपेक्षा सुधरी हुई है। राष्ट्र सघकी आम सभामें किसी निर्णयके लिए सर्वसम्मत मत आवश्यक था यानी उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्योंका सर्वसम्मत मत। पर सयुक्त राष्ट्र सघकी आम सभामें मौजूद और मतदान करने वाले सदस्योंके, दो तिहाई मतसे ही निर्णय हो सकते हैं। दो तिहाई मतोंसे निर्णय किये जाने वाले प्रश्नों में निम्नलिखित विषयों पर सुझाव देना भी शामिल हैं: अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम करना, परिषदोंके सदस्योंका निर्वाचन, सयुक्त राष्ट्र सघमें नये सदस्योंका लिया जाना, या सदस्योंका निलम्बन (suspension) या निष्कासन, न्यासधारी व्यवस्थाको कार्य विधिसे सम्बन्ध रखने वाले मसले, और बजट सम्बन्धी प्रश्न। अन्य मसलों पर उपस्थित और वोट देनेवाले सदस्योंके साधारण बहुमतसे ही निर्णय किये जाते हैं। आम सभाकी समितियोंमें निर्णय उपस्थित और वोट देने वाले सदस्योंके बहुमतसे किये जाते हैं।

राजनीतिके क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगकी वृद्धि करने और अन्तर्राष्ट्रीय विधिके निरन्तर विकास और सहिताबद्ध करनेके कार्यको उत्साहित करनेके लिए अध्ययन करने या कराने और अपने सुझाव रखने या सिफारिश करनेके व्यापक अधिकार आम सभाको दिये गये हैं। "निरस्त्रीकरण और शस्त्रास्त्रोंके नियमन

सम्बन्धी निर्देशक सिद्धान्तों" पर विचार करने और अपने सुझाव देनेका भी अधिकार आम सभाको है। चौदहवीं धाराके अन्तर्गत उसे अधिकार है कि 'ऐसी किसी परिस्थितिके शान्तिपूर्ण सुलझावके सम्बन्धमें उस परिस्थितिकी उत्पत्ति पर ध्यान न देते हुए निश्चित कदम उठानेकी सिफारिश करे जिसे वह राष्ट्रोंके मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों अथवा सामान्य कल्याणके लिए घातक या बाधक समझती हो।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके बारेमें आम सभा निम्नलिखित दो हालतोंमें सिफारिशें कर सकती है. (१) जब सुरक्षा परिषद अपनी उस जिम्मेदारीको पूरा न कर रही हो जो घोषण पत्र ने उसे सौंपी है। या (२) जब सुरक्षा परिषद आम सभासे सिफारिशें मांगे। धारा ११ (३) के अन्तर्गत आम सभा सुरक्षा परिषदका ध्यान उन परिस्थितियोंकी ओर दिला सकती है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाको खतरा हो। धारा १२ (२) में इस बातकी व्यवस्था है कि सयुक्त राष्ट्र सघके सदस्योंको उन मामलोंसे अवगत रखा जाया करे जो कार्रवाईके लिए सुरक्षा परिषदके विचाराधीन हों। सयुक्त राष्ट्र सघका महामत्री सुरक्षा परिषद(सम्भवतः सभी स्थायी सदस्य) की मजूरीसे आम सभाके प्रत्येक अधिवेशनको अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखनेसे सम्बन्धित उन मामलोंसे सूचित करेगा जिन पर सुरक्षा परिषद विचार कर रही हो। जब सुरक्षा परिषद ऐसे मामलो पर विचार करना समाप्त कर देती है, तो इसकी सूचना भी महामत्री आम सभाको देगा। और यदि आम सभाका अधिवेशन नहीं हो रहा हो तो सयुक्त राष्ट्र सघके सदस्योंको सूचित किया जायगा।

सगठनात्मक कार्योंके अन्तर्गत, आम सभा सुरक्षा परिषदके अस्थायी सदस्योंको दो वर्षोंके लिए चुनती है। वह आर्थिक और सामाजिक सदस्योंको चुनती है और न्यास-परिषद (Trusteeship Council) के निर्वाचनीय सदस्यों(elective members) को चुनती है। (बाकी सदस्य पदेन *ex-offices* होते हैं)। सुरक्षा परिषदकी *सिफारिश पर आम सभा सयुक्त राष्ट्र सघके महामत्रीको नियुक्त* करती है। सुरक्षा परिषदके साथ स्वतत्र रूपसे वोट देते हुए आम सभा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय न्यायाधीशोंको चुनती है।

आम सभा सघकी अन्य सस्थाओंसे उनकी रिपोर्ट लेती है और उन पर विचार करती है। महामत्रीकी वार्षिक रिपोर्ट आम सभामें पेश की जाती है। आम सभा समूचे सगठनके बजट पर विचार करती है, उसे स्वीकार करती है और सदस्योंके बीच व्ययका बटवारा करती है।

सुरक्षा परिषदको पन्द्रहवी और चौबीसवी धाराओंके अन्तर्गत आम सभाके सामने वार्षिक रिपोर्ट और विशेष रिपोर्ट पेश करनी होती हैं। यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ये रिपोर्टें कब पेशकी जानी चाहिए। ऐसा मालूम होता है कि सुरक्षा परिषद को इस सम्बन्धमें पर्याप्त स्वतत्रता है। आम सभा इन प्रतिवेदनों या रिपोर्टों को लेती है और उन पर "विचार" करती है। "विचार" करनेके सिलसिलेमें प्रतिवेदनोंमें

निहित समस्याओं पर अपने सुझाव देनेका अधिकार आम सभाको है। यद्यपि शान्ति और सुरक्षा कायम रखनेका उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद पर ही है पर आम सभाके जरिए से उसे ससारके जनमतके सामने यह जवाब देना होता है कि वह इस महत्त्व-पूर्ण कामको किस प्रकार कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके प्रतिवेदनों या रिपोर्टों के बारेमें कोई विशेष व्यवस्था नहीं की गयी है। संघकी विशिष्ट ससलोंसे सम्बन्धित सस्थाए आम सभाके सामान्य निर्देशनके अन्तर्गत स्वतत्र रूपमे काम करती है।

आम सभामे आशा की जाती है कि वह अपने अधिवेशनोंके बीचकी अवधिमें अन्तरिम सभा या लघु सभाके माध्यमसे काम करे। इस अन्तरिम या लघु सभामें प्रत्येक सदस्य राष्ट्रका एक प्रतिनिधि रहता है। अन्तरिम या लघु सभा एक दुर्बल सस्था है क्योंकि रूस इसका कट्टर विरोधी है। आम सभा कुछ महत्त्वपूर्ण स्थायी समितियोंके माध्यमसे काम करती है जैसे, प्रथम समिति जो राजनीतिक और सुरक्षा समितिके नामसे विख्यात है और द्वितीय समिति जो आर्थिक और वित्त समिति कहलाती है।

आम सभाकी प्रभावोत्पादकता (Effectiveness of the General Assembly). यद्यपि आम सभाका प्राथमिक कृत्य "विचार करना, विवाद करना और सिफारिश करना" है। फिर भी उसे किसी अर्थमें भी प्रभावहीन सस्था नही कहा जा सकता। उसका नैतिक अधिकार दिनोंदिन बढता ही गया है। सयुक्त राष्ट्र सघके जीवनके प्रथम दस वर्षोमें आम सभाकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि बढी है और सुरक्षा परिषदकी कुछ घटी है। एक लेखकने आम सभाको "ससारकी नगर सभा" कहा है। एक दूसरे समकालीन लेखकके अनुसार आम सभा "ससारकी स्पष्ट नैतिक चेतना" है। यह "आलोचना करनेवाली (criticizing), पर्यालोचन करने वाली (reviewing) और निर्देशन करनेवाली (overseeing) सस्था है; पर कार्य-पालक (executive) सस्था नहीं है"। सुरक्षाके ममलोंमें कार्यपालक सस्था, सुरक्षा परिषद और आम सभा केवल "विवाद और आलोचना करने वाली सस्था" है। किन्तु कल्याणकारी मामलोंमें वह सर्वोपरि है।

सुरक्षा-परिषद (The Security Council).

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षासे सम्बन्धित ममलो पर केवल सुरक्षा-परिषद ही विचार करती है। इन मामलेमें इस परिषदकी शक्तियां राष्ट्र सघकी परिषदकी शक्तियोंकी अपेक्षा अधिक और सुनिर्धारित है। इसमें ११ सदस्य होते है। यह संख्या निश्चित है (राष्ट्र संघकी परिषदमें ऐसा न था)। इन ११ सदस्योंमें से पाच सदस्य स्थायी होते है जो पाच बड़े राष्ट्रोंके प्रतिनिधि होते है। अस्थायी सदस्योंका चुनाव दो वर्षोंके लिए होता है और प्रति वर्ष तीन सदस्य चुने जाते है। ये सदस्य लगातार दुबारा नहीं चुने जा सकते है। भारत एक बार अस्थायी सदस्य रह चुका है। अस्थायी सदस्यों का चुनाव करते समय निम्नलिखित दो बातोंका ध्यान रखा जाता है: (१) चुने जाने

वाले सदस्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखनेमें और संघके अन्य
उद्देश्योंकी पूर्तिमें योगदान (२) न्यायसगत भौगोलिक विवरण। यह केवल
मामूली नियम हैं जिनकी अवहेलना भी आम सभा कर सकती है। और वास्तवमें
एकसे अधिक बार ऐसा किया जा चुका है। सन् १९५५ तक इस नियमकी अवहेलना
की गयी है। अस्थायी सदस्योंका चुनाव तो दो शक्तियोंके सघर्षका एक ममला बन
गया है।

विशेष परिस्थितिमें प्रासगिक (occasional) सदस्योंकी भी व्यवस्था है। ये
मदस्य सघके उन सदस्य राष्ट्रोंका प्रतिनिधित्व करनेके लिए आमन्त्रित किये जाते
हैं जिन्हें सुरक्षा परिषदमें प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है या जो सयुक्त राष्ट्र सघके सदस्य
नहीं हैं पर विचाराधीन मसलेसे सम्बन्धित हैं। ऐसे आमन्त्रित सदस्य सुरक्षा परिषदकी
बैठकोंमें भाग लेते हैं, पर वोट नहीं देते।

परिषदके हर सदस्यका एक वोट होता है। स्थायी सदस्य रखनेका कारण यह
है कि वे सुरक्षाकी गारण्टी देनेवाले सबसे अधिक महत्वपूर्ण राष्ट्र माने जाते हैं।
परिषदके स्थायी सदस्योंमें परिवर्तन १०८ वी और १०९ वी धाराके अनुसार सघके
घोषणा पत्रका सशोधन करके ही किया जा सकता है।

परिषदका सभापतित्व परिषदके सदस्योंमें अंग्रेजी वर्णमालाके अक्षरोंके
अनुसार सदस्य राष्ट्रोंके नामके क्रमसे प्रति मास बदलता रहता है। परिषद अपने कार्य
करनेकी नियमावली स्वय बनाती है और अपना काम पूरा करनेके लिए आवश्यक
उपसस्थाओंका निर्माण करती है। इस प्रकार परिषद के ११ सदस्योंकी दो अस्थायी
समितियां हैं (क) विशेषज्ञ समिति जो कार्य पद्धतिकी नियमावलीका काम देखती
है और (ख) नये सदस्योंके प्रवेशका काम देखनेवाली समिति।

वीटो (The Veto). सुरक्षा परिषदके हर स्थायी सदस्यको सभी तात्विक
प्रश्नों पर वीटो का अधिकार प्राप्त है। वोट न देनेका अर्थ निषेधात्मक वोट नहीं है
और न अनुपस्थितिका ही अर्थ निषेधात्मक वोट होता है। इस दूसरी बातका निर्णय
१९५५ में हुआ था जब रूस के प्रतिनिधि जेकब मलिक राष्ट्रवादी चीन के प्रतिनिधित्व-
हीन प्रतिनिधिके बराबर परिषदमें भाग लेनेके विरोधमें परिषदसे अनुपस्थित रहे थे।
बादमें जब वह सुरक्षा परिषदमें वापस आये और उन्होंने यह दावा किया कि उनकी
अनुपस्थितिमें की गयी परिषदकी कार्यवाही अवैध है तब परिषदने उनका दावा
अस्वीकार कर दिया। सभी तात्विक प्रश्नोंके बारेमें कोई निर्णय वैध होनेके लिए
उसके पक्षमें सात वोट होने चाहिए जिसमें पाच स्थायी सदस्योंके वोट भी हों।
कार्य-पद्धतिसे सम्बन्धित प्रश्नों पर किन्हीं सात सदस्योंके स्वीकारात्मक वोट पर्याप्त
होते हैं। यह भी एक तात्विक प्रश्न है कि कौन-सा प्रश्न तात्विक है और
कौन-सा कार्य-पद्धतिसे सम्बन्धित है।

शान्तिपूर्ण समझौता (Pacific Settlement). जब सुरक्षा परिषद
किसी झगड़ेके शान्तिपूर्ण समझौते पर विचार करती है तब झगड़ेके दोनों पक्ष परिषद

द्वारा कोई निश्चय करते समय वोट नहीं दे सकते। पर जब परिषद निषेधात्मक या आदेश मूलक कार्रवाई करने जा रही हो तब झगड़ेके पक्षोंके लिए वोट देनेकी मनाही नहीं है। संयुक्त राष्ट्रके सदस्य २४वीं धाराके अनुसार पहलेसे ही स्वीकार करते हैं कि वे सुरक्षा परिषद के निर्णयोंसे बाध्य होंगे, उनके प्रतिनिधित्वको मानेंगे, भले ही परिषदमें उनका प्रतिनिधि न हो। पर यदि कोई सदस्य परिषदके निर्णयके विरुद्ध आचरण करता है तो उसके साथ तुरन्त कोई कार्रवाईकी जानेकी सम्भावना नहीं रहती। क्योंकि कार्रवाई किये जानेके प्रश्न पर अनेक बाहरी मसले उठ खड़े होते हैं।

सुरक्षा परिषदका अधिवेशन हमेशा होता रहता है। दो बैठकोंके बीच १४ दिन से अधिकका अन्तर नहीं होना चाहिए। परिषदको इस बातके लिए तैयार रहना चाहिए कि जैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाको खतरा पैदा हो वैसे ही उसकी बैठक हो सके। राष्ट्र संघ (League of Nations) में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी कि उसकी परिषदके स्थायी सदस्य संघके प्रधान केन्द्र स्थानमें हमेशा मौजूद रहें जहां साधारणतया उसकी बैठकें होती थीं। फलतः महत्त्वपूर्ण अवसरों पर देर हो जाती थी। राष्ट्र संघकी परिषदकी भांति सुरक्षा परिषदको इस बातका अधिकार है कि संयुक्त राष्ट्रोंके केन्द्र स्थानसे भिन्न ऐसे स्थानों पर भी अपनी बैठक बुलाले जहां उसकी रायमें उचित हो।.

परिषदके प्रत्येक सदस्य राष्ट्रका प्रतिनिधित्व उस राष्ट्रकी सरकारका कोई सदस्य या विशेष रूपसे नियुक्त कोई प्रतिनिधि कर सकता है। दूसरी स्थितिमें स्थायी प्रतिनिधि परामर्शदाता या वैकल्पिक प्रतिनिधि हो जाता है।

एक ध्यान देनेकी बात यह है कि निःशस्त्रीकरण पर उतनी गम्भीरतासे विचार नहीं किया जा रहा है जितना राष्ट्र संघके अन्तर्गत किया जाता था। बड़े राष्ट्र इस मसलेको तब तक हाथमें नहीं लेना चाहते जब तक शान्ति और सुरक्षा निश्चित न हो जाय। शस्त्रास्त्रोंके नियमनके लिए योजना बनानेका उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषदको सौंप दिया गया है और इस सम्बन्धमें सेनाधिकारी समिति (Military Staff Committee) सुरक्षा परिषदकी सहायता करती है। सारी योजनाएं संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्योंके सामने उनके विचारार्थ पेश की जाती हैं।

एक दूसरेकी क्षेत्रीय अखण्डता और राजनीतिक स्वाधीनताकी रक्षा करनेका कोई स्पष्ट उत्तरदायित्व संघके सदस्यों पर नहीं रखा गया है। पर सदस्योंसे कहा गया है कि वे किसी राज्यकी क्षेत्रीय अखण्डता और राजनीतिक स्वाधीनताके विरुद्ध न तो शक्तिका उपयोग करनेकी धमकी दें और न शक्तिका उपयोग करें (धारा २ पैरा ४)। शान्ति भंग या किसी प्रकारकी आक्रमक कार्रवाई किये जाने पर सुरक्षा परिषद उचित कदम उठा सकती है।

यदि किसी स्थिति या झगड़ेसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिको खतरा पैदा हो जाय तो उसकी ओर संयुक्त राष्ट्र संघका ध्यान आकर्षित करनेके निम्नलिखित चार तरीके हैं—

(१) राष्ट्र संघकी भांति संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणा पत्रके अन्तर्गत सदस्योंको इस बातका अधिकार है कि वे सुरक्षा परिषद अथवा आम सभाका ध्यान ऐसी किसी भी स्थिति या ऐसे झगड़ेकी ओर आकर्षित करें जिससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष या झगड़ा उत्पन्न हो जानेकी आशंका हो। (२) सुरक्षा परिषद स्वयं किसी भी स्थिति या झगड़ेकी जांच यह जाननेके लिए कर सकती है कि "क्या इस स्थिति या झगड़ेका बना रहना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके कायम रखनेमें घातक होगा? (धारा ३४)। (३) आम सभा ऐसी स्थितियोंकी ओर सुरक्षा परिषदका ध्यान आकर्षित कर सकती है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके लिये खतरा पैदा होनेकी आशंका हो (धारा ११, पैरा ३)। (४) महामंत्री सुरक्षा परिषदका ध्यान किसी भी ऐसी स्थितिकी ओर आकर्षित कर सकता है जो उसकी रायमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखनेमें बाधा डालनेवाली हो। इस अन्तिम बातसे यह स्पष्ट है कि महामंत्री एक प्रतिष्ठित प्रधान क्लर्क मात्र नहीं है। उसे स्वयं कदम उठानेका अधिकार है (he is endowed with considerable initiative)। ट्रिग्वे ली (Trygve Lie) ने समय-समय पर इस अधिकारका अविवेकन उपयोग किया था। पर उनके उत्तराधिकारी हैमरशोल्ड (Dag Hammarskjold) ने ऐसा नहीं किया।

धारा ३५ (२) के अन्तर्गत कोई भी राष्ट्र, संयुक्त राष्ट्र संघका सदस्य न होते हुए भी अपनेसे सम्बन्धित किसी झगड़ेको संयुक्त राष्ट्रके सामने रख सकता है, बशर्ते कि वह मामलेको संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणा पत्रके अनुसार शान्तिपूर्वक तय करनेको राजी हो।

अन्तर्राष्ट्रीय अथवा सामूहिक आत्मरक्षा (International or collective self-defence) के मामलोंके अतिरिक्त अन्य सब मामलोंमें युद्ध न करनेका उत्तरदायित्व सदस्यों पर पूरा-पूरा है (धारा ५१)। यदि शान्तिके लिए कोई खतरा हो या शान्ति भंग हो गयी हो या किसी प्रकारकी आक्रामक कार्रवाई की गयी हो—तो सुरक्षा परिषद इसके विरुद्ध निषेधात्मक या आदेशात्मक कदम उठा सकती है। सुरक्षा परिषद शान्तिपूर्ण समझौतेके लिए निम्नलिखित तरीके अपना सकती है (१) झगड़ेसे सम्बन्धित पक्ष पंचायत, न्यायालय, आपसी बातचीत, जांच, मध्यस्थों तथा समझौते द्वारा अथवा प्रादेशिक प्रतिनिधि संस्थाओं और प्रबन्धों (regional agencies and arrangements) द्वारा अपने झगड़ेका निपटारा कर सकते हैं। (२) जब झगड़ेसे सम्बन्धित पक्ष स्वयं झगड़ा निपटानेमें असफल रहे और झगड़ेके बने रहनेसे शान्ति और सुरक्षाको खतरा हो तब सुरक्षा परिषद उन पक्षोंको ऊपर लिखे तरीकोंसे अपना झगड़ा निपटानेको कह सकती है। (३) झगड़ेकी किसी भी स्थितिमें किसी भी समय सुरक्षा परिषद झगड़ा हल करनेके लिए उचित तरीकोंकी सिफारिश कर सकती है। पर परिषदकी इस सिफारिशसे झगड़ेका कोई पक्ष विधित. बाध्य नहीं है, भले ही इस सिफारिशका अधिकतम् राजनीतिक या नैतिक महत्त्व हो। वैधिक

झगड़े (जिन्हें पहले न्यायसाध्य कहा जाता था) आमतौर पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने पेश किये जाते हैं। इन सबसे यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणापत्र के अनुसार शान्तिपूर्ण समझौतेकी पद्धति राष्ट्र संघकी बनाई गयी पद्धतिकी अपेक्षा अधिक लचीली है।

आदेशात्मक कार्रवाई (Enforcement Action). (१) सुरक्षा परिषद ३९वीं धाराके अनुसार निर्णय करती है कि शान्तिके लिए खतरा है या नहीं, शान्ति भंग हुई है या नहीं और आक्रामक कार्य किया गया है या नहीं। एक बार यह निर्णय कर लेने पर कि शान्तिके लिए खतरा है, शान्ति भंग हुई है या आक्रामक कार्य किया गया है, सुरक्षा परिषद तुरन्त कार्रवाई कर सकती है। सुरक्षा परिषदका निश्चय सारे संयुक्त राष्ट्र संघकी ओरसे होता है। इसलिए संघके सभी सदस्य आवश्यकतानुसार सुरक्षा परिषदकी सहायता करनेको बाध्य हैं (धारा ४८)। संघके वैयक्तिक सदस्योंको फिर निश्चय करना नहीं रह जाता। (२) सुरक्षा परिषद परिस्थितिको बिगड़नेसे बचानेके लिए अस्थायी या अन्तरिम कार्रवाईका निश्चय कर सकती है। (३) सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकारकी अनुशास्तियों (sanctions) के सम्बन्धमें संघके सदस्य सुरक्षा परिषदके निर्णयोंसे बाध्य हैं। (४) राष्ट्र संघ (League of Nations) के पास कोई सशस्त्र-सेना नहीं थी। संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणा पत्रमें सेनाके उपयोगके लिए अग्रिम योजना बनानेकी व्यवस्था की गयी है। ४५वीं धाराके अनुसार सदस्योंको "सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय आदेशात्मक कार्रवाईके लिए तुरन्त मिल सकनेवाली राष्ट्रीय हवाई सेनाकी टुकड़ियां तैयार रखनी चाहिए।" शान्तिके लिए सामूहिक कार्रवाईवाले प्रस्तावमें सामूहिक कार्रवाई समितिकी व्यवस्थाके द्वारा इस योजनाको और अधिक सबल बना दिया गया है। कमी यह है कि कोई सैनिक कार्रवाई उस समय तक नहीं हो सकती जब तक सभी पांचों बड़े राष्ट्र सहमत न हों। संयुक्त राष्ट्र संघ छोटे राष्ट्रोंके विरुद्ध प्रभावपूर्ण निरोधात्मक (preventive) और आदेशात्मक (enforcement) कार्रवाई कर सकता है।

सुरक्षा परिषद निम्नलिखित दो प्रकारकी आदेशात्मक कार्रवाई कर सकती है: (१) ऐसी कार्रवाई जिसमें सेनाका उपयोग आवश्यक न हो यानी आर्थिक और कूटनीतिक कार्रवाई जैसे आर्थिक सम्बन्धों और रेल, तार, रेडियो, डाक, समुद्री हवाई और अन्य संचार सूत्रों व परिवहन (transport) का पूर्ण या आंशिक स्थगन और कूटनीतिक सम्बन्धोंकी समाप्ति। (२) संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्योंकी जल, थल और नभ सेना द्वारा समुद्री, स्थलीय और हवाई कार्रवाई जिनमें प्रदर्शन, घेरा डालना और अन्य कार्रवाइयां शामिल हैं। परिषद इस बातका निश्चय करती है कि कार्रवाई सब सदस्यों द्वारा की जानी चाहिए या कुछ सदस्यों द्वारा और जो कार्रवाईकी जाय वह इन उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओंके माध्यमसे की जाय जिनके वे सदस्य हैं, या स्वतन्त्र रूपसे सीधी कार्रवाई होनी चाहिए।

सुरक्षा परिषद द्वारा सचालित आदेशात्मक कार्रवाई किये जानेके फलस्वरूप

यदि किसी राष्ट्रके सम्मुख विशिष्ट आर्थिक समस्याएं उठ खड़ी होती हैं तो वह राष्ट्र चाहे वह संयुक्त राष्ट्र संघका सदस्य हो या न हो, उन समस्याओंके हल के सम्बन्धमें सुरक्षा परिषदसे परामर्श कर सकता है।

क्षेत्रीय व्यवस्थाएं (Regional Arrangements). सैनफ्रांसिस्को में पश्चिमी गोलार्द्धके राष्ट्रोंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि क्षेत्रीय व्यवस्थाओं और संस्थाओंकी वैधता स्वीकार की जाय। इसका परिणाम घोषणापत्रकी ५२वीं धारा है जिसमें क्षेत्रीय संस्थाओं और संयुक्त राष्ट्रके बीच एक निश्चित सम्बन्धकी व्यवस्था की गयी है। ये संस्थाएं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखनेमें सहायता देनेके लिए हैं। इन व्यवस्थाओं या संस्थाओंको और उनके कार्य कलापोंको संयुक्त राष्ट्र संघके उद्देश्य और सिद्धान्तोंके अनुकूल होना चाहिए। इन संस्थाओंका उद्देश्य स्थानीय झगड़ोंको निपटाना है। जहां उचित होता है वहां सुरक्षा परिषद अपनी आदेशात्मक कार्रवाईमें इन संस्थाओं या व्यवस्थाओंसे काम ले सकती है। पर भूत-पूर्व शत्रु राष्ट्रोंसे सम्बन्धित मामलोंके अतिरिक्त अन्य किसी भी मामलेमें सुरक्षा परिषद द्वारा अधिकार पाये बिना किसी प्रकारकी आदेशात्मक कार्रवाई नहीं की जा सकती। संयुक्त राष्ट्र संघको इस बातकी सूचना बराबर दी जानी चाहिए कि क्या कार्रवाई की जा रही है या की जायगी। क्षेत्रीय व्यवस्थाओं और संस्थाओं पर सुरक्षा परिषदके प्रभावपूर्ण नियन्त्रणके लिए यह आवश्यक समझा जाता है।

प्रधान पश्चिमी राष्ट्रों और उनके पिछलग्गू पूर्वी राष्ट्रोंका दावा है कि नाटो (NATO—North Atlantic Treaty Organization), सीटो (SEATO—South East Asia Treaty Organization) और बगदाद सन्धि क्षेत्रीय व्यवस्थाओं के दायरेमें आती हैं। पर शेष संसार इस पर विश्वास नहीं करता। असलियत तो यह है कि सैनिक होते हुए भी रक्षात्मक कहे जानेवाले ये क्षेत्रीय गठबन्धन शान्तिके लिए आज सबसे बड़े खतरे हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणापत्रके अनुसार "स्थानीय झगड़े" पहले इन क्षेत्रीय संस्थाओंके सामने पेश किये जाने चाहिए और उसके बाद सुरक्षा परिषदके सामने। सुरक्षा परिषद भी फिर इन्हीं संस्थाओंको झगड़े तय करनेका आदेश दे सकती है। यह व्यवस्था पहलेकी उस व्यवस्थाके विरुद्ध है जिसमें कहा गया था कि सुरक्षा परिषद का काम केवल कार्य पद्धति सम्बन्धी सुझाव देना है। यदि क्षेत्रीय संस्था झगड़ा नहीं निपटा पाती तो सुरक्षा परिषद, अपने अधिकारका उपयोग करती है।[1]

घरेलू या आन्तरिक मामले (Domestic Matters) घरेलू या आन्तरिक मामलोंके सम्बन्धमें संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणापत्रकी व्यवस्था राष्ट्र संघकी व्यवस्था

---

[1] घोषणा पत्रकी कुछ टिप्पणियां निम्नलिखित पुस्तकसे ली गयी हैं. Goodrich & Hambro : Charter of the United Nations : Commentary and Documents.

की अपेक्षा अधिक व्यापक है। दूसरी धाराके सातवे पैराके अनुसार सयुक्त राष्ट्र संघ "ऐसे मामलोंमें हस्तक्षेप नहीं करेगा जो तात्विक रूपसे किसी राष्ट्रके घरेलू या आन्तरिक क्षेत्रमें आते हैं। और न सदस्योंसे माग करेगा कि वे ऐसे मामलोंको घोषणा-पत्रके अन्तर्गत हल करनेके लिए सयुक्त राष्ट्र सघके सामने पेश करे।

सुरक्षा परिषदके अन्य कर्तव्य (Other Functions of the Security Council) सामरिक महत्त्व (strategic) के न्यस्त प्रदेशों (trust areas) की देखरेख रखना सुरक्षा परिषदका काम है। सुरक्षा परिषदके स्थायी सदस्य न्यास परिषद (Trusteeship Council) के सदस्य पदेन (*ipso facto*) होते हैं। सुरक्षा परिषद और आम सभा साथ-साथ, किन्तु स्वतंत्र रूपसे, वोट देकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके न्यायाधीशोंका निर्वाचन करती हैं। सुरक्षा परिषद आम सभाको वार्षिक और विशेष रिपोर्टें भेजती है। सामरिक महत्त्वके क्षेत्रोंके सम्बन्धमें सुरक्षा परिषद आर्थिक और सामाजिक परिषद और न्यास परिषदकी भी सहायताकी प्रार्थना कर सकती है। किसी भी वैदिक मामलेमें सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयसे परामर्श ले सकती है।

सैनिक कार्रवाई समिति (Military Staff Committee), मान्य शस्त्रास्त्र समिति (Committee for Conventional Armaments), तदर्थ (*ad hoc*) समितियां, स्थायी (standing) समिति या आयोग सुरक्षा परिषदको अपनी रिपोर्टें भेजनेवाली सहाय सस्थाएं हैं। मान्य-शस्त्रास्त्र आयोग शस्त्रास्त्रों और सेनाओंके सामान्य नियमन और उन्हें घटानेके सम्बन्धमें अपने सुझाव या प्रस्ताव सुरक्षा परिषदको भेजता है। जनवरी सन् १९४६ में आम सभा द्वारा स्थापित अणुशक्ति आयोग सुरक्षा परिषदको अपनी रिपोर्ट भेजता है और उसीसे शान्ति और सुरक्षाके कायम रखनेसे सम्बन्धित प्रश्नों पर निर्देश प्राप्त करता है।

अधिकार पत्र या घोषणा पत्रमें संशोधन (Amendments of the Charter) (धारा १०८ और १०९). अधिकार पत्र या घोषणा-पत्रमें संशोधन आम सभा द्वारा अथवा सयुक्त राष्ट्र सघके सदस्योंके आम सम्मेलन द्वारा किये जा सकते हैं। ये संशोधन तभी लागू होते हैं जब वे आम सभाके कुल सदस्योंके (केवल उपस्थित और वोट देने वाले सदस्योंके नहीं) दो-तिहाई द्वारा स्वीकार कर लिए जायं और सघके दो-तिहाई सदस्य-राष्ट्र जिनमें सुरक्षा परिषदके सभी स्थायी सदस्य भी शामिल हैं, उन्हें मान लें।

अधिकार पत्र या घोषणा-पत्रमें संशोधन करनेका दूसरा तरीका यह है कि आम सम्मेलनमें आम सभाके दो-तिहाई सदस्य और सुरक्षा परिषदके कोई सात सदस्य संशोधनको स्वीकार कर लें। यदि आम सभाके दसवें वार्षिक अधिवेशनके पहले ऐसा सम्मेलन नहीं बुलाया जाता है तो आम सभाके दसवें वार्षिक अधिवेशनकी कार्यावलिमें अधिवेशन बुलानेका प्रस्ताव अपने आप शामिल कर दिया जाता है। यदि आम सभाका बहुमत और सुरक्षा परिषदके सात सदस्य सम्मेलन बुलानेके पक्षमें वोट देने

हैं तो सम्मेलन बुलाया जाता है।
हर संशोधनके लिए, चाहे वह पहले इसमें पास किया गया हो और चाहे दूसरे
ढगसे, यह आवश्यक होता है कि सुरक्षा परिषदके सभी स्थायी राष्ट्रों सहित सबके
दो-तिहाई सदस्य, उसे स्वीकार करें।

आर्थिक और सामाजिक परिषद
(The Economic and Social Council)

यदि सुरक्षा परिषदका लक्ष्य ससारको भयसे मुक्त करना है तो आर्थिक और सामाजिक
परिषदका लक्ष्य ससारको अभावसे मुक्त करना है। किसी ने बिल्कुल ठीक कहा है
कि "यह कानूनी सुरक्षा परिषदकी छोटी जुड़वा बहिन है"।
घोषणा-पत्रकी ५५वी धारामें कहा गया है कि सयुक्त राष्ट्र सघके निम्न-
लिखित कार्य होंगे :
(१) जीवनका स्तर ऊचा करना और भरपूर रोजी और आर्थिक व सामाजिक
उत्थानकी परिस्थितिया उत्पन्न करना;
(२) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा अन्य सम्बन्धित
समस्याओंको हल करना और अन्तर्राष्ट्रीय सास्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी मामलो
में सहयोगकी वृद्धि करना;
(३) जाति, लिंग, भाषा और धर्मके भेदभावोंसे रहित सबके लिए मानव
अधिकारों और मौलिक स्वाधीनताओंकी प्रतिष्ठा करना और पालन करवाना।
इनमें से अन्तिम तीसरी बात नयी है, यद्यपि राष्ट्र सघने भी विशिष्ट "अल्प-
सख्यक समझौतोंके अन्तर्गत" राष्ट्रीय अल्पसख्यक समुदायोंके अधिकारोंकी रक्षाके
लिए बहुत कुछ किया था। राष्ट्र संघके अधिकाश आयोग और उसकी अधिकाश
समितिया परिषदके प्रति उत्तरदायी थीं। इसके विपरीत आर्थिक और सामाजिक
परिषद केवल आम सभाके ही अधीन काम करती है।
आर्थिक और सामाजिक परिषदमें १८ सदस्य होते हैं। ये सदस्य आम सभा
द्वारा तीन सालके लिए चुने जाते हैं। हर साल ६ सदस्योका चुनाव होता है। अवधि
पूरी होनेके बाद सदस्य दुबारा चुने जा सकते हैं। इस परिषदमें सुरक्षा परिषदकी
भाति स्थायी सदस्योंकी कोई व्यवस्था नही है और न भौगोलिक विविधताका या
औद्योगिक तथा पिछडे राष्ट्रों या साम्राज्य सम्पन्न और उपनिवेशहीन राष्ट्रोंके बीच
सन्तुलनका कोई विचार रखा गया है। फिर भी व्यवहारमें पाच बडे राष्ट्र हमेशा
चुने गये हैं और ये राष्ट्र परिषदके स्थायी सदस्यसे हो गये हैं। "प्रतिनिधित्वके
भौगोलिक सन्तुलन" के सिद्धान्तका भी व्यवहारमें पालन किया जाता है।
आम सभाकी भाति इस परिषदमें सभी सदस्योंका पद समान है। प्रत्येक
सदस्य राष्ट्रको एक सदस्य और एक वोटका अधिकार है। कोई भी प्रस्ताव साधारण
बहुमतसे पास हो सकता है। साधारणतया परिषदकी बैठक वर्षमें २ बार सयुक्त

राष्ट्र मघके स्थानमें होती है। यदि परिषद चाहे तो उसकी बैठक दूसरी जगह भी हो सकती है। परिषद स्वय अपनी कार्य-पद्धतिके नियम बनाती है और अपने सभापति तथा उपसभापतिका चुनाव करती है। परिषद केवल सिफारिशें कर सकती है, वास्तविक कार्यपालक शक्ति उसके पास नही है।

जब परिषद किसी ऐसे मसले पर विचार करती है जिसका सम्बन्ध विशेष रूप से किसी गैर सदस्य राष्ट्रसे होता है तब उस राष्ट्रको बैठकमें भाग लेनेके लिए आमंत्रित किया जाता है। वह राष्ट्र विचार विमर्शमें भाग लेता है पर वोट नहीं दे सकता।

परिषद अपनी या अपने आयोगोंकी बैठकोंमें विशिष्ट समितियो या विशेषज्ञ समितियोंके प्रतिनिधियोंके भाग लेनेकी भी व्यवस्था कर सकती है जो विचार-विमर्शमें भाग तो ले सकते है पर वोट नही दे सकते। विशिष्ट समितियोंकी कार्रवाइयोंमें परिषदका प्रतिनिधि भी भाग ले सकता है।

परिषद गैर-सरकारी सगठनों या संस्थाओंके पर्यवेक्षकोंको भी परामर्शदाताओ के रूपमें अपनी बैठकोमे बुलानेकी व्यवस्था कर सकती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषदके कुछ विशेष कृत्य ये है

(१) अपनेसे सम्बन्धित सभी विषयोका-आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और शिक्षा तथा अन्य सम्बन्धित मसलोका स्वय अध्ययन करना या कराना और उन मसलो पर रिपोर्ट तैयार करना या कराना।

(२) आम सभाको या सदस्य राष्ट्रोंकी सरकारोको या विशिष्ट समितियोको अपनी सिफारिशें या सुझाव भेजना।

(३) समझौतोंके मसविदे आम सभाको भेजना। आम सभा द्वारा पास हो जाने पर ये मसविदे सदस्य राष्ट्रोंके पास उनकी स्वीकृति और कार्यान्वयके लिए भेजे जाते है।

(४) अपने कृत्योंको पूरा करनेके लिए आयोगोका निर्माण करना।

(५) अपने अधिकार-क्षेत्रके मसलोंके सम्बन्धमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनोंको बुलाना।

सुरक्षा परिषदको सूचनाए देना और निवेदन किये जाने पर अन्य प्रकारसे उसकी सहायता करना, परिषदके विशिष्ट कृत्य है। न्यास परिषद (Trusteeship Council) को इस परिषदसे और उसकी विशिष्ट समितियोंसे व्यावसायिक सहायता (professional assistance) पानेका अधिकार है।

परिषद अपना काम विविध आयोगों, तदर्थ (*ad hoc*) समितियो, स्थायी समितियों और विशिष्ट समितियोंके माध्यमसे करती है। ये सभी परिषदको अपनी रिपोर्ट भेजती है। आयोग दो प्रकारके होते है —व्यावसायिक (functional) और क्षेत्रीय (regional)। प्रथम कोटिके आयोग है—आर्थिक और रोजगार सम्बन्धी, मानव अधिकार सम्बन्धी, सामाजिक, महिलाओकी स्थिति सम्बन्धी, नशीली दवाओ सम्बन्धी, मुद्रा सम्बन्धी और आबादी सम्बन्धी। इनमें से कुछके अधीन

उप-आयोग भी हैं। इन आयोगों और उप-आयोगोंमें लाभ यह है कि ये अपने-अपने विषयकी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर निरन्तर विचार करते रहते हैं। ये आयोग और उप-आयोग अपने-अपने विषयमें संयुक्त राष्ट्र संघके सचिवालयके कार्यमें बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखते हैं। ये उन समस्याओं और प्रस्तावोंका अध्ययन करते हैं जो कि परिषद इनके पास भेजती है और फिर अपनी विस्तृत रिपोर्ट और सुझाव परिषद को भेजते हैं। इन आयोगोंको स्पष्ट आदेश है कि सम्बन्धित समस्यों पर विशेषज्ञ समितियां जितना काम कर चुकी हैं, ये आयोग उसके आगे काम करें और उन कार्योंको न करें जो विशेषज्ञ समितियां कर चुकी हैं।

व्यावसायिक पक्षमें निम्नलिखित तीन उप-आयोग हैं (१) सांख्यिकीय विश्लेषण (statistical sampling); (२) भेदभाव निरोध और अल्पसंख्यकोंका संरक्षण (prevention of descrimination and protection of minorities) और (३) संवाद या सूचना स्वातंत्र्य और समाचार-पत्र स्वातन्त्र्य (freedom of information and of the press) सम्बन्धी।

स्थायी समितियोंमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्राविधिक सहायता समिति (Technical Assistance Committee) है। परिषद सदस्य राष्ट्रोंको आयोगोंके सदस्य निर्वाचित करती है। इसके लिए परिषदका सदस्य होना जरूरी नहीं है। इस प्रकार एक सन्तुलित प्रतिनिधित्व हो जाता है।

क्षेत्रीय आयोगोंको बनानेका कारण यह है कि उनसे विविध आर्थिक समस्याओं का अध्ययन और निपटारा आसान हो जाता है। इन आयोगोंकी सदस्यता सम्बन्धित क्षेत्रके उन राष्ट्रोंको दी जाती है जो संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य हैं और उन सदस्यों को भी जिनके विशिष्ट स्वार्थ उस क्षेत्रमें हों, उदाहरणार्थ अमेरिका और ब्रिटेन। सम्बन्धित क्षेत्रके वे राष्ट्र या क्षेत्र जो संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य नहीं हैं, साथी सदस्योंके रूपमें निर्वाचित किये जा सकते हैं।

अब तक इस प्रकारके तीन आयोग स्थापित किये गये हैं। योरोपके लिए सन् १९४७ में आर्थिक आयोग (ECE—Economic Commission for Europe) बनाया गया था जिसमें १८ सदस्य हैं। इसके अधीन निम्नलिखित विषयोंके बारेमें बनी समितियां हैं कोयला, विद्युत् शक्ति, उद्योग और कच्चा माल, देशी परिवहन, जनशक्ति (manpower), इस्पात, इमारती लकड़ी (timber), व्यवसायका विकास और कृषि सम्बन्धी समस्याएं।

सन् १९४७ में ही एशिया और सुदूर पूर्वके लिए भी आर्थिक आयोगकी स्थापना की गयी थी। (ECAFE—The Economic Commission for Asia and the Far East)। १९५१ के अन्त तक इसके १४ सदस्य और ११ साथी सदस्य थे। इसके अधीन अनेक सहाय संस्थाएं हैं। उनमें से एक बाढ़-नियंत्रण समिति भी है। इस आयोग ने अपने सदस्योंके लिए बहुत अधिक संख्यामें आंकड़े तथा अन्य सामग्री उपलब्ध कर दी है।

तीसरा क्षेत्रीय आयोग लैटिन अमेरिका (टिप्पणी दक्षिणी और मध्य अमेरिका के वे प्रदेश लैटिन अमेरिका कहलाते हैं जहाके निवासियोंकी भाषा स्पेनिश, पोर्चुगीज या फ्रेंच है) के लिए आर्थिक आयोग है जो सन् १९४८ में स्थापित किया गया था। इसके २८ सदस्य और ४ तदर्थ (*ad hoc*) समितिया है।

मध्य पूर्वके लिए एक आर्थिक आयोग स्थापित करनेका प्रस्ताव कार्य रूपमें नही लाया जा सका।

क्षेत्रीय आयोगोंको अधिकार है कि वे अपने क्षेत्रकी सरकारोंसे सीधे बातें करें, नीतियां सुझायें, और विशिष्ट सेवाएं करें। आयोग परिषदके पास अपनी रिपोर्ट भेजते हैं जिनके आधार पर उनके कार्योंका पर्यालोचन (review) होता है।

निम्नलिखित चार स्थायी समितिया है. अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओंसे बातचीत करनेवाली समिति, गैर-सरकारी सगठनो या सस्थाओंसे परामर्शकी व्यवस्था करने वाली समिति; कार्यावलि समिति और बैठकोंके कार्यक्रमकी अन्तरिम समिति।

निम्नलिखित विशिष्ट सस्थाएं हैं—स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड, निरीक्षक समिति, अन्तर्राष्ट्रीय बाल सकट कोष (UNICEF—International Children's Emergency Fund) और सयुक्त राष्ट्र सघ बाल चन्दा-फण्ड।

परिषदके कार्यका सीमित स्वरूप
(Limited Nature of the Work of the Council)

आर्थिक और सामाजिक परिषद पूरे ससारके सर्वाधिक आवश्यक या महत्त्वपूर्ण आर्थिक प्रश्नो पर विचार करनेका प्रयास नही करती; उन्हें सुलझानेकी बात तो दूर है। अमेरिकाके एक परराष्ट्र सचिव ने अपने इस कथनमें इस परिषदके और सम्पूर्ण राष्ट्र सघके कार्यके सीमित स्वरूपको स्पष्ट कर दिया है—"एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन आर्थिक और सामाजिक समस्याओंके हलमें सहायता दे सकता है पर सम्प्रभु राष्ट्रोंके कार्यों और अधिकारोंमें दखल नही दे सकता। वह वैयक्तिक सदस्य राष्ट्रोंको कोई कार्य करनेका आदेश नही दे सकता। राष्ट्रोंके आन्तरिक मामलो तक उसकी पहुच नही होनी चाहिए। उसके साधन और उसकी कार्य पद्धतिया हैं· अध्ययन, विचार विमर्श, रिपोर्ट और सुझाव"। मूलत परिषदको बहुत सकुचित सीमाओंके भीतर काम करनेके लिए बनाया गया था, पर सन् १९४५ से अब तक जो गम्भीर आर्थिक और सामाजिक समस्याएं संसारको पीड़ित करती आ रही हैं उन्होने परिषद के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत बना दिया है।

प्रन्यास परिषद (The Trusteeship Council)

न्यस्त-प्रदेश और स्वशासनहीन क्षेत्र (Trust Territories and Non-Self-Governing Areas). सयुक्त राष्ट्र सघके वे सदस्य जो स्वशासनहीन

उप-आयोग भी हैं। इन आयोगों और उप-आयोगोंमें लाभ यह है कि ये अपने-अपने विषयकी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर निरन्तर विचार करते रहते हैं। ये आयोग और उप-आयोग अपने-अपने विषयमें संयुक्त राष्ट्र संघके सचिवालयके कार्यमें बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखते हैं। ये उन समस्याओं और प्रस्तावोंका अध्ययन करते हैं जो कि परिषद इनके पास भेजती है और फिर अपनी विस्तृत रिपोर्ट और सुझाव परिषद को भेजते हैं। इन आयोगोंको स्पष्ट आदेश है कि सम्बन्धित मसलों पर विशेषज्ञ समितियाँ जितना काम कर चुकी हैं, ये आयोग उसके आगे काम करें और उन कार्योंको न करें जो विशेषज्ञ समितियाँ कर चुकी हैं।

व्यावसायिक पक्षमें निम्नलिखित तीन उप-आयोग हैं (१) सांख्यिकीय विश्लेषण (statistical sampling), (२) भेदभाव निरोध और अल्पसंख्यकोंका संरक्षण (prevention of descrimination and protection of minorities) और (३) संवाद या सूचना स्वातंत्र्य और समाचार-पत्र स्वातंत्र्य (freedom of information and of the press) सम्बन्धी।

स्थायी समितियोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्राविधिक सहायता समिति (Technical Assistance Committee) है। परिषद सदस्य राष्ट्रोंको आयोगोंके सदस्य निर्वाचित करती है। इसके लिए परिषदका सदस्य होना जरूरी नहीं है। इस प्रकार एक सन्तुलित प्रतिनिधित्व हो जाता है।

क्षेत्रीय आयोगोंको बनानेका कारण यह है कि उनसे विविध आर्थिक समस्याओं का अध्ययन और निपटारा आसान हो जाता है। इन आयोगोंकी सदस्यता सम्बन्धित क्षेत्रके उन राष्ट्रोंको दी जाती है जो संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य हैं और उन सदस्यों को भी जिनके विशिष्ट स्वार्थ उस क्षेत्रमें हो, उदाहरणार्थ अमेरिका और ब्रिटेन सम्बन्धित क्षेत्रके वे राष्ट्र या क्षेत्र जो संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य नहीं हैं, साथी सदस्योंके रूपमें निर्वाचित किये जा सकते हैं।

अब तक इस प्रकारके तीन आयोग स्थापित किये गये हैं। योरोपके लिए सन् १९४७ में आर्थिक आयोग (ECE—Economic Commission for Europe) बनाया गया था जिसमें १८ सदस्य हैं। इसके अधीन निम्नलिखित विषयोंके बारेमें बनी समितियाँ हैं: कोयला, विद्युत् शक्ति, उद्योग और कच्चा माल, देशी परिवहन, जनशक्ति (manpower), इस्पात, इमारती लकड़ी (timber), व्यवसायका विकास और कृषि सम्बन्धी समस्याएं।

सन् १९४७ में ही एशिया और सुदूर पूर्वके लिए भी आर्थिक आयोगकी स्थापना की गयी थी। (ECAFE—The Economic Commission for Asia and the Far East)। १९५१ के अन्त तक इसके १४ सदस्य और ११ साथी सदस्य थे। इसके अधीन अनेक सहाय संस्थाएं हैं। उनमें से एक बाढ़-नियंत्रण समिति भी है। इस आयोग ने अपने सदस्योंके लिए बहुत अधिक संख्यामें आंकड़े तथा अन्य सामग्री उपलब्ध कर दी है।

तीसरा क्षेत्रीय आयोग लैटिन अमेरिका (टिप्पणी दक्षिणी और मध्य अमेरिका के वे प्रदेश लैटिन अमेरिका कहलाते हैं जहाके निवासियोंकी भाषा स्पेनिश, पोर्चुगीज या फ्रेंच है) के लिए आर्थिक आयोग है जो सन् १९४८ में स्थापित किया गया था। इसके २४ सदस्य और ४ तदर्थ (*ad hoc*) समितिया है।

मध्य पूर्वके लिए एक आर्थिक आयोग स्थापित करनेका प्रस्ताव कार्य रूपमें नहीं लाया जा सका।

क्षेत्रीय आयोगोंको अधिकार है कि वे अपने क्षेत्रकी सरकारोंसे सीधे बातें करें, नीतियां सुझायें, और विशिष्ट सेवाएं करें। आयोग परिषदके पास अपनी रिपोर्ट भेजते हैं जिनके आधार पर उनके कार्योंका पर्यालोचन (review) होता है।

निम्नलिखित चार स्थायी समितिया है- अन्तर्राजकीय संस्थाओंसे बातचीत करनेवाली समिति; गैर-सरकारी सगठनों या संस्थाओंसे परामर्शकी व्यवस्था करनेवाली समिति; कार्यावलि समिति और बैठकोंके कार्यक्रमकी अन्तरिम समिति।

निम्नलिखित विशिष्ट संस्थाएं हैं—स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड, निरीक्षक समिति, अन्तर्राष्ट्रीय बाल सकट कोष (UNICEF—International Children's Emergency Fund) और सयुक्त राष्ट्र सघ बाल चन्दा-फ़ण्ड।

परिषदके कार्यका सीमित स्वरूप
(Limited Nature of the Work of the Council)

आर्थिक और सामाजिक परिषद पूरे ससारके सर्वाधिक आवश्यक या महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्नों पर विचार करनेका प्रयास नहीं करती, उन्हें सुलझानेकी बात तो दूर है। अमेरिकाके एक परराष्ट्र सचिव ने अपने इस कथनमें इस परिषदके और सम्पूर्ण राष्ट्र सघके कार्यके सीमित स्वरूपको स्पष्ट कर दिया है—"एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन आर्थिक और सामाजिक समस्याओंके हलमें सहायता दे सकता है पर सम्प्रभु राष्ट्रोंके कार्यों और अधिकारोंमें दखल नहीं दे सकता। वह वैयक्तिक सदस्य राष्ट्रोंको कोई कार्य करनेका आदेश नहीं दे सकता। राष्ट्रोंके आन्तरिक मामलों तक उसकी पहुच नहीं होनी चाहिए। उसके साधन और उसकी कार्य पद्धतिया हैं: अध्ययन, विचार विमर्श, रिपोर्ट और सुझाव"। मूलत परिषदको बहुत सकुचित सीमाओंके भीतर काम करनेके लिए बनाया गया था, पर सन् १९४५ से अब तक जो गम्भीर आर्थिक और सामाजिक समस्याएं ससारको पीडित करती आ रही हैं उन्होंने परिषद के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत बना दिया है।

प्रन्यास परिषद (The Trusteeship Council)

न्यस्त-प्रदेश और स्वशासनहीन क्षेत्र (Trust Territories and Non-Self-Governing Areas). सयुक्त राष्ट्र सघके वे सदस्य जो स्वशासनहीन

क्षेत्रोंका शासन करते हैं, ऐसे क्षेत्र चाहे अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्थाके अन्तर्गत हो या न हो, इस दायित्वको स्वीकार करते हैं कि इन क्षेत्रोंका शासन इस प्रकार करेंगे कि इन क्षेत्रोंके निवासियोंका अधिकसे अधिक कल्याण हो। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए ये सदस्य निम्नलिखित कार्य करते हैं:

(१) निवासियोंकी संस्कृतियोंको किसी प्रकारकी हानि पहुँचाये बिना उनकी राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति करना;

(२) उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करना और उनके साथ किसी प्रकारका दुर्व्यवहार न होने देना;

(३) स्वशासनका विकास करना और जनताकी स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं की विकासशील उन्नतिमें उनकी सहायता करना;

(४) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाकी वृद्धि करना;

(५) विकासकी रचनात्मक कार्रवाईको बढ़ाना, गवेषणा कार्य (research) को प्रोत्साहित करना, और सम्बन्धित प्रदेशोंकी आर्थिक सामाजिक और वैज्ञानिक उन्नति के लिए एक दूसरेके साथ और अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्ट संस्थाओं या विशेषज्ञ समितियोंके साथ सहयोग करना, और

(६) न्यास व्यवस्थासे बाहर जो देश स्वशासनसे वंचित हैं उनके बारेमें ऐसे समाचारों और आंकड़ोंके अतिरिक्त जो कि सुरक्षा या विधिकी विवशताके कारण नहीं बताये जा सकते उनकी आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थितियोंके आंकड़े और अन्य प्राविधिक सूचनाएं नियमित रूपसे महामन्त्रीके पास भेजना।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-व्यवस्था **(International Trusteeship System)** यह व्यवस्था उन प्रदेशों पर लागू होती है जो न्यासधारी देशों और संयुक्त राष्ट्र संघके बीच किये गये वैयक्तिक करारोंके अनुसार इस व्यवस्था के अधीन रखे गये हैं। इस प्रकारसे शासित होने वाले क्षेत्रोंको न्यास क्षेत्र (Trust Territories) कहा जाता है। यह व्यवस्था उन क्षेत्रों पर लागू नहीं होती जो संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य हो गये हैं। इस व्यवस्थाके निम्नलिखित चार उद्देश्य हैं

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाकी वृद्धि करना,

(२) जनताका राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी उत्थान करना और स्वशासन अथवा स्वाधीनताकी दिशामें उनका निरन्तर क्रमिक विकास करना,

(३) मौलिक मानव अधिकारोंका सम्मान बढ़ाना और यह मानना कि संसार के सभी देश अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर करते) हैं;

(४) संयुक्त राष्ट्र संघके सभी सदस्य राष्ट्रोंके बीच समानताके व्यवहारको तथा उन देशोंके नागरिकोंके बीच सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक मामलों

तथा न्यायाधिकरणमें उस हद तक समानताका व्यवहार सुरक्षित रखना जिस हद तक प्रन्यास व्यवस्थाके अन्य उद्देश्योंकी सिद्धिसे उसका मेल बैठता हो।

प्रन्यास परिषद (The Trusteeship Council)

इस परिषदके सदस्य निम्नलिखित होते हैं

(१) सुरक्षा परिषदके स्थायी सदस्य, चाहे वे न्यास क्षेत्रोंका प्रशासन करते हों या नहीं;

(२) संयुक्त राष्ट्र संघके वे सदस्य राष्ट्र जो न्यास क्षेत्रोंका प्रशासन करते हैं,

(३) वे सदस्य राष्ट्र जो आम सभा द्वारा न्यासधारी सदस्यों और अन्यास-धारी सदस्योंमें समानता बनाये रखनेके लिए चुने जाते हैं। इस परिषदकी बैठकें प्रतिवर्ष दो बार होती हैं। सदस्योंके बहुमतकी प्रार्थना पर इस परिषदके विशेष अधिवेशन होते हैं। उपस्थित और वोट देनेवाले सदस्योंके बहुमतसे निर्णय किये जाते हैं।

परिषदके कृत्य और अधिकार (Functions and Powers of the Council).

यह परिषद आम सभाकी अधिकार-सत्ताके अधीन ऐसे न्यस्त प्रदेशोंके प्रति संयुक्त राष्ट्र संघके कृत्योंको पूरा करती है जिन्हे सामरिक महत्त्वका नहीं माना गया है। सामरिक महत्त्वके क्षेत्रोंके प्रति संयुक्त राष्ट्र संघके कृत्योंको सुरक्षा परिषद पूरा करती है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी समस्याओंमें सुरक्षा परिषद प्रन्यास परिषदकी सहायता लेती है।

प्रन्यास परिषद शासन करने वाले राष्ट्रोंकी रिपोर्टों पर विचार करती है, और आये हुए प्रार्थना पत्रों पर इन्ही राष्ट्रोंके परामर्शसे विचार करती है, समय-समय पर शासन करने वाले राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत अवसरों पर न्यस्त प्रदेशोंमें भेजनेके लिए पर्यवेक्षक मण्डलोंकी व्यवस्था करती है; और प्रन्यास करारोंकी धाराओंके अनुकूल और भी कदम उठाती है; प्रत्येक न्यस्त प्रदेशके निवासियोंकी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी उन्नतिके सम्बन्धमें एक प्रश्नावली तैयार करती है जिसके आधार पर शासन करने वाली शक्तियां अपनी वार्षिक रिपोर्ट भेजती हैं जिन पर प्रन्यास-परिषद विचार करती है।

विशिष्ट-समितियां (Specialised Agencies)

घोषणा पत्र (charter) की ५७वी धारामें अन्तर्राजकीय करारोंके आधार पर स्थापित विभिन्न विशिष्ट समितियोंकी व्यवस्थाकी गयी है। इन समितियोंको, उनके मौलिक अधिकार पत्रके अनुसार, आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य

तथा, अन्य सम्बन्धित क्षेत्रोंमें, व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व दिये गये है। ये समितियां अधिकार पत्रकी ६३वीं धाराके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघसे सम्बन्धित की गयी हैं।

आर्थिक और सामाजिक परिषद इन ऐजेन्सियोंके साथ वार्ता कर उन शर्तों को निश्चित करती है जिनके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघसे उनका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। पर इन कार्योंके लिए आम सभाकी मंजूरी आवश्यक होती है। परिषद इन समितियोंके साथ परामर्श करके और आम सभा तथा राष्ट्र संघके सदस्योंके पास अपनी सिफारिशें भेज करके इन विशिष्ट समितियोंके कार्योंमें समन्वय (co-ordinate) स्थापित करनेका प्रयत्न करती है।

निम्नलिखित विशिष्ट समितियां या संगठन स्थापित हो चुके हैं या स्थापित हो रहे हैं:

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संगठन (The International Labour Organisation—I.L.O)।

(२) खाद्य और कृषि-संगठन (The Food and Agriculture Organisation—F.A.O)।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (The International Monetary Fund—I.M.F)।

(४) पुनर्निर्माण और विकासके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (The International Bank for Reconstruction and Development)।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (The International Civil Aviation Organisation)।

(६) संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन (The United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation—UNESCO)।

(७) विश्व स्वास्थ्य संगठन (The World Health Organisation—WHO)।

(८) *अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन* (The International Refugee Organisation)।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (The International Trade Organisation)।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र परामर्श संगठन (The International Maritime Consultative Organisation)।

(११) विश्व डाक संघ (The Universal Postal Union)।

(१२) अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ (The International Telecommunications Union)।

(१३) विश्व अन्तरिक्ष-विज्ञान संघ (The World Meteorological Organisation)।

कुछ गैर-सरकारी संगठनोंको भी इतनी मान्यता दी गयी है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद उनसे विमर्श कर सकती है। ये संगठन निम्नलिखित तीन श्रेणियोंके हैं.

(क) वे संगठन जिन्हें परिषदके अधिकांश कार्योंमें मौलिक रुचि है और जो उन क्षेत्रोंके आर्थिक और सामाजिक जीवनसे घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित हैं जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरणके लिए अमेरिकाका श्रमिक संघ।

(ख) वे संगठन जिनमें एक विशेष क्षमता है पर जो परिषदके कुछ थोड़े से कामोंसे ही मुख्यतया सम्बन्धित हैं। ऐसे संगठनोंके कुछ उदाहरण ये हैं—अखिल भारतीय महिला संघ, अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिके लिए कारनेगी स्थायी दानकोष (Carnegie Endowment for International Peace), अन्तर्राष्ट्रीय समस्या चर्च आयोग (Commission of the Churches on International Affairs), अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस समिति, लोकतन्त्रीय युवक विश्व संघ (World Federation of Democratic Youth) और विश्व यहूदी संगठन (World Jewish Congress)।

(ग) वे संगठन जो मुख्यतया जनमतके विकास और सूचनाओंके प्रचारसे सम्बन्धित हैं। इस प्रकारके संगठनोंके उदाहरण हैं—माध्यमिक अध्यापक विश्व संघ और अन्तर्राष्ट्रीय रोटेरी क्लब (Rotary International)।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) कई अर्थों में राष्ट्र संघ (League of Nations) के अन्तर्गत स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायकी स्थायी अदालत (Permanent of International Justice) सा ही है। स्थायी अदालत राष्ट्र संघकी एक स्वायत्त संस्था थी, और वर्तमान न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघकी प्रधान संस्था है। यह न्यायालय अपने परिनियम (statute) के अनुसार काम करता है। यह परिनियम स्थायी अदालतके परिनियमके आधार पर बनाया गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघके सभी सदस्योंको इस न्यायालय तक पहुंचनेका स्वतः सिद्ध अधिकार है। सुरक्षा परिषदकी सिफारिश पर जिन शर्तोंको आम सभा स्वीकृत कर चुकी है उन शर्तोंके अनुसार वे राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयका उपयोग कर सकते हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य नहीं हैं। केवल राष्ट्र ही न्यायालयका उपयोग कर सकते हैं, व्यक्ति नहीं।

किसी राज्यको न्यायालयके सम्मुख आनेके लिए इसलिए बाध्य नहीं किया जा सकता है कि उसके विरुद्ध मुकदमा दायर किया गया है। प्रतिवादी (defendent) राज्यकी स्वीकृतिसे ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मुकदमेकी सुनवाई कर सकता है। राष्ट्रों पर न्यायालयका अनिवार्य अधिकार नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य अपने मामले न्यायालयके सामने रखनेके लिए बाध्य नहीं है। किसी सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय सन्धिसे सम्बन्धित राष्ट्र यह वचन दे सकते हैं कि सन्धिकी व्याख्यामें यदि कोई झगड़ा उठ खड़ा होगा तो वह झगड़ा न्यायालयके सामने ही पेश किया जायगा।

वैकल्पिक धारा पर हस्ताक्षर करके राष्ट्र इस बातका वचन दे सकते हैं कि कुछ विशेष प्रकारके मामलोंमें वे न्यायालयका उपयोग करेंगे। इसमें वे सब मामले आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध निम्नलिखित बातोंसे होता है:

(क) सन्धिकी धाराओंका अर्थ,

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय विधिके क्षेत्रसे सम्बन्धित सभी ममले;

(ग) किसी ऐसे तथ्यकी स्थिति, जिसे यदि सिद्ध किया जा सके तो उससे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व या कर्त्तव्य भंग होता हो, और

(घ) किसी अन्तर्राष्ट्रीय करार या दायित्वके भंग किये जाने पर दिये जाने वाले हरजानेका स्वरूप या परिमाण।

केवल अराजनीतिक झगड़ोंके लिए भी कुल ६४ सदस्योंमें से केवल ३४ सदस्यों ने ही न्यायालयकी अनिवार्य अधिकार-सत्ता स्वीकार की है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके अधिकार क्षेत्रमें वे सब मामले आते हैं जिनसे सम्बन्धित दोनों पक्ष उन्हें न्यायालयके सम्मुख लाना चाहें और वे मामले भी जिनके सम्बन्धमें संयुक्त राष्ट्रोंके घोषणा पत्रमें, चालू सन्धियों या समझौतोंमें, ऐसी व्यवस्था की गयी है। चूंकि इस न्यायालयके परिनियम स्थायी अदालतके परिनियमके आधार पर बने हैं, इसलिए सन्धियों या समझौतोंके जिन मामलोंको स्थायी अदालतमें पेश करनेकी व्यवस्था थी वे मामले अब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके क्षेत्रमें आते हैं। यह जरूरी नहीं है कि संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्योंके बीच होने वाले झगड़े हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके सम्मुख लाये ही जाय। वे ऐसे अन्य न्यायालयोंके सामने भी पेश किये जा सकते हैं जो पहलेसे ही मौजूद हों या भविष्यमें स्थापित किये जाय।

न्यायालयकी एक विशेषता यह है कि सुरक्षा परिषदकी भांति इसे भी राष्ट्रोंको बाध्य करने वाले निर्णय करनेकी शक्ति प्राप्त है। कुछ विशेष परिस्थितियोंमें न्याया-लयके बाध्य निर्णयों पर सुरक्षा परिषद पुनर्विचार कर सकती है। एक दूसरी विशेषता यह है कि न्यायालयके गठन और उसकी कार्य-प्रणाली पर भी बड़े राष्ट्रोंके संघर्ष का कुछ हद तक असर पड़ चुका है।

न्यायालयके निर्णयोंका आधार
(Basis of the Court's Decision)

मुकदमोंके फैसले करते समय न्यायालय निम्नलिखित बातोंका उपयोग करता है:

(१) अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (conventions), सामान्य या विशिष्ट दोनों प्रकारकी,

(२) अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज (customs),

(३) विधिके वे सामान्य सिद्धान्त, जिनको सभ्य राष्ट्र स्वीकार करते हैं,

(४) न्यायिक निर्णय और विविध देशोंके उच्च योग्यता प्राप्त राजनीतिक प्रवीणोंके लेख या उपदेश।

यदि झगड़ेमें सम्बन्धित पक्ष स्वीकार कर लेते हैं तो न्यायालय झगड़ेका निर्णय करनेमें सम्बन्धित राष्ट्रोंमें प्रचलित न्याय और सामान्य कल्याणके सिद्धान्तों का उपयोग कर सकता है।

न्यायालयके निर्णय (Decisions of the Court). संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणा पत्रके अनुसार प्रत्येक सदस्य स्वीकार करता है कि जिस किसी मामलेमें वह वादी या प्रतिवादी होगा उसमें किये गये न्यायालयके निर्णयोंको वह मानेगा। यदि झगड़ेसे सम्बन्धित एक पक्ष न्यायालयके निर्णयके अनुसार अपने दायित्वको पूरा करनेके लिए तैयार है और दूसरा पक्ष तैयार नहीं है तो पहला पक्ष इस स्थितिको सुरक्षा परिषदके सामने रख सकता है। इस हालतमें सुरक्षा परिषद न्यायालयके निर्णयको कार्यान्वित करानेके लिए कार्रवाई कर सकती है या सुझाव दे सकती है। न्यायालय यह भी संकेत कर सकता है कि झगड़ेके किसी भी पक्षके अधिकारोंकी रक्षाके लिए क्या अन्तर्कालीन कार्रवाईकी जानी चाहिए। न्यायालयके निर्णय केवल निर्णीत झगड़ेके सम्बन्धमें ही तथा वादी-प्रतिवादी पक्षों पर ही लागू होते हैं। न्यायालयका निर्णय अन्तिम होता है।

परामर्शमूलक सम्मतियां (Advisory Opinions). प्रार्थना किये जाने पर न्यायालय वैधिक प्रश्नोंके सम्बन्धमें परामर्शमूलक सम्मतियां भी देता है। आम सभा और सुरक्षा परिषद सीधे न्यायालयसे ऐसी प्रार्थना कर सकते हैं। संयुक्त राष्ट्रों की दूसरी संस्थाओं और विशिष्ट समितियोंके लिए जरूरी होता है कि अपने कार्य-क्षेत्र के भीतर आने वाले वैधिक मसलों पर विचार करनेके लिए आम सभासे अधिकार प्राप्त करें।

सचिवालय (The Secretariat)

महामंत्री (Secretary-General) की नियुक्ति सुरक्षा परिषदकी सिफ़ारिश पर आम सभा करती है। आम सभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक और सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषदकी बैठकोंमें वह इसी हैसियतसे काम करता है। सुरक्षा परिषद,

आम सभा तथा आम सभाके विशेष अधिवेशन बुलानेके सम्बन्धमें, स्वशासन वंचित प्रदेशोंका शासन करने वाले देशोंसे रिपोर्ट प्राप्त करने, व सन्धियोंके पंजीबद्ध करने (registration) और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके न्यायाधीशोंके चुनावके सम्बन्ध में महामंत्रीको अनेक कर्तव्य पूरे करने होते हैं। उसके विशेष अधिकारोंमें से एक यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके लिए जिस किसी भी समस्याको घातक समझता हो उसकी सूचना सुरक्षा परिषद को दे सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र (charter) के अनुसार संगठनके कार्य-कलापके बारेमें आम सभाके सम्मुख वार्षिक रिपोर्ट पेश करना उसके लिए आवश्यक है। प्रथम महामंत्रीकी नियुक्ति पांच वर्षके लिए हुई थी। अवधि समाप्त होने पर वही महामंत्री फिरसे चुना जा सकता है।

कर्मचारी वर्ग (The Staff). महामंत्री महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार सचिवालयके कर्मचारियोंकी नियुक्ति करता है। कुशलता, योग्यता और चारित्रिक दृढ़ताके उच्चतम मान-दण्डोंके आधार पर नियुक्तियां की जाती हैं। नियुक्तियां करते समय न्यायोचित भौगोलिक वितरणका भी ध्यान रखा जाता है। महामंत्री या कोई भी अन्य कर्मचारी राष्ट्र संघके अतिरिक्त किसी भी अन्य अधिकार-सत्तासे या किसी सरकारसे किसी प्रकारका भी निर्देश प्राप्त नहीं कर सकता है और न उसे मान सकता है। राष्ट्र संघके सदस्य राष्ट्र भी यह जिम्मेदारी लेते हैं कि वे महामंत्री और उसके कर्मचारियोंके अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूपका सम्मान करेंगे और अपने कर्त्तव्यों और दायित्वोंकी पूर्तिमें उन्हें किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं करेंगे। पर व्यवहारमें ऐसा हमेशा नहीं किया गया। कुछ वर्ष पहले जब साम्यवाद विरोधी भावनाएं बहुत तीव्र हो गयी थी तब अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ और उस के महामंत्री पर दबाव डाल कर संयुक्त राष्ट्रमें काम करने वाले उन अमेरिकी नागरिकोंको वहांसे हटवाया जिन पर साम्यवादके समर्थक होने का सन्देह था।

घोषणा पत्र पर पुनर्विचार
(The Revision of the Charter)

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणापत्रमें और उसके कार्यमें अनेक त्रुटियां पाई गयी हैं, फिर भी अभी तक घोषणापत्र पर पुनर्विचार करनेका कोई इरादा नहीं दिखाई देता; क्योंकि जब तक वीटोका अधिकार है और दो गुटोंका संघर्ष चालू है तब तक पांच बड़ोंमें से किसी न किसी राष्ट्र द्वारा उसका उपयोग किया जाना भी निश्चित ही है। फिर भी बौद्धिक दृष्टिसे कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं जिनके अनुसार भविष्य में परिवर्तन होना चाहिए।

(१) वीटो का नियंत्रण; विशेष रूपसे जहां तक नये सदस्योंको लिये जानेका सम्बन्ध है।

(२) आन्तरिक या घरेलू अधिकार क्षेत्र (domestic jurisdiction) की

अधिक स्पष्ट व्याख्या ताकि दक्षिणी अफ्रीका जैसे देश अश्वेत जातिके लोगोंके प्रति असभ्य एवं समयके विपरीत व्यवहारके बारेमें संयुक्त राष्ट्र संघ की निरन्तर अवहेलना यह कह कर न कर सकें कि यह उनका घरेलू मामला है।

(३) संसारके समस्त उपनिवेशोंको न्यास व्यवस्थाके अन्तर्गत ले आना और निश्चित समयके भीतर उपनिवेशोंकी समाप्ति।

(४) निश्शस्त्रीकरण पर अधिक ध्यान दिया जाना और एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दल या शान्ति दलके निर्माणके लिए प्रभावपूर्ण कदम उठाना। जैसे-जैसे इस अन्तर्राष्ट्रीय दलकी वृद्धि हो वैसे-वैसे राष्ट्रीय सेनाओंको अनुपातमें कम करवाते जाना।

(५) धारा ५१ और ५२ की अधिक स्पष्ट परिभाषा करना ताकि भौगोलिक दृष्टिसे पृथक राष्ट्र किसी सैनिक सन्धि द्वारा एक गुटमें न लाये जा सकें जैसा नाटो और सीटोने किया है।

(६) इस बातकी अधिक स्पष्ट व्याख्या करना कि आत्मरक्षाके लिए शक्ति उपयोगका क्या अर्थ है।

(७) परमाण्विक (atomic) और हाइड्रोजन बमों और अन्य ऐसे ही घातक अस्त्रोंके विस्फोटका परीक्षण जारी रख सकनेके किसी भी राष्ट्रके अधिकार पर कड़ी रोक लगाना।

(८) शान्तिके लिए अणुशक्तिके उपयोग पर अधिक ध्यान देना।

(९) घोषणापत्रके रूपमें पहलेसे ही मान्य मानवी अधिकारोंको लागू करनेकी पर्याप्त व्यवस्था।

(१०) विश्व नागरिकता और एक सीमित विश्व सरकारकी स्थापनाके लिए सक्रिय कदम उठाना।

कार्य-सम्पादन[1] (Operation)

संयुक्त राष्ट्र संघके कार्योंका मूल्यांकन करते समय हमें अत्यधिक आशावाद और निराशावाद दोनोंसे बचना चाहिए। निराशावादी कहते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघको तो "असंयुक्त राष्ट्र संघ" कहा जाना चाहिए। यदि हम संयुक्त राष्ट्र संघ को इस बात से परखें कि सुरक्षा परिषदमें वीटोका उपयोग कितनी बार मनमाने तौर पर किया गया है इस बातसे कि बड़े-बड़े राष्ट्रोंने संघको दो शक्तिशाली गुटोंका अखाड़ा बनाने के कितने प्रयत्न किये हैं या इस बातसे कि कितनी बार संयुक्त राष्ट्र संघ की अवहेलना की गयी है तो यह आलोचना सही है। इस अन्तिम बातका एक जीता-जागता

---

[1] इस विभागकी अधिकांश सामग्री संयुक्त राष्ट्र संघके विभिन्न प्रकाशनोंसे ली गयी है।

उदाहरण यह है अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघके दायरेके बाहर, पिछड़े राष्ट्रों को काफी आर्थिक सहायता दी। अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आज भी उलझे पड़े हैं। उनमें से कुछ ये हैं—(१) संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा बार-बार न्याय समझौते पर जोर दिये जाने और विश्व न्यायालय द्वारा आमेलन (incorporation) के विरुद्ध फ़ैसला दिये जानेके बावजूद दक्षिणी अफ्रीका द्वारा, दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकाको अपने राज्य में मिला लिया जाना; (२) अणुबमों और हाइड्रोजन बमोंके नियंत्रणके सम्बन्धमें समझौतेका अभाव और कुछ शक्तियों द्वारा एक पक्षीय निश्चय कि जहां वे चाहेंगे और जब चाहेंगे तब इन अस्त्रोंका परीक्षण करेंगे, (३) नये सदस्योंके लिये जाने का व्यवस्थित और प्रतिष्ठापूर्ण मार्ग निकालनेमें असफलता और (४) वीटो का दुरुपयोग।

ऊपर बतायी गयी कमियोंके बावजूद अनेक राजनीतिक कठिनाइयोंको हल करनेमें सुरक्षा परिषद और आम सभाके माध्यमसे बहुतसे महत्त्वपूर्ण किये गये हैं। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि संयुक्त राष्ट्र संघका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम आर्थिक और सामाजिक परिषदके क्षेत्रमें किया गया है, विशेषकर विशिष्ट समितियों के माध्यमसे। न्यास परिषद और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयने अभी तक बहुत उल्लेखनीय कार्य किये हैं।

राजनीतिक और सुरक्षा-क्षेत्र
(The Political and Security Fields)

(१) **ईरान.** इस क्षेत्रमें सबसे पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न ईरान से सम्बन्ध रखता था। १९ जनवरी, १९४६ को ईरान ने सुरक्षा परिषदको सूचना दी कि सोवियत रूस उसके अजरबैजान प्रान्तमें घुस आया है और अपनी सेना वापस बुलानेसे इन्कार कर रहा है। रूसी प्रतिनिधि ग्रोमिको ने इस विषय पर विचार प्रकट कर देनेसे इन्कार किया। वह इस बात पर अड़ गये कि यह मसला सुरक्षा परिषदकी कार्यावलि में भी नहीं आना चाहिए। पर परिषदने इस मामलेको अपनी कार्यावलिमें रखा और कुछ ही समय बाद रूस ने अपनी फौजोंको वापस बुला लिया। इस मामले का उल्लेख बहुधा सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्तकी अद्वितीय विजयके रूपमें किया गया है।

(२) **सीरिया और लेबनान.** इन देशोंकी जनता अपने यहां अंग्रेजी और फ़्रांसीसी सेनाओंके बने रहनेके बहुत विरुद्ध थी। सुरक्षा परिषद ने एक नरम प्रस्ताव स्वीकार किया कि इन देशोंसे ब्रिटेन और फ्रांस अपनी सेनाएं धीरे-धीरे वापस बुला लें। पर सोवियत रूस ने इस नरमीके विरुद्ध वीटोका उपयोग किया। परिणाम यह निकला कि ब्रिटेन और फ्रांस को अपनी-अपनी सेनाओंको तेजीसे वापस बुला लेना पड़ा और सीरिया तथा लेबनान के गणतंत्रों का निर्माण हुआ।

(३) हिन्देशिया (Indonesia) का प्रश्न. युद्ध समाप्त होने पर डच लोगों ने डच ईस्ट इण्डीज पर फिरसे अपना पंजा जमाना चाहा। इस प्रदेशमें अंग्रेजी सेना की मौजूदगीमें लाभ उठा कर वे फिर नृशंस तरीकोंसे सत्तारूढ होनेकी कोशिश करने लगे। ३० जुलाई, १९४७ को भारत और आस्ट्रेलिया ने सुरक्षा परिषदका ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि हिन्देशिया गणतंत्र और हालैण्ड के बीच युद्ध छिड़ गया है। दोनों पक्षोंके बीच शान्तिपूर्ण समझौता करानेके लिए परिषदने तत्काल एक सद्भावना समितिकी स्थापना की। पारस्परिक सन्देह दूर करनेमें काफी समय लगा और अन्तमें प्रसिद्ध रेन्वील (Renville) करार पर १७ जनवरी, १९४८ को हस्ताक्षर हुए। युद्ध बन्द हुआ और राजनीतिक वार्ता आरम्भ हुई।

पर कुछ ही महीनों बाद युद्ध फिर आरम्भ हो गया। दोनों पक्ष एक दूसरे पर करारों की शर्तोंको पूरा न करनेका आरोप लगा रहे थे। वार्ता चल ही रही थी कि डच लोगोंने करार को ठुकरा कर हिन्देशिया की राष्ट्रीय सरकार पर जोर-शोर से हमला बोल दिया।

सुरक्षा परिषदका एक आपाती (emergency) अधिवेशन तुरन्त बुलाया गया। परिषदने दोनों दलोंको युद्ध बन्द करनेका आदेश दिया और डच सरकार से कहा कि वह हिन्देशिया गणतन्त्रके राष्ट्रपति तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओंको जिन्हें वह बन्दी बनाये था, छोड़ दे। डच सरकार कुछ समय तक संयुक्त राष्ट्र संघके प्रस्तावों की अवहेलना करती रही पर हेग में एक गोलमेज परिषद करनेके लिए वह २ मार्च १९४९ को तैयार हो गयी। लम्बी खींच-तान के बाद डच सरकारने जावा और सुमात्रा से अपनी फौजें वापस बुला लीं और १९४९ में २३ अगस्त से २ नवम्बर तक हेग में सम्मेलन हुआ। सम्मेलनमें दोनों पक्षोंके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघके हिन्देशियाई आयोगने भी भाग लिया। सम्मेलन के फलस्वरूप हिन्देशियाके संयुक्त गणतन्त्रको पूर्ण सम्प्रभुता मिल गयी। हेग सम्मेलनके फलस्वरूप जो करार हुआ उस में समानता और पारस्परिक सहयोगके आधार पर डच और हिन्देशिया के भावी सम्बन्धोंकी भी व्यवस्थाकी गयी। सम्प्रभुताका वास्तविक हस्तान्तरण २७ दिसम्बर, १९४९ को हुआ और २९ सितम्बर, १९५० को हिन्देशिया को संयुक्त राष्ट्र संघका सदस्य बनाया गया।

(४) स्पेन का प्रश्न. पोलैण्ड ने अप्रैल, १९४६ में सुरक्षा परिषदसे यह माग की कि स्पेन की तत्कालीन सरकारको अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिके लिए खतरा घोषित किया जाय क्योंकि यह सरकार फासीवाद सरकार है और पोट्सडैम प्रस्तावमें भी यही बात कही गयी थी जिसका समर्थन पुनः सैनफ्रान्सिसको सम्मेलनमें किया गया था। इस पर पश्चिमी राष्ट्रोंने पोलैण्ड के प्रस्तावमें यह संशोधन रखा कि "खतरा" के स्थान पर "सम्भावित सकट" शब्दका उपयोग किया जाय। परिषदने पश्चिमी राष्ट्रोंका संशोधन स्वीकार कर स्पेन की तत्कालीन सरकारको शान्तिके सम्भावित संकट घोषित किया। इस पर रूस ने वीटो का उपयोग किया और तब यह प्रश्न आमसभा

भेज दिया गया। आमसभा ने प्रस्ताव पास किया कि फैन्को की सरकार संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी सहाय समितियों या सम्थाओंकी सदस्यतासे वंचित कर दी जाय।

पर बाद में, जब शीत युद्ध (cold war) बढ़ा और अमेरिका को फ्रैन्को के स्पेनकी सद्भावनाकी आवश्यकता जान पड़ी तब सन् १९५० के अधिवेशनमें आम सभाको इस बातके लिए राजी किया गया कि वह अपनी पिछले निर्णयको बदल दे जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्यों द्वारा स्पेनमें अपने-अपने राजदूत वापस बुला लेने और संयुक्त राष्ट्र संघकी सदस्यतामें स्पेन को वंचित रखनेकी सिफारिश की गयी थी। इसके बाद तो १९५५ में सामूहिक करारके परिणामस्वरूप स्पेनको संयुक्त राष्ट्र संघका सदस्य भी बना लिया गया। स्वतंत्रता और लोकतंत्रके प्रेमियों को इस फैसले पर अफसोस हुआ।

(५) दक्षिणी अफ्रीका में भारतीय वंशजोंके साथ व्यवहार. सन् १९४६ में आम सभाके पहले अधिवेशनमें ही भारतीय प्रतिनिधिने दक्षिणी अफ्रीका के एशियाई भूमि व्यवस्था और प्रतिनिधित्व कानून (१९४६) (Asiatic Land Tenure and Representation Act of 1946) की अपमानजनक प्रवृत्तियोंकी ओर सभा का ध्यान आकर्षित किया। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार द्वारा कठोरताके साथ बरती जाने वाली जातीय विभेदकी नीतिकी ओर भी सभाका ध्यान आकर्षित किया गया। यह बताया गया कि इन सब बातोंसे संयुक्त राष्ट्र संघके मानव-समानता और मानव-सम्मानके आदर्शका तिरस्कार होता है।

दक्षिण अफ्रीका की सरकारकी ओरसे कहा गया कि यह उसका घरेलू मसला है और घोषणापत्रकी धारा २, पैरा ७ के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ को इस विषय पर विचार करनेका अधिकार ही नहीं है। उसने यह भी मांगकी कि इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयकी परामर्शमूलक सम्मति मांगी जाय। इस तर्कको अस्वीकार करते हुए आम सभाने यह फैसला दिया कि चूंकि इस प्रश्नसे संयुक्त राष्ट्र संघ के दो सदस्य राष्ट्रोंके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध खराब होनेकी आशंका है, इसलिए संघको इस पर विचार करनेका अधिकार है। इस प्रस्तावका अर्थ भारत और दक्षिणी अफ्रीका ने भिन्न-भिन्न रूपसे किया। दक्षिणी अफ्रीका ने इस प्रस्ताव को पारस्परिक वार्ताका आधार माननेसे ही यह कहकर इन्कार कर दिया कि इस प्रस्तावको वार्ता का आधार बनानेका मतलब यह होगा कि दक्षिणी अफ्रीका ने आम सभाके इस निर्णयको स्वीकार कर लिया कि उसने संघके घोषणापत्रका उल्लंघन किया है।

मसला फिर आम सभाके सामने लाया गया। सन् १९४९ में आम सभाके तीसरे अधिवेशनने भारत, पाकिस्तान और दक्षिणी अफ्रीका से कहा कि एक गोलमेज सम्मेलन करके संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणापत्रके उद्देश्यों और सिद्धान्तों तथा मानव अधिकारोंकी विश्व व्यापी घोषणाको ध्यानमें रखते हुए तीनों राष्ट्र आपसमें विचार विमर्श करके इस मसलेको हल करें।

दक्षिणी अफ्रीका ने इस प्रस्तावको यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि इस से उसके आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप होता है। लम्बी वार्ताके बाद दक्षिणी अफ्रीका गोलमेज सम्मेलनके लिए राजी हो गया। पर आसमानसे टपका और खजूरमें अटका की कहावतके अनुसार गोलमेज सम्मेलनकी कार्यविधि पर तीनों राष्ट्रोंमें मतभेद बना रहा और सम्मेलन नहीं हुआ।

बादमें विशेषकर शीत युद्धकी स्थितिके कारण पश्चिमी राष्ट्रों ने इस प्रश्न में रुचि लेना बन्द कर दिया। विश्व साम्यवादके विरुद्ध अपने युद्धमें उन्हें दक्षिणी अफ्रीका के सहयोग और उसके भौतिक साधनोंकी आवश्यकता है। एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रोंमें बढ़ती हुई उपनिवेशवाद विरोधी भावना ने भी इस प्रश्नमें पश्चिमी राष्ट्रों की अभिरुचि कम करनेमें योग दिया। स्थिति यहां तक उल्टी कि अन्तमें सन् १९५५ में आम सभा ने अपने उस पूर्व प्रस्तावको भी रद्द कर दिया जिसमें दक्षिणी अफ्रीका की जातीय-विभेद नीतिकी निन्दाकी गयी थी। इस प्रकार कुल मामला खटाई में पड़ा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के इतिहासमें यह एक काला धब्बा माना जायगा।

(६) फ़िलिस्तीन (**Palestine**). ब्रिटेन ने फ़िलिस्तीन का मसला संयुक्त राष्ट्र संघके अप्रैल, सन् १९४७, के पहले विशेष अधिवेशनमें पेश किया। यह अधिवेशन इसीलिए बुलाया गया था। यहूदी समिति और अरब उच्च समितिके प्रतिनिधियोंको अपने-अपने विचार प्रकट करनेके लिए बुलाया गया। विचार-विमर्श के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ ने फ़िलिस्तीन के बारेमें एक समिति बनायी। इस समितिको यह काम सौंपा गया कि वह फ़िलिस्तीन तथा अन्य सम्बन्धित क्षेत्रोंमें जाय, मौके पर जाकर असली हालतका पता लगाये और अपनी जांचके आधार पर सिफ़ारिशें पेश करे। यह समिति फ़िलिस्तीन, लेबनान, सीरिया, और ट्रान्सजॉर्डन गयी। समितिने जर्मनी और ऑस्ट्रिया में विस्थापितोंके केन्द्रोंका भी दौरा किया। समितिकी रिपोर्टमें बहुमतने एक यहूदी राज्य और एक अरब राज्यकी स्थापना करने तथा यरुशलम को अन्तर्राष्ट्रीय शासनमें रखनेकी सिफ़ारिश की। दोनों को एक आर्थिक इकाईमें रखनेकी भी सिफ़ारिश की गई। अल्पमत ने सिफ़ारिश की कि अरब राज्य और यहूदी राज्यका फ़िलिस्तीन संघ बनाया जाय और यरुशलम इस संघ की राजधानी रहे। आम सभाने बहुमतकी योजना स्वीकार की। भारत ने अल्पमत की रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किये थे।

इसके बादसे हालत बिगड़ने लगी। ब्रिटेन ने घोषणाकी कि वह १५ मई, १९४८, को फ़िलिस्तीन परसे अपना नियोग समाप्त कर देगा यद्यपि आम सभाकी योजनाके अन्तर्गत उसे पहली अगस्त तक की अवधि दी गयी थी। यहूदी समिति तथा अरब उच्च समिति दोनों ने बड़े जोर-शोरसे अपने-अपने पक्षका समर्थन किया। अरब राष्ट्रोंने घोषणा की कि वे किसी प्रकार किसी भी रूपमें विभाजन स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरी ओर यहूदी समितिका कहना था कि विभाजनमें ही समस्या हल हो सकती है। उसने अपने तर्क और अपनी मांगका आधार उन वादोंको बनाया जो

बालफूर (Balfour) घोषणामें और राष्ट्र संघ के नियोगमें किये गये थे। योरोप के उन विस्थापित यहूदियोंकी इच्छाको भी मागका आधार बनाया गया जो और कहीं शरण नहीं पा सकते थे।

अरब लोगोंने विभाजन रोकनेके लिए सीधी कार्रवाईका रास्ता अपनाया। उग्र विचारके यहूदियोंने भी अपनी हिंसात्मक कार्रवाई जारी रखी। सुरक्षा परिषद ने सम्बन्धित राष्ट्रोंसे बार-बार अपील की कि फिलिस्तीन में बढ़ने वाली अव्यवस्था और अशान्तिको रोकनेके लिए वे हर सम्भव प्रयत्न करें। रूसी प्रतिनिधिने सुरक्षा परिषदमें कहा था कि विभाजन शान्तिपूर्ण तरीकोंसे हो सकता है। अमेरिका ने इस पर सन्देह करते हुए मार्च, १९४८, में यह प्रस्ताव किया कि फिलिस्तीन को कुछ समय के लिए न्यास परिषदके अधीन कर दिया जाय और इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए आम सभाका एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय।

आम सभाकी प्रार्थना पर सुरक्षा परिषदने दीवालोंसे घिरे यरूशलम शहरमें युद्धबन्दीका आदेश जारी किया और दोनों पक्षोंने उसे स्वीकार किया। आम सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय नियोग (mandate) का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और एक मध्यस्थ नियुक्त करनेका निर्णय किया जिसका काम फिलिस्तीनकी स्थितिका शान्ति-पूर्ण हल निकालनेमें सहायता देना था। काउन्ट बर्नाडेट (Count Bernadotte) मध्यस्थ चुने गये। जिस दिन फिलिस्तीन पर ब्रिटेनका नियोग समाप्त हुआ उसी दिन 'इसराईल' (Israel) नामके एक यहूदी राज्यकी घोषणा की गयी।

संघर्ष फिर शुरू हो गया। सीरिया, लेबनान, ट्रान्सजॉर्डन (अब जॉर्डन) और मिस्र ने इसराईल पर तेज हमले शुरू कर दिये। एक बार फिर सुरक्षा परिषद ने दोनों पक्षोंसे युद्ध बन्द कर देनेको कहा। यह याद रखना शिक्षाप्रद है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने अरबो और यहूदियोंके बारेमें समय-समय पर जो प्रस्ताव स्वीकार किये थे उनमें से कुछमें यह धमकी भी दी गयी थी कि आवश्यकता पड़ने पर संयुक्त राष्ट्र संघ शक्तिसे काम लेगा। ४ जून, १९४८ को अरबो और यहूदियोंमें युद्ध बन्दी करार तो हो गया, पर लड़ाई बन्द नहीं हुई।

मध्यस्थ स्वय फिलिस्तीन गये और कुछ समयके लिए युद्ध बन्द करानेमें वे सफल हुए। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ से चौकसी रखने वाले एक फौजी दस्तेकी माग की जो तुरन्त मंजूर कर ली गयी। युद्धबन्दीकी निगरानीके लिए पर्यवेक्षक नियुक्त किये गये। बर्नाडेट ने बड़ा परिश्रम करके फिलिस्तीन के बटवारेकी एक नई योजना तैयार की जो पहली योजनासे अधिक अरबोंके पक्षमें थी। पर संयुक्त राष्ट्र संघके सम्मुख इस योजनाको रख सकनेके पहले ही १७ सितम्बर, १९४८, को यरूशलम के इसराईल अधिकृत क्षेत्रमें उनकी हत्या कर दी गयी। अनुमान किया जाता है कि यह हत्या किसी यहूदी गैर-सरकारी सैनिक ने की थी।

इसराईल ने विपरीत परिस्थितियोंके बावजूद सैनिक शक्तिके बल पर अपने पैर जमाये और संयुक्त राष्ट्र संघके फिलिस्तीन आयोगने उसके लिए जो सिफारिशें

की थी उनसे अधिक प्राप्त किया। संयुक्त राष्ट्र संघ सचिवालयके सदस्य अमेरिकी नीग्रो डा० राल्फ बुच (Dr. Ralph Bunche) बर्नाडेट के स्थान पर अन्तिम रूप से समझौता करानेके लिए नियुक्त किये गये। अधिकांशमें उन्हींके धैर्य और कौशलके फलस्वरूप युद्ध विराम करार हुआ जिसमें एक ओर इसराईल और दूसरी ओर मिस्र, लेबनान और ट्रान्सजॉर्डन ने हस्ताक्षर किये।

इसराईलकी स्थापनासे लेकर अब तकका सारा समय इसराईल के लिए अशान्ति-शान्तिका ही समय रहा है। अरब राष्ट्र इस बातके लिए कृत-सकल्प है कि यदि सम्भव हो तो इसराईल को कुचलकर नष्ट कर दिया जाय। इन पक्तियोंके लिखे जानेके समय मिस्र और जॉर्डन, सीरिया, लेबनान और सऊदी अरब के साथ मिलकर युद्धकी तैयारी कर रहे हैं और ऐसा मालूम होता है कि पुनः लड़ाई छिड़ सकती है। मिस्र और सीरिया ने अपना एक संघ बना लिया है। संघका उद्देश्य बताना तो कठिन है, पर उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। पश्चिमी राष्ट्र जो कभी एक पक्षकी तरफ़दारी करते हैं और कभी दूसरे पक्षकी इस पसोपेशमें हैं कि इस क्षेत्रमें ही तीसरा महायुद्ध न आरम्भ हो जाय। बगदाद समझौता (Baghdad Pact), जिसमें इस क्षेत्रके कुछ राष्ट्र शामिल हैं, न केवल अरब लोगोंमें एक दरार पैदाकर रहा है, बल्कि विश्व शान्तिको भी वह कोई सहारा नहीं दे रहा है। सोवियत रूस चेकोस्लोवाकिया को मिस्रके हाथों हथियार बेचनेकी सलाह देकर इस अशान्ति क्षेत्रमें अपना दाव लगा रहा है। फ़िलिस्तीनके विस्थापित अरबोंकी समस्याका हल अभी दिखायी नहीं दे रहा है।

(७) **कोरियाई प्रश्न.** जापान, कोरिया पर सन् १९१० से शासन कर रहा था। मित्र राष्ट्रोंने वादा किया था कि युद्ध समाप्त होने पर कोरिया को स्वतंत्र कर दिया जायगा। जब युद्ध समाप्त हुआ उस समय उत्तरी कोरिया पर रूस का और दक्षिणी कोरिया पर अमेरिका का अधिकार था। जापानी सेनाओंके तात्कालिक आत्मसमर्पणके लिए यह निश्चय किया गया कि ३८° अक्षांशके उत्तर जापानी सेनाएं रूसियों के सामने और उससे दक्षिण अमेरिकियों के सामने आत्मसमर्पण कर दें। यह ३८° अक्षांश बहुत शीघ्र एक निश्चित विभाजन रेखा बन गयी जिसने कोरिया को उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया में बाट दिया।

अमेरिका चाहता था कि यथासम्भव शीघ्र कोरिया से फ़ौजें वापस बुला ली जायं और कोरियाई लोगोंको स्वयं अपना शासन करने दिया जाय। पर रूस के विचार बिल्कुल भिन्न थे। रूस की इच्छा थी कि आम सभा १९४८ के आरम्भमें विदेशी सेनाओंको एक साथ वापसीका आदेश दे और आम सभाने कोरिया के भविष्यके बारेमें जो समिति बनायी है उसकी पहली बैठकमें होने वाले विचार विमर्शमें भाग लेनेके लिए कोरियाई जनताके निर्वाचित प्रतिनिधि आमंत्रित किये जायं।

आम सभाने रूसी प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। पूरे कोरिया में निर्वाचन

करानें और एक राष्ट्रीय असेम्बली व एक राष्ट्रीय सरकार कायम करनेके लिए उसने एक अस्थायी कोरिया-आयोगका निर्माण किया। भारत इस आयोगका सदस्य था। साम्यवादी गुटने सहयोग करनेसे इन्कार कर दिया, इसलिए यह आयोग उत्तरी कोरिया न जा सका। ऐसी अड़चनके बावजूद आयोग अपने काममें लगा रहा। उसने दक्षिणी कोरियामें चुनाव कराये और दक्षिणी कोरियाके लिए एक सरकार बनायी गयी जिसे बादमें संयुक्त राष्ट्र संघने मान्यता प्रदान की। दक्षिणी कोरियाको कोरियाई गणतन्त्र कहा जाता है। डा० सिंगमान री (Syngman Rhee) इस गणतन्त्रके प्रथम निर्वाचित राष्ट्रपति थे।

इसके बाद आम सभाने विदेशी सेनाओंकी वापसीकी सिफारिश की। अमेरिका ने उसे स्वीकार कर लिया पर सोवियत रूस ने स्वीकार नहीं किया। अस्थायी आयोगके स्थान पर एक स्थायी कोरियाई आयोग नियुक्त किया गया जिसे कोरिया में एकता स्थापित करने और उत्तरी तथा दक्षिणी कोरियाके बीचकी आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य खाइयां पाटनेका काम सौंपा गया। देशमें एकता कायम करने में दुर्भाग्यवश कोई प्रगति नहीं की जा सकी। इसका कारण कुछ तो साम्यवादियों और कुछ दक्षिणी कोरिया के नव निर्वाचित राष्ट्रपति डा० सिंगमान री की अड़गे-बाजी थी। उत्तरी और दक्षिणी कोरियामें जब तब सीमान्त संघर्ष होते रहे। अन्त में २५ जून, १९५०, को उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर हमला कर दिया। मौके पर उपस्थित संयुक्त राष्ट्र संघके कोरियाई आयोगने और अमेरिकी सरकार दोनोंने तुरन्त सुरक्षा परिषदको इसकी सूचना दी और परिषदका एक आपाती अधिवेशन बुलाया गया। परिषदने तात्कालिक युद्ध-बन्दीका आदेश दिया और फौजों का ३८° अक्षांश पर वापस बुला लेनेको कहा। संघके सदस्योंसे कहा गया कि वे उत्तरी कोरिया को सहायता न दें।

उत्तरी कोरिया ने संयुक्त राष्ट्र संघके प्रस्तावको अनसुना कर दिया। इसलिए दो दिनके अन्दर ही अमेरिका ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करनेके लिए उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने की मांग की गयी। रूसी प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद की बैठकों में से अनुपस्थित रहे। इसलिए बिना किसी कठिनाईके प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। प्रस्तावमें संयुक्त राष्ट्र संघके सदस्य राष्ट्रोंसे मांग की गयी कि सैनिक हमलेको पराजित करनेके लिए कोरियाई गणतन्त्रको जितनी सहायता की आवश्यकता हो उतनी सहायता दी जाय। पर युद्धका बोझ अमेरिका पर पड़ा। वह इसके लिए तैयार भी था।[1] युद्ध अधिकांश

---

[1] उत्तरी कोरियाके हमलोंकी आशंकासे अमेरिकी सेनाएं २३ जून को ही चल चुकी थी और उन्होंने पीले सागर के कोरियाई समुद्रतट पर २७ जून को ही घेरा डाल दिया था। अमेरिका के सातवें बेड़े ने फारमोसा द्वीप को २४ जून को ही अपने घेरे में ले लिया था

में अमेरिकी धन, अमेरिकी युद्ध सज्जा और अमेरिकी सैनिकों द्वारा लड़ा गया। भारत ने एक डाक्टरी उपचार दल भेजा था।

इस युद्ध को प्रायः संयुक्त राष्ट्र संघका युद्ध कहा जाता है। इस युद्धको सामूहिक सुरक्षाकी सफलताका एक सुन्दर उदाहरण माना जाता है। पर असलियत यह है कि यह युद्ध अमेरिकी युद्ध था जिसे संयुक्त राष्ट्र संघका आशीर्वाद प्राप्त था। हमारे वर्तमान उद्देश्यके लिए युद्धके विवरणमें जाना जरूरी नहीं है। जब संयुक्त राष्ट्र संघकी सेनाओंने संगठित होकर आक्रमण करना आरम्भ किया तब भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें समझाया कि वे ३८° अक्षांशके आगे न जाय। पर संयुक्त राष्ट्र संघके झण्डेके नीचे संयुक्त कमानके सेनापति जनरल मैकार्थर ने उनकी बात अनसुनी कर दी। वह युद्धको न केवल कोरिया को मंचूरिया से अलग करने वाली यालू नदी तक ही ले जानेके लिए कृत-संकल्प थे, बल्कि मंचूरियाके भीतर भी—जिसे वह सैनिकोंका और सामग्रीका स्रोत मानते थे—घुस जाना चाहते थे। वह मंचूरिया को "प्रवेश निषिद्ध" क्षेत्र माननेके लिए तैयार नहीं थे।

अब तक चीनी साम्यवादी भी युद्धमें कूद पड़े थे क्योंकि उन्हें भय था कि स्वयं उनकी सुरक्षा ही खतरे में है। जैसे ही युद्ध आरम्भ हुआ राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सातवां जहाजी बेड़ा चीनी सागरमें इसलिए भेज दिया था कि न तो चीनी साम्यवादी फ़ारमोसा के राष्ट्रवादियों पर और न फ़ारमोसा के राष्ट्रवादी चीनी साम्यवादियों पर हमला कर सकें। साम्यवादियोंने इस कामको अपने आन्तरिक मामलोंमें अनुचित हस्तक्षेप कहकर इसका बड़ा विरोध किया। युद्ध विचार धाराओंका युद्ध बन गया जिसमें एक ओर "साम्यवाद और एशियाई राष्ट्रीयतावाद" था और दूसरी ओर "पश्चिमी प्रजातंत्र और उपनिवेशवाद" की शक्तियां थीं। एशिया के राष्ट्र जो साम्यवाद और उपनिवेशवाद दोनोंके विरोधी थे, एक अजीब पसोपेशमें पड़ गये।

ऐसी हालतमें भारत ने एक मध्यस्थ और शान्ति स्थापकका काम करनेका प्रयत्न किया। अतः उसके समझानेसे चीनी गणतंत्रको समस्याका हल निकालने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आमंत्रित किया गया। पर चीनी प्रतिनिधि मण्डल आवश्यकतासे कुछ अधिक दृढ़ और अड़ जाने वाला था। उसने साफ़-साफ़ अमेरिका को कोरिया और तायवान (Formosa) में हमलावर ठहराया। अमेरिका ने ईंटका जवाब पत्थरसे दिया। उसने चीन को आक्रमणकारी ठहराने वाले अपने प्रस्तावके पक्षमें पर्याप्त सदस्य कर लिये। इससे चीनका रुख और भी कड़ा हो गया और समस्याका शान्तिपूर्ण हल करीब-करीब असम्भव हो गया।

एक साल तक लड़ते रहनेके बाद जब युद्धमें ही गत्यावरोध आ गया तब दोनों पक्ष संयुक्त राष्ट्र संघकी एक समिति द्वारा तैयार किये गये युद्ध-विराम करारको माननेके लिए तैयार हो गये। भारत, केनाडा और आम सभाके अध्यक्ष इस समितिके सदस्य थे। भारत, मिस्र, बर्मा, आदिने समझौता वार्ता द्वारा शान्तिके

पक्षमें जोर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघके कुछ सदस्योंके लिए इसे स्वीकार करना कठिन था। फिर भी ऐसा ही हुआ।

युद्ध-विराम वार्ता २५ अक्तूबर, १९५१, को संयुक्त राष्ट्र संघके तत्वावधान में पानमुनजोम में शुरू हुई और २७ जुलाई, १९५३, को कोरियाई-युद्ध-विराम समझौते पर हस्ताक्षर हुए। समझौतेके रास्तेमें सबसे बड़ी बाधा युद्ध बन्दियोंकी अदला-बदलीका प्रश्न था। साम्यवादियोंका कहना था कि युद्ध बन्दियोंको जबरन स्वदेश वापस भेज दिया जाना चाहिए। पर अमेरिका इस बात पर जोर दे रहा था कि किसीको भी उसकी इच्छाके विरुद्ध उसके अपने देशमें या देशके किसी भी भागमें नहीं भेजा जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना मौलिक मानव अधिकारका उल्लंघन होगा। भारत के प्रयत्नसे यह प्रश्न भी अन्तको हल हो गया। युद्ध विराम समझौतेकी शर्तोंको ठीक तरह पूरी करानेके लिए तटस्थ राष्ट्रोंका एक निरीक्षण आयोग और तटस्थ राष्ट्र अदला-बदली आयोग तथा इसी प्रकारकी अन्य संस्थाएं कायम की गयीं। जनरल थिमैया तथा भारतीय संरक्षक सेनाने युद्ध बन्दियोंकी वापसीमें और समझौतेको कायम रखनेमें अमूल्य योग दिया, यद्यपि डा० सिंगमान री ने अनेक अड़चनें उनके रास्तेमें डालीं। डा० सिंगमान री ने २५,००० उत्तरी कोरियाई युद्ध बन्दियोंको संयुक्त राष्ट्र संघकी अवहेलना करते हुए उस समय छोड़ दिया जब उनकी वापसीकी समस्याका हल खोजा जा रहा था। कोरिया के युद्ध बन्दियोंकी वापसीके प्रश्नने अन्तर्राष्ट्रीय विधि और मौलिक अधिकारों को जो एक महत्वपूर्ण देन दी है, वह यह है कि कोई सरकार किसी व्यक्तिको अपने देश वापस जानेके लिए विवश नहीं कर सकती, भले ही वह व्यक्ति अपने देशकी तरफ से लड़ता रहा हो।

शान्ति समझौता हुए सात वर्षसे अधिक बीत चुके हैं पर अभी तक कोरिया एक राष्ट्र नहीं बन सका है। सिंगमान री समय-समय पर फिरसे युद्ध आरम्भ करने की धमकी देते रहते थे, पर अमेरिका अंकुश लगाये रहा है।

(८) काश्मीरका प्रश्न. यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघके सामने आने वाले सबसे कठिन प्रश्नोंमें से एक है और अभी तक सुलझ नहीं सका है। सन् १९४७ में भारत स्वाधीन हुआ। जम्मू और काश्मीर राज्यको जिस पर एक भारतीय नरेशका शासन था, यह अधिकार दिया गया कि वह चाहे भारत या चाहे पाकिस्तान में अन्तिम समझौता न होने तक एक यथास्थिति करारके आधार पर शामिल हो सकता है। १ जनवरी, १९४८, को भारत ने सुरक्षा परिषदको सूचना दी कि पाकिस्तान की साठ-गाठसे सीमा प्रान्तके कबायली लोगों तथा अन्य लोगों द्वारा काश्मीर में शुरू किये गये भयानक युद्धमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिको खतरा पैदा हो गया है। इसी समय काश्मीर के महाराजाने भारत में सम्मिलित होनेकी प्रार्थना की। भारत ने इस प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया और आक्रमणकारियोंको मार भगानेके लिए अपनी फौजें काश्मीर भेज दीं यह तय हुआ कि सामान्य स्थिति स्थापित हो जाने पर जम्मू

और काश्मीर की जनता एक स्वतंत्र जनमत गणना द्वारा अपना भविष्य निश्चित करेगी।

भारत ने अभियोग लगाया कि पाकिस्तान आक्रमण करनेका अपराधी है, क्योंकि उसने आक्रमणकारियोंको सहायता दी है। उसने आक्रमणकारियोंको अपने हथियार और अपना पेट्रोल दिया है और पाकिस्तानी नागरिकोंने आक्रमणमें भाग लिया है। पाकिस्तान ने अभियोगसे इन्कार किया और यह दावा किया कि कबायली लोगोंका धावा रोकनेके लिए युद्धमें सब कुछ उसने किया है और घोषणा की कि जम्मू-काश्मीर राज्यका भारत में सम्मिलित होना अवैध है। भारत और पाकिस्तान दोनोंने स्वीकार किया कि उनके बीच हालत ऐसी है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग हो सकती है।

इस समस्याको हल करनेके लिए सुरक्षा परिषदने २० जनवरी, १९४८, को तीन सदस्योंका एक मध्यस्थ आयोग बना दिया जिसमें दो सदस्य बादमें और बढ़ा दिये गये। परिषदकी कई एक बैठकों और भारतीय तथा पाकिस्तानी प्रतिनिधि मण्डलों के बीच अनेक गुप्त परामर्शोंके बाद परिषदने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें दोनो पक्षोंमें युद्ध बन्द करने और सही तथा निष्पक्ष जनमतगणनाके लिए मार्ग प्रशस्त करने को कहा गया। इन कामोंको पूरा करनेके लिए संयुक्त राष्ट्रके आयोग को आदेश दिया गया कि वह तुरन्त भारत पहुंचे और वहां भारतीय तथा पाकिस्तानी सरकारोंकी सहायताके लिए अपनी मध्यस्थता प्रस्तुत करे।

परिषदने यह भी सिफारिश की कि विदेशी कबायली लोग और काश्मीर में न रहने वाले पाकिस्तानी नागरिक काश्मीरसे हटा लिये जायं और यथासम्भव अधिक से अधिक भारतीय सैनिक भी वापस बुला लिये जाय। भारत द्वारा स्थापित किये जाने वाले जनमतगणना प्रशासन द्वारा ऐसे वातावरणमें जनमत-गणना करानेकी तैयारी करनेको कहा गया जिसमें अभिव्यक्ति की, समाचार और विचार प्रकाशित करनेकी, भाषण देनेकी, सभा करनेकी और यात्राकी पूरी-पूरी आजादी हो।

आयोगने अपना काम आरम्भ किया। उसने १३ अगस्त, १९४८, को दोनों सरकारोंसे कहा कि यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र युद्धबन्दी आदेश जारी किये जायं तथा कुछ सिद्धान्त स्वीकार किये जायं जिनके आधार पर दोनों देशोंमें समझौता हो सके। वे सिद्धान्त ये थे: (१) पाकिस्तान हाल ही में काश्मीर में तैनात की गयी अपनी फौजोंको वापस बुला ले और विदेशी कबायलियोंको तथा काश्मीर में साधारणतया न रहनेवाले पाकिस्तानी नागरिकोंको वापस बुलानेका भरसक प्रयत्न करे, (२) इस प्रकार खाली किये गये क्षेत्रका शासन आयोगके निकट निरीक्षणमें स्थानीय अधिकारी करें, (३) जब आयोग भारतको इस बातकी सूचना दे कि पाकिस्तान इन शर्तोंका पालन कर रहा है तब भारत अपनी अधिकांश सेना धीरे-धीरे वापस बुला लेगा। भारतीय सेनाकी वापसीका क्रम भारत और आयोग आपसमें तय करेंगे और (४) अन्तिम या स्थायी समझौतेकी शर्तें पूरी होने तक भारत युद्ध-बन्दीकी

सीमाके भीतर उतनी सेना रखेगा जितनी कानून और व्यवस्था बनाये रखनेमें स्थानीय अधिकारियोंकी सहायताके लिए आवश्यक हो।

पाकिस्तान ने आयोगको सूचित किया कि आयोगके प्रस्तावके कुछ अंशों को विशेषतः जनमतगणना संगठनसे सम्बन्धित अंशोंको यह ज्योंका त्यों बिना किसी शर्तके स्वीकार नहीं कर सकता। काफी विलम्ब और लम्बी वार्ताके बाद इस बात पर समझौता हुआ कि एक संयुक्त राष्ट्र संघीय जनमतगणना व्यवस्थापक की नियुक्ति की जाय और युद्ध-बन्दी हो। १ जनवरी, १९४९, को युद्ध-बन्दी हुई। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघने विविध देशोंसे पर्यवेक्षक नियुक्त किये। इन पर्यवेक्षकोंको युद्ध-बन्दी समझौतेके पालनके बारेमें रिपोर्ट देनेका काम सौंपा गया।

अमेरिका की नौसेनाके एडमिरल डब्लू० निमिट्ज को जनमतगणना प्रशासक मनोनीत करके जम्मू और काश्मीर की सरकारसे उन्हें रस्मी तौर पर नियुक्त करनेको कहा गया। जनमतगणनाके बारेमें भारत और पाकिस्तान के बीच तीव्र मतभेद होनेके कारण प्रशासक अपना काम न कर सका और उसने कुछ महीनों बाद अपने पदसे इस्तीफा दे दिया।

आयोगने अपनी रिपोर्टमें सुरक्षा परिषदसे कहा कि प्रभावपूर्ण मध्यस्थताका काम अब अधिक नहीं किया जा सकता। आयोगने यह भी सिफारिश की कि भारत और पाकिस्तान के सभी झगड़े दूर करनेके लिए पांच सदस्योंके आयोगके स्थान पर एक ही व्यक्ति नियुक्त किया जाय। परिषदने फौजोंकी वापसीकी एक योजना बनायी। इस योजनाकी पूर्तिमें सहायता करनेके लिए ऑस्ट्रेलिया के सर ओवेन डिक्सन को संयुक्त राष्ट्र संघका प्रतिनिधि नियुक्त किया गया। पर वह भी सफल न हो सके। विसैन्यीकरण और जनमतगणनाकी तैयारीके सम्बन्धमें भारत और पाकिस्तान में मतभेद बना रहा। फिर भी डिक्सन ने पाकिस्तान से यह बात स्वीकार करा ली कि काश्मीरका युद्ध पाकिस्तान सरकारकी सक्रिय सहायतासे आरम्भ हुआ था। उन्होंने काश्मीरके बटवारेका सुझाव दिया। इस सुझावके अनुसार पाकिस्तानी फौजों और आजाद काश्मीरी फौजों द्वारा अधिकृत प्रदेश पाकिस्तान को मिल जाता और भारतीय फौजों तथा जम्मू-काश्मीर राज्यकी फौजों द्वारा अधिकृत प्रदेश भारत में मिल जाता और जनमतगणना केवल काश्मीर-घाटी के सीमित क्षेत्रमें होती। पाकिस्तान ने इसे भी स्वीकार नहीं किया और डिक्सन ने भी अपने पदसे इस्तीफा दे दिया।

इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघने अमेरिका के डा० फ्रैंक ग्राहम को अपना प्रतिनिधि बनाया। वह एकसे अधिक बार काश्मीर, भारत और पाकिस्तान आये। उन्होंने फौजोंकी वापसी और काश्मीर में ईमानदारीके साथ जनमतगणना करानेके लिए भारतीय और पाकिस्तानी फौजोंकी आनुपातिक तैनातीके सम्बन्धमें बहुत परिश्रमके साथ काम किया। उनका अन्तिम सुझाव यह था कि ६,००० पाकिस्तानी और १८,००० भारतीय सैनिक काश्मीर में रहें। पर वह भी सफल न हो सके।

जिन बातो पर समझौता हो सका वे दोनों देशोंके यह निश्चय थे कि दोनो युद्धका रास्ता नही अपनायेंगे, युद्धकी स्थिति जैसे भाषण या वक्तव्य नही देंगे , युद्ध-बन्दी समझौतेको भंग नही करेंगे ; और काश्मीर के विलयका प्रश्न सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्वावधानमें आयोजित स्वतत्र और निष्पक्ष जनमतगणना द्वारा तय करेंगे।

इस झगड़ेके दौरानमें ही जम्मू-काश्मीर की सरकारने अपने संविधान परिषद के द्वारा भारत में मिलनेका सकल्प कर लिया। इस सकल्पको काश्मीर के वर्तमान प्रधान मत्री बक्शी गुलाम मोहम्मद कई बार दोहरा चुके हैं। इसके विपरीत आजाद क़ाश्मीर सरकार है जो पाकिस्तान के अधीन है।

जब सर ओवेन डिक्सन और डा० ग्रैहम दोनो ही असफल हो गये तब यह सुझाया गया कि भारत और पाकिस्तान दोनो पारस्परिक सीधी बातसे अपना मतभेद दूर कर लें । एक बार यह भी सुझाया गया कि पच-निर्णयका रास्ता अपनाया जाय पर यह सुझाव भारत को स्वीकार नही हुआ। फलत गत्यावरोधकी स्थिति है। काश्मीर के बारेमें बड़े राष्ट्रोकी स्वार्थपूर्ण रुचि मामलेको और भी बिगाड़ती है। इस क्षेत्रमें अमेरिका और ब्रिटेन सैनिक और सामयिक कारणोंसे बहुत अधिक रुचि लेते रहे हैं। यह हालत रूस की भी है। अपनी भारतीय यात्राके दौरानमें बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने घोषणा की थी कि वे भारत में काश्मीर के विलयको अन्तिम और अविचल मानते हैं। पश्चिमी राष्ट्रो (अमेरिका, ब्रिटेन और फ़ांस) ने तथा पाकिस्तान और सीटोके अन्य सदस्योंने अपनी कराची की बैठकमें इसके उत्तरमें यह कहा कि यह मसला सयुक्त राष्ट्र सघके निरीक्षणमें जनमतगणना द्वारा हल होना चाहिए ।

सयुक्त राष्ट्र सघने १९५७ के आरम्भमें सुरक्षा परिषदके तत्कालीन अध्यक्ष जारिंग को भारत और पाकिस्तान भेजा। उनसे कहा गया कि वे काश्मीर के प्रश्न पर सयुक्त राष्ट्र सघके पहले प्रस्तावके अनुसार अपने सुझाव दें। दोनो प्रधान मत्रियोंसे लम्बी वार्ताके बाद उन्होंने अपनी रिपोर्ट दी। आपने अपनी रिपोर्टमें कहा कि जनमत-गणनाके आश्वासनके समयसे अब तक बहुत-सी बातें हो चुकी हैं, वर्तमान परि-स्थितियोंमें जनमतगणनासे बहुत-से विघ्न पैदा हो सकते हैं और दक्षिणी और दक्षिणी पूर्वी एशिया की शक्ति सन्तुलनका जिसमें १९४८ के बादसे काफी परिवर्तन हो गया है, काश्मीरी प्रश्न पर काफी प्रभाव पड़ेगा। साथ ही जारिंग ने गत्यावरोधको पच निर्णयसे दूर करनेका सुझाव दिया। भारत का कहना था कि पचायत करानेके मतलब है यह मान लेना कि पाकिस्तान का काश्मीर पर भारत के समान ही दावा है। भारत पाकिस्तान के इस दावेको स्वीकार नहीं करता। पाकिस्तान काश्मीर में आक्रमणकारी है, न उससे कुछ कम और न कुछ अधिक।

हालके पिछले महीनोंमें भारत का कहना यह रहा है कि काश्मीर के भारत में मिल जानेसे और काश्मीर सविधान सभाके प्रस्तावके कारण जिसकी पुष्टि बाद के चुनावोंमें भी हुई है, काश्मीर भारत का अभिन्न अग है। भारत बार-बार कह

चुना है कि यह जनमतगणनाको उस समय तक कार्यान्वित करनेको राजी नहीं है जब तक पाकिस्तान काश्मीर के उस हिस्सेसे हट नहीं जाता जिस पर उसने जबर्दस्ती अधिकार कर रखा है। वी० के० कृष्णमेनन ने संयुक्त राष्ट्र सघमें और भारत में इस विचारके पक्षमें जनमत तैयार करनेमें बहुत कहा और किया है। इस सबके बावजूद गत्यावरोधको दूर करनेके उपाय बतलानेके लिए फ्रैंक ग्राहम सुरक्षा परिषद द्वारा भेजे गये।

२. अन्य राजनीतिक तथा सुरक्षा-सम्बन्धी प्रश्न (Other Political and Security Issues)

स्थानाभावके कारण हम अन्य उन प्रश्नोका सारांशमें ही उल्लेख करेंगे जिनमें संयुक्त राष्ट्र सघको पूरी या सीमित सफलता मिल पायी है। इन प्रश्नो में से कुछ महत्त्वपूर्ण हैं और कुछ साधारण।

(१) यूनान (Greek) का प्रश्न. यूनान ने सयुक्त राष्ट्र सघ से शिकायत की कि अल्बानिया, बल्गेरिया और यूगोस्लाविया द्वारा उसकी सीमाओ पर साम्यवादी दबाव डाला जा रहा है। रूसके विरोधोंके बावजूद आम सभाने भारी बहुमतसे यूनान की सीमाओं पर एक "सतर्क निरीक्षक आयोग" ("watch dog" commission) नियुक्त करके बाल्कन प्रदेशमें शान्ति स्थापित करनेके लिए कदम उठाया। इस कार्यमें सफलता मिली। यह कार्य सयुक्त राष्ट्र सघ के इस सकल्पका द्योतक है कि छोटे राष्ट्रोंके अखण्डताकी रक्षा की जायगी।

(२) बर्लिनका प्रश्न. सन् १९४८ में सोवियत रूस ने पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा जर्मनी के अधिकृत प्रदेश और बर्लिन शहरके बीच परिवहन और सचारके साधनो पर कुछ मन-मानी रोकें लगा दी। फास, अमेरिका और ब्रिटेन ने सयुक्त राष्ट्र सघ से अपील की। कुछ समयके लिए स्थिति बहुत गम्भीर हो गयी और ऐसा लगा कि युद्ध शुरू हो जायगा। पर पश्चिमी राष्ट्रोने अपना धैर्य बनाये रखा और एक सुसगठित हवाई यातायात द्वारा रूसी नाकेबंदीको विफल कर दिया। जब रूस ने देखा कि यह सफल नहीं हो सकता तब उसने अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रोंसे सयुक्त राष्ट्र सभा भवनके गलियारेमें ही गैर-रस्मी तरीकेसे समझौता कर लिया।

(३) कॉर्फू चैनल का प्रश्न. सन् १९४७ में ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद से शिकायत की कि अल्बानिया द्वारा अपने समुद्रमें बिछाई गयी सुरगने अंग्रेजी युद्ध पोतोंको नुक्सान पहुचाया है और अंग्रेज नाविको को घायल कर दिया है इसलिए अल्बानिया को हरजाना देना चाहिए। अल्बानिया ने इसका उत्तर यह दिया कि ब्रिटेन उसके क्षेत्रीय सागरकी सीमाका उल्लघन करके उसकी सम्प्रभुता भंग कर रहा है। अन्तमें मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयमें भेजा गया जिसने फैसला दिया कि अल्बानिया को हर्जाना देना चाहिए।

(४) हिन्द-चीन का युद्ध- शुरूमें तो यह फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी शासनके विरुद्ध हिन्द-चीन की जनताका विद्रोह था। बादमें यह पश्चिमी देशों और उपनिवेशवादके विरुद्ध राष्ट्रीयतावाद और साम्यवादके गठबन्धनमें परिणत हो गया। आठ वर्ष तक युद्ध होता रहा और फ़्रांसको गहरी हानि हुई। फ्रांस ने हिन्द-चीन को विभाजित करके अपना शासन बनाये रखनेके लिए अनेक रास्ते अपनाये पर उसे सफलता नहीं मिली। बादमें अमेरिका ने फ्रांस को काफ़ी सैनिक और आर्थिक सहायता दी और चीन के साम्यवादियोंने उत्तरी वियतनाम को मदद पहुंचाई। जब गत्यावरोध की स्थिति उत्पन्न हो गयी और दोनों पक्ष समझौतेके लिए उत्सुक हो गये तब १९५४ में जेनेवा में कुछ बड़े राष्ट्रों (ब्रिटेन, फ्रांस और चीन) की बैठक हुई और भारत ने सहायकका हितकर कार्य किया। इस सम्मेलनके परिणामस्वरूप हिन्द-चीनमें अपेक्षाकृत शान्ति स्थापित हो गयी, यद्यपि उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम में जिस निर्वाचनका वादा किया गया था वह दक्षिणी वियतनाम के प्रधान मंत्री की अड़गेबाजी के कारण पूरा नहीं हो पाया। संयुक्त राष्ट्रके सम्मुख आनेवाले अन्य रोचक मसले निम्नलिखित हैं:

(१) हैदराबादका सवाल,
(२) इटलीके उपनिवेशोंकी भावी स्थिति,
(३) विदेशी नागरिकोंकी रूसी पत्नियोंका प्रश्न,
(४) ट्यूनिसका सवाल,
(५) मोरक्कोका प्रश्न,
(६) ब्रिटेन और ईरानके बीच तेलकी समस्या,
(७) ट्रीस्टके स्वतंत्र-प्रदेशका प्रश्न।

इन प्रश्नों और ऐसे अन्य प्रश्नोंके विवरणके लिए पाठकोंको संयुक्त राष्ट्र संघके प्रकाशन "एवरी मैन्स यूनाइटेड नेशन्स" (पृष्ठ ३९-१६५) को पढ़ना चाहिए।

३. राजनीतिक गत्यावरोध (Political Impasses)

संयुक्त राष्ट्र संघके सम्मुख अनेक मसलोंमें गत्यावरोध पैदा हो गया है। उचित साधनों की कमी, इस गत्यावरोधका इतना कारण नहीं है जितना राष्ट्रों द्वारा अपनी-अपनी सम्प्रभुता पर अड़ने और निहित स्वार्थों द्वारा अपना प्रभुत्व जमाये रखनेकी पुरानी समस्याएं हैं। स्थानकी कमीके कारण यहां भी हम इन प्रश्नोंकी सूची मात्र दे सकेंगे। जिन मामलोंमें संयुक्त राष्ट्र संघने अपनेको बदनाम किया है, वे ये हैं:

(१) संयुक्त राष्ट्र संघमें राष्ट्रीयतावादी चीन का बराबर बने रहना और साम्यवादी चीन को संघसे बाहर रखना।

(२) दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयोंके साथ दुर्व्यवहार।

(३) दक्षिणी अफ्रीका की जातीय-विभेदकी नीति।

(४) दक्षिणी अफ्रीका द्वारा दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका का वस्तुतः अपनेमें मिला लिया जाना।

(५) आण्विक अस्त्रोंके प्रयोगात्मक विस्फोटों पर रोक लगानेमें असफलता।

(६) निरस्त्रीकरण (पुरानी चालके और नये आण्विक आदि, दोनों)।

वीटो पर रोक लगाने और संयुक्त राष्ट्र संघ में नये सदस्योंके प्रवेशके सम्मान-पूर्ण ढंगकी समस्याका भी कोई तात्कालिक हल नहीं दिखायी देता।

४. आर्थिक-क्षेत्रमें संयुक्त राष्ट्र संघकी सफलताएं
(Accomplishments of the U.N. in the Economic Field)

गैर राजनीतिक क्षेत्रमें संयुक्त राष्ट्र संघका काम एक उत्साहवर्धक कहानी जैसा मालूम होता है। संगठन, अध्ययन, रिपोर्ट, गोष्ठी, सम्मेलन, समन्वय, सूचनाओं और कर्मचारियोंकी अदला-बदली, कर्मचारियोंके प्रशिक्षण और ऐसे ही अन्य साधनों से संघने अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याओंको सुलझानेमें सहायता दी है। विश्वके जन, धन और ज्ञान सम्बन्धी साधनोंके समुच्चय (pooling together) का यह एक महान् प्रयोग है।

आर्थिक आयोग (Economic Commission)

जून, १९४६, में आर्थिक और सामाजिक परिषदने क्षति-ग्रस्त क्षेत्रोंके आर्थिक पुनर्निर्माणके लिए एक अस्थायी उप-आयोगकी स्थापना की जिसकी बैठक लन्दन में २९ जुलाईसे १३ सितम्बर, १९४६, तक हुई। इसी वर्ष बादमें इस उप-आयोगने परिषदके सामने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें जन-शक्ति, खाद्यान्न, कृषि, ईंधन और विद्युत् शक्ति, प्रधान उद्योग व्यवसाय, आवास, यातायात, अर्थ व मुद्रा और व्यापार सम्बन्धी दीर्घ-कालीन और अल्प-कालीन समस्याओंका विवेचन किया गया था। उसने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगके लिए सुझाव भी दिये जिनमें योरोप के लिए एक आर्थिक आयोग बनाये जानेका सुझाव भी था। इस अस्थायी आयोग और उसके अन्तर्गत काम करनेवाले दलोंकी रिपोर्टके फलस्वरूप एशिया और सुदूर-पूर्वके क्षति-ग्रस्त क्षेत्रोंके अध्ययनके लिए आयोग स्थापित किये गये। अफ्रीकाके लिए भी एक आयोग बननेको था पर वह बन न पाया। आम सभाकी सिफारिश पर आर्थिक और सामाजिक परिषदने ये संस्थाएं बनायी: योरोप के लिए आर्थिक आयोग एशिया और सुदूर पूर्वके लिए आर्थिक आयोग और बादमें लेटिन अमेरिका के लिए आर्थिक आयोग। परिषद ने ७ मार्च, १९४८, को मध्यपूर्वके लिए एक आर्थिक आयोग स्थापित करनेकी समस्या का अध्ययन करनेके लिए एक तदर्थ (*ad hoc*) समिति नियुक्त की।

इन तीनो आयोगोमें से प्रत्येकने विशिष्ट अध्ययन किये और सम्बन्धित देशोको बहुमूल्य सुझाव दिये। योरोपमें इसके फलस्वरूप सहयोगात्मक व्यवस्थाओके आधार पर अधिक उत्पादन सम्भव हुआ है। उदाहरणके लिए इस्पातका उत्पादन १५ लाख टन अधिक हुआ है। आयोग सदस्य राष्ट्रोंके बीच कच्चे मालका विभाजन करता है जिनमें कोयला, लकडी और कच्चे खनिज प्रमुख है। योरोपके जो राष्ट्र सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य नही है वे भी इस सस्थाके सलाहकार बन सकते है। इस सहयोग मूलक प्रयत्नोके कुछ उदाहरण ये है: अग्रेजो ने अपनी कुछ बोझा ढोनेवाली मोटर गाडिया जर्मनी के फ्रास अधिकृत प्रदेशके लिए दी, इटलीसे कुशल मजदूर लाये गये, जर्मनीके अमेरिकी-क्षेत्रसे स्टीम बेलचे (शॉवेल) व बुलडोजर मशीनें भेजी गयी। अमेरिका ने टेक्नीशियन भी दिये। अन्तर्राष्ट्रीय बैंकसे मिले ऋणने योरोपके बहुत बडे भागकी आर्थिक स्थिति सभालनेमें मदद की है।

एशिया और सुदूर-पूर्वके आर्थिक आयोगका प्रधान कार्यालय बैंकॉक में है। सयुक्त राष्ट्र सघकी अन्य सस्थाओकी भाति इस आयोगको भी अपनी इच्छा लागू करनेका वैधिक अधिकार प्राप्त नही है। आर्थिक और सामाजिक परिषदके सामान्य निरीक्षणमें यह आयोग जो भी निर्णय करता है उन्हे सम्बन्धित देशोकी स्वीकृतिसे ही कार्यान्वित किया जा सकता है। क्षेत्र विशेषके देशोको आयोग एकत्र करता है ताकि वे उस क्षेत्रसे सम्बन्धित सामान्य प्रश्नो पर विचार विमर्श कर सके। ऐसा पहले उन्होने कभी नही किया था। यह एक ऐसा मच है जहा एकत्र होकर क्षेत्र विशेषकी सरकारे सामूहिक रूपसे अपनी सामान्य आर्थिक समस्याओ पर विचार करती है। इसके निश्चित विशिष्ट कार्य ये है:

(१) सामूहिक सुसगठित कार्योकी शुरुआत करना और उनमे भाग लेना।

(२) आर्थिक और प्राविधिक (technological) समस्याओ तथा विकास कार्योकी जाच पडताल और अध्ययन करना या करवाना।

(३) आर्थिक, प्राविधिक और सास्यिक सूचनाओके सचय, मूल्याकन और वितरणका कार्य करना या कराना।

आयोगका कार्य निम्नलिखित विभागोमें होता है: कृषि, औद्योगिक विकास प्राविधिक प्रशिक्षण और सहायता, व्यापारकी उन्नति, बाढ नियत्रण और शोध।

लैटिन अमेरिका के लिए बने आर्थिक आयोगके कार्य-कलाप भी शेष दोनो आयोगोके कार्योके समान ही है। यह आयोग उस क्षेत्रके विभिन्न राष्ट्रोंके आर्थिक साधनोके बीच सहयोग और समन्वय कायम करनेमें लगा हुआ है।

आर्थिक और रोजगार आयोग ससारकी आर्थिक स्थिति और गति पर अपनी नियमित रिपोर्ट दिया करता है। मुद्रा आयोग सयुक्त राष्ट्र सघकी विभिन्न सस्थाओ को, प्रार्थना किये जाने पर प्राविधिक परामर्श, सूचना और सहायता दिया करता है। इस विषय पर दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है।

सांख्यिक आयोग (Statistical Commission), जैसा कि इसके नामसे ही प्रकट है, सांख्यिक सूचनाएं संग्रह करता है। परिवहन (transport) और संचार (communications) आयोगका काम दूर-संचार (tele-communications), डाक, हवाई, जल और स्थल परिवहन आदिसे सम्बन्धित है।

पुनर्निर्माण और विकासके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (The International Bank for reconstruction and Development)

इस बैंककी अधिकृत पूंजी एक करोड़ अमेरिकी डालर है। यह पूंजी एक-एक लाख डालरके हिस्सोंमें बटी है। इन हिस्सोंको केवल सदस्य ही खरीद सकते हैं और वे केवल बैंकको ही हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। १५ फरवरी, १९५४, को ५५ सदस्य राष्ट्रों द्वारा जमा की गयी पूंजी स्वर्ण, अमेरिकी डालरों और विभिन्न सदस्य राष्ट्रोंकी मुद्राओंमें २०,३८,५०० डालर यानी अधिकृत पूंजीकी २० प्रतिशत थी।

सदस्य राष्ट्रोंकी विकास योजनाओं और कार्यक्रमों पर विचार विमर्श करनेके लिए अथवा जिन योजनाओंके लिए कर्जकी मांग की गयी है उनके लिए आर्थिक सहायताकी सम्भावना आदिके सम्बन्धमें बैंक अपने सदस्य राष्ट्रोंके साथ बराबर लिखा पढ़ी करता रहता है। सदस्य राष्ट्रोंको प्राविधिक परामर्श देने, दीर्घकालीन विकास योजनाएं बनानेमें सहायता देने अथवा ऋणके उपयोगके सम्बन्धमें बैंकके प्रतिनिधि सदस्य देशोंका दौरा किया करते हैं।

बैंक अपने कर्जों पर निगरानी भी यह देखनेके लिए रखता है कि जिन प्रसाधन सज्जा (equipment), सामान और वस्तुओंके लिए सदस्य राष्ट्रोंको पैसा दिया जाता है उनका उपयोग उन्हीं कामोंमें ही होता है जिनके लिए वह दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक निम्नलिखित पांच सिद्धान्तोंके आधार पर यह निश्चय करता है कि कर्ज दिया जाय या नहीं.

(१) यदि कर्ज देने वाला किसी अन्य सूत्रसे उचित शर्तों पर कर्ज पा सकता है तो बैंक ऋण नहीं देगा, जिस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए ऋण मांगा जा रहा है वह चाहे जितनी उपयोगी क्यों न हो।

(२) दूसरा सिद्धान्त यह है कि साधारणतया बैंक किसी देशको उसकी योजना से सम्बन्धित विदेशी सामान और सेवा प्राप्त करनेके लिए आवश्यक विदेशी रकमका ही ऋण देगा।

(३) तीसरा सिद्धान्त यह कि ऋण तभी दिया जाता है जब कर्ज लेनेवाला और उसका जामिन मूलधन और ब्याज अदा कर सके।

(४) चौथा सिद्धान्त यह है कि बैंक सबसे अधिक उपयोगी और आवश्यक योजनाओंको ही वरीयता (preference) देगा।

(५) पांचवीं शर्त यह है कि कर्ज लेनेवालेमें इतना ज्ञान, कौशल और आर्थिक साधन हों कि वह योजनाको सफल बना सके।

बैंकके कोषका उपयोग करनेवाली भारतकी प्रधान योजनाओंमें से एक दामोदर घाटी योजना है। सन् १९५२ में दूसरा कर्ज इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनीको अपनी फैक्टरियां और खानें बढ़ानेके लिए दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund). "एवरी मैंस युनाइटेड नेशंस" नामक ग्रन्थके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोषके उद्देश्य प्रधानतः निम्नलिखित हैं:

आर्थिक नीतिके प्रधान उद्देश्यकी सिद्धिके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके विस्तार और सन्तुलित विकासकी सुविधा प्रस्तुत करना और इसके द्वारा रोजगार और वास्तविक आयका स्तर ऊंचा करना और उसे कायम रखना तथा सभी सदस्योंके उत्पादक साधनोंकी उन्नतिमें सहायता देना,

मुद्रा विनिमयकी स्थिरताको बढ़ावा देना, सदस्योंके बीच व्यवस्थित विनिमयका प्रबन्ध करना और प्रतियोगिता मूलक विनिमय-मूल्यावरोह को बचाना या रोकना,

उपयुक्त सरक्षणोंके अन्तर्गत सदस्योंके लिए कोषके साधन सुलभ बनाकर उनमें विश्वास उत्पन्न करना।

पिछड़े या अर्धविकसित देशोंके[१] आर्थिक विकासके लिए प्राविधिक सहायता (Technical Assistance for the Economic Development of underdeveloped Countries). यह सहायता संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी संस्थाओं द्वारा दी जाती है। यह योजना १९४९ में बनायी गयी थी। इस योजनाके अन्तर्गत आत्म-सम्मान खोये बिना और राजनीतिक हस्तक्षेपके भयसे मुक्त सहायता प्राप्त की जा सकती है। रकम खर्च करनेके पहले प्राविधिक ज्ञानकी कमी पूरी करना आवश्यक होता है।

प्राविधिक सहायता केवल सलाह, प्रशिक्षण, विधि-प्रदर्शन और कौशल इकट्ठा कर देनेके रूपमें होती है (Technical assistance is simply advice, training, demonstration, and the pooling of 'know how')। बर्मा ने अपने साधनोंका पता लगाने और उनका समुचित विश्लेषण करनेके लिए संयुक्त राष्ट्र संघसे एक सांख्यिक (statistician) की सहायता मांगी थी। मेक्सिको ने अपने कोयलेके अधिक उत्तम उपयोगके सम्बन्धमें परामर्श देनेके लिए तीन विशेषज्ञोंकी सहायता मांगी थी। ईरानने राजस्व, चुंगी, आयात-निर्यात-कर, और संगठनके सम्बन्धमें सहायताकी प्रार्थना की थी। स्याम ने जल साधनोंके विकास और नियन्त्रणके लिए खाद्य और कृषि संगठनसे सहायता मांगी थी। औद्योगिक मजदूरोंके स्वास्थ्य और

---

[१] इस विभागकी सामग्री 'इण्टरनेशनल कांसिलिएशन' जनवरी, १९५०, नं० ४५७ से ली गयी है।

निरीक्षणका सर्वोत्तम प्रबन्ध कैसे किया जाय—इसका अध्ययन करनेके लिए मिस्र ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठनसे सहायता मांगी थी। एथियोपिया ने सफाई निरीक्षकों और अस्पताली कर्मचारियोंका प्रशिक्षण आरम्भ करनेके लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठनसे सहायता मांगी थी। भारत ने तपेदिक निरोधक बी० सी० जी० के टीके लगानेके विधिके प्रदर्शनकी प्रार्थना की थी।

सहायता निम्नलिखित रूपोंमें दी जाती है—विदेशोंमें अध्ययनके लिए छात्र-वृत्तियां, गोष्ठियां, विशिष्ट सहायताएं—जैसे इक्वेडारमें आये भूकम्पमें पीड़ितोंको, विशिष्ट समस्याओंका अध्ययन, जैसे लेटिन अमेरिका में भूकम्पसे ध्वस्त एक नगर की समस्याओंका, और साधारण ज्ञानकी बातोंका प्रचार। कुछ रासायनिक द्रव्यों और स्प्रे-मशीनोंकी सहायता पा जानेसे यूनान मलेरियाके मच्छरोंसे मुक्ति पा गया। भारत भी इस दिशामें बढ़ रहा है, पर द्रुतगतिसे नहीं।

पथ-प्रदर्शक योजनाओंकी व्यवस्था करके तथा प्रदर्शन दस्तों और विशेषज्ञों को भेज कर लोगोंके जीवन स्तरको ऊंचा उठानेमें भी सहायता दी जाती है। उन्नतिशील और अल्प-विकसित दोनों प्रकारके राष्ट्रोंको गवेषणा कार्यों और विचारोंके विनिमयसे लाभ होता है। उदाहरणके लिए, चीनके कुछ फलों और तरकारियोंके बीज अमेरिकी बीजोंसे अच्छे पाये गये और तुरन्त उनकी मांग अमेरिका में बढ़ गयी। अब यह अनुभव किया जाता है कि अल्पविकसित क्षेत्रोंमें उत्पादन बढ़नेसे लोगोंकी क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और फलतः औद्योगिक और उत्तम कोटिकी वस्तुओंकी अधिक मांग होने लगती है। इससे नये बाजार उपलब्ध हो जाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघकी प्राविधिक सहायता योजनाका प्रशासन और कार्यान्वय दैनिक कार्योंके लिए जिम्मेदार, एक प्राविधिक सहायता बोर्ड द्वारा, और एक प्राविधिक सहायता समितिके द्वारा होता है। समिति आर्थिक और सामाजिक परिषदकी ओरसे निरीक्षणका काम करती है।

यह सिद्ध करनेके लिए किसी तर्ककी जरूरत नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय तत्वावधान में मिलनेवाले प्राविधिक सहायता हर हालतमें किसी एक देशसे मिलनेवाली सहायता से कहीं अच्छी है। (१) इसमें सशयसे अपेक्षाकृत मुक्ति रहती है। (२) अनेक राष्ट्र अपने अनुभवको एक साथ संचित और संगठित कर सकते हैं, और इस बातकी लाभदायक अनुभूति प्राप्त करते हैं कि किसी भी देशको प्राविधिक ज्ञान पर एकाधिकार नहीं प्राप्त है। (३) कोई-कोई समस्या ऐसी होती है कि उसके सम्बन्धमें अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई आवश्यक हो जाती है। हैजा और चेचक जैसी महामारियां, या टिड्डी जैसी आपदाएं भौगोलिक सीमाओंको नहीं मानतीं। संयुक्त राष्ट्र संघने योजनाओंके समन्वय और मिलकर काम करनेकी आवश्यकता और महत्वको अच्छी तरह साबित कर दिया है।

खाद्य और कृषि-संगठन (Food and Agriculture Organisation). यह आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रमें संयुक्त राष्ट्र संघके सबसे उत्तम संगठनोंमें से एक

है। अपने जीवनके प्रारम्भिक वर्षोंमें इसने खाद्यान्नकी कमी और अकालोंसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओं पर ध्यान दिया। अब यह कुछ दीर्घकालीन योजनाओं पर भी ध्यान देनेमें समर्थ हो गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघके कई एक संगठनोंने हिमालयकी तलहटीमें तराई क्षेत्रको कृषि योग्य बनानेमें सहायता दी है। इस क्षेत्रमें मलेरियाका जोर था और इसमें दलदल बहुत थी, यद्यपि किसी समय इसमें अच्छी खासी खेती-बारी होती थी। सन् १९४९ में संयुक्त राष्ट्र संघ और भारतके विशेषज्ञों द्वारा यहां मलेरियाके मच्छरोंके विरुद्ध युद्ध छेड़ा गया। जब यह युद्ध जीत लिया गया तब खाद्य और कृषि संगठनने यहां आधुनिक कृषिके एक सुनियोजित विकासमें भारत सरकारका साथ दिया। एक कृषि इंजीनियर, एक ट्रैक्टर चलाने वाला, एक कृषि मशीनरी विशेषज्ञ, एक वनस्पति-शास्त्रका ज्ञाता और विभिन्न देशोंसे आये ऐसे ही अन्य विशेषज्ञ तराईकी कायापलट करनेमें जुट गये।

हिन्देशियाका मत्स्य (मछली) उत्पादन एक दूसरा क्षेत्र है जिसमें खाद्य तथा कृषि संगठनने अच्छा काम किया है। हिन्देशियामें धानकी फसलके साथ-साथ छोटी मछलियां भी पैदा की जाती हैं। दोनों फसलें एक साथ तैयार होती हैं। मछलियां छोटे मच्छरोंको खाती हैं और जमीनको उपजाऊ भी बनाती हैं। मछलियोंसे किसानों को अतिरिक्त भोजन मिल जाता है और आमदनी भी हो जाती है। खाद्य तथा कृषि संगठनके विशेषज्ञोंकी सहायतासे हिन्देशियाके अनुभव हैटी (Haiti) आदि अन्य देशोंके लिए सुलभ बनाये गये। इसराईल भी इसका प्रयोग करनेकी कोशिश कर रहा है। जब थाइलैण्डके किसानों ने खेतोंको सूखनेसे बचानेके लिए अपनी धानकी फसलका बलिदान करना शुरू किया—तीन महीनेमें धानकी फसल तैयार हो जाती है—तब खाद्य तथा कृषि संगठनके विशेषज्ञोंने एक तरीका निकाला जिससे धान भी नष्ट न हो और मछलियां भी न मरें। यह तरीका था किसानोंको ऐसे गढ़े खोदनेके लिए प्रोत्साहित करना जिनमें मछलियां खेतोंमें फिर पानी भरने के समय तक सुरक्षित रह सकें।

भारत सरकारने खाद्य तथा कृषि संगठनके तत्वावधानमें एक चावल शोधशाला खोली है। इस शालाके कार्यमें एशियाके अन्य दस देश भी साझेदार हैं।

खाद्य तथा कृषि संगठन "रिण्डर पेस्ट" नामक पशुओंकी एक बीमारीसे भी मोर्चा ले रहा है। इस बीमारीसे निकट और सुदूर पूर्वके देशोंमें हर साल लाखों पशु मरते हैं।

यूनान, ग्वाटेमाला, फ़िलिपाइन्स और थाइलैण्ड में पोषण-खाद्य-सम्बन्धी कार्योंमें समन्वय स्थापित किया गया है।

खाद्य तथा कृषि संगठनके द्वारा योरोपीय इमारती लकड़ीकी पूर्ति (supply) में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस संस्थाने लैटिन अमेरिकी देशोंको अपने राष्ट्र साधनोंके विकासकी योजना बनानेमें भी सहायता दे दी है।

खाद्य तथा कृषि संगठन इस प्रकार प्राविधिक सहायताकी कई योजनाएं पूरी कर चुका है। इन योजनाओंका लक्ष्य अल्पविकसित क्षेत्रोंके उत्पादन-कौशलकी उन्नति करना है। इस कामका अधिकांश संयुक्त राष्ट्र संघकी संवर्धित (expanded) प्राविधिक सहायता योजनाके अन्तर्गत किया जाता है।

जमींदारीकी समस्याका खाद्य तथा कृषि संगठनने विशेष अध्ययन किया है। इस संगठनने जापानमें किये गये प्रयोगोंके लाभोंको अन्य देशोंके लिए सुलभ बना दिया है। जापानमें कब्जा अधिकारियों (occupation authorities) ने ५० लाख एकड़ जमीन जमींदारोंसे खरीद लेनेका आदेश दिया। फिर यह जमीन किसानोंको उचित मूल्य पर बेच दी गयी। किसानोंको जमीनकी कीमत किस्तोंमें तीस वर्षोंमें चुकानी पड़ेगी और केवल ३·२ प्रतिशत ब्याज देना पड़ेगा।

खाद्य तथा कृषि संगठनने सन् १९४६ में पहली बार विश्व खाद्य-सर्वेक्षण (survey) कराया और दूसरी सर्वेक्षण रिपोर्ट १९५२ में प्रकाशित हुई। इसने १९५० में विश्व-कृषि आकलन (World Census of Agriculture) की व्यवस्था कराई।

अधिक अन्न और दूसरी फसलें कैसे पैदा की जायं, टिड्डी जैसे नाशक कीडों और पौधों तथा पशुओंकी बीमारियोंका नियन्त्रण कैसे किया जाय, जिस खाद्यकी कमी हो उसकी रक्षा कैसे की जाय और साधारणतया खेतों, मत्स्य क्षेत्रों और जंगलों की पैदावार कैसे बढ़ाई जाय—आदि समस्याओंके सम्बन्धमें प्राविधिक सहायता चाहनेवाले देशोंकी सहायताके लिए खाद्य तथा कृषि संगठन अपने विशेषज्ञ भेजता है। भूमि संरक्षण (soil conservation) और खादोंके उपयोगके सम्बन्धमें भी वह परामर्श देता है। संक्षेपमें वह वैज्ञानिक सूचनाओंका विनिमय गृह है। वह ऐसी प्राविधिक सहायता देता है जिसके लिए राष्ट्र संघके अधीन कोई सुविधा न थी। अपने विशिष्ट कार्यक्षेत्रके सम्बन्धमें वह राष्ट्रोंके बीच समान वैधिक व्यवस्थाओंको भी प्रोत्साहित करता है।

खाद्य तथा कृषि संगठनने अनेक क्षेत्रीय खाद्य सम्मेलनोंकी व्यवस्था की है। उसने अनेक देशोंको मक्काके प्रसंकर बीज (hybrid corn) तथा अन्य उन्नत बीजोंके नमूने भेजे हैं। कृषि मजदूरोंके लिए उसने प्राविधिक पत्रिकाएं तथा अन्य प्रकाशन वितरित किये हैं। इथियोपिया और कुछ योरोपीय देशोंमें पशु चिकित्साके लिए उसने थोड़ा बहुत सामान भेजा है। उसने अच्छी नसलके पौधों और पशुओंका एक सूची पत्र तैयार कराया है।

यातायातकी सुविधाओंमें सुधार (Improvement of Transport Facilities). ईरानमें, धरतीकी बनावटके कारण, यात्रा करना बहुत कठिन होता है। यह कठिनाई दूर करनेके लिए हवाई यात्राका विस्तार ही ठीक समझा गया। अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक-उड्डयन संगठन (International Civil Aviation Organisation) ने जो संयुक्त राष्ट्र संघसे सम्बद्ध उसकी विशेषज्ञ संस्थाओंमें

से एक है, अपने विशेषज्ञोंको इस समस्याका अध्ययन करने और ईरानकी हवाई यात्रा के विकासमें उसे परामर्श देनेके लिए तथा जमीन पर काम करनेवाले दलके प्रशिक्षणमें ईरानी सरकारके नागरिक उड्डयन विभागको सहायता देनेके लिए ईरान भेजा।

एक दूसरा क्षेत्र जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघ यानायातकी सुविधाओंका सुधार करने में व्यस्त रहा है, पूर्वी पाकिस्तान तथा अन्य कुछ ऐसे देश हैं जहां जल मार्ग ही परिवहन का प्रधान साधन है।

५. सामाजिक, मानवतावादी और सांस्कृतिक क्षेत्रोंमें सफलताएं (Accomplishments in the Social, Humanitarian and Cultural Fields)

मानव अधिकार. यदि संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं समेत सभी सरकारोंका प्राथमिक कर्तव्य मनुष्यके कल्याणकी वृद्धि है तो मानव अधिकारोंका प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्र संघ (League of Nations) ने सभ्य जीवनके कुछ अधिकारों पर विचार किया था, पर संयुक्त राष्ट्र संघने अनेक सांस्कृतिक अधिकारोंको भी विचारणीय विषयोंमें शामिल कर लिया है।

आर्थिक और सामाजिक परिषदके जरिए ऐसे अनेक अध्ययन किये गये जिनमें तथाकथित सांस्कृतिक अधिकार भी आ गये। इन अध्ययनोंके परिणाम मानव अधिकारोंके अन्तर्राष्ट्रीय विधेयकके रूपमें संयुक्त राष्ट्रके सम्मुख पेश किये गये। सावधानीपूर्वक विचार-विमर्श करनेके बाद आम सभाने १० दिसम्बर, १९४८, को मानव अधिकारोंका विश्व घोषणा-पत्र स्वीकार किया। यह घोषणा-पत्र अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर सभी मनुष्योंकी जन्म-जात स्वाधीनताओं और उनके जन्म-जात अधिकारों की परिभाषा करता है। इनमें निम्नलिखित शामिल हैं: जीवन, स्वाधीनता और शरीरकी सुरक्षाका अधिकार, न्यायालयोंमें निष्पक्ष न्याय (a fair trial) का और मनमानी गिरफ्तारीसे मुक्तिका अधिकार, विधिके सम्मुख समानता, समान सुरक्षाका अधिकार, स्वच्छन्द घूमनेका अधिकार, राष्ट्रीयताका अधिकार, सम्पत्ति रखनेका अधिकार, विचार, विवेक और धर्मका अधिकार, स्वतन्त्र मत और मत-अभिव्यक्तिका अधिकार, सभा करनेका और संघ बनानेकी स्वाधीनताका अधिकार, अपने देशकी सरकारमें भाग लेनेका अधिकार, सामाजिक सुरक्षाका अधिकार, काम करनेका अधिकार, रोजगारके स्वतन्त्र चयनका और समान कार्यके लिए समान वेतन पानेका अधिकार, विश्राम और अवकाशका अधिकार, जीवनके समुचित मान-दण्डका अधिकार, शिक्षाका और अपने देशके सांस्कृतिक जीवनमें भाग लेनेका अधिकार।

इनमें से अनेक अधिकारोंको 'शब्द मात्र' कहा गया है। फिर भी जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे शक्ति और अर्थ प्राप्त कर लेना शब्दोंकी प्रकृति होती है।

आयिक और सामाजिक आयोगने मानव अधिकार आयोगसे कहा कि वह मानव अधिकारो पर एक प्रसंविदा (covenant) का प्रारूप तैयार करे और उसके लागू किये जानेके उपायोंकी एक रूपरेखा बनाये। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा इन मानव अधिकारोंकी प्राप्ति और सुरक्षा की जा सके तथा अदालतो द्वारा उन्हें लागू किया जा सके तो संसार भरके लोगोंके लिए न्याय सुलभ बनानेकी दिशामें हम बहुत बड़ा कदम उठायेंगे।

इन स्वाधीनताओंके प्रश्नोंसे सम्बन्धित कुछ मामलोंमें कई एक कदम उठाये जा चुके हैं। इन कदमोंमें निम्नलिखित विषयोंका अध्ययन भी है: अल्पसंख्यकों के अधिकार, मजदूर संघोंके अधिकार, बेगार और दासताकी समस्या, वृद्धावस्थाके अधिकार, जाति संहार (genocide), महिलाओंकी स्थिति, महिलाओंके लिए शिक्षाकी सुविधा, विवाह और सामाजिक प्रश्न। संसारके कम भाग्यवान् बच्चोंकी सहायता करनेवाले दो संगठन ये हैं: संयुक्त राष्ट्र संघका अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष और बालकोंके लिए संयुक्त राष्ट्र संघीय चन्दा फण्ड।

सामाजिक, मानवतावादी और सांस्कृतिक क्षेत्रोंमें संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये जानेवाले कार्यका लेखा-जोखा करते समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (ILO), संयुक्त राष्ट्र संघका शिक्षा, सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन (UNESCO) तथा अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन (IRO) द्वारा किये गये कार्यों पर भी विचार करना होगा।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization—WHO). इस संगठनकी स्थापना सन् १९४८ में उस समय हुई जब २८ सदस्य राष्ट्रोंने इसके विधानको स्वीकार कर लिया। इसकी स्थापनाके पहले ही सितम्बर सन् १९४७ में मिस्रमें हैजेकी महामारीका प्रकोप हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघने तुरन्त संसार भरके विशूचिका (cholera) विशेषज्ञोंको एकत्र किया और आवश्यक सामग्री जुटाई। दिसम्बरका अन्त होते-होते महामारी मिटा दी गयी।

विश्व स्वास्थ्य संगठन, जन स्वास्थ्य और रोगोंके नियंत्रणके सम्बन्धोंमें अपने सदस्य राष्ट्रोंको परामर्श देता है। मलेरिया, तपेदिक, न्युपदंश (yaws) और उपदंश (syphilis) जैसी व्यापक बीमारियोंके विरुद्ध यह संगठन युद्ध छेड़े हुए है और यह युद्ध कोढ, टाइफस, पोलियो, डिफ्थीरिया व बिल्हार जियासिस[1] (bilharziasis) जैसी कम व्यापक बीमारियोंके विरुद्ध भी चल रहा है।

स्वास्थ्यके कुछ क्षेत्रोंमें—जैसे स्वास्थ्य और खाद्यकी सम्बन्धित समस्याओंमें—यह संगठन खाद्य और कृषि संगठन (FAO) के साथ मिलकर काम करता है—क्योंकि दोनोंके कार्यमें समानता होती है।

इस संगठन द्वारा की गयी कुछ विशिष्ट सेवाएं ये हैं:

---

[1] A disease caused by trematode worms parasite in human and other blood, Common in Egypt—Chamber's Twentieth Century Dictionary.

(१) मलेरिया पर काबू पानेके लिए यूनानको दी गयी सहायता; बीमारी ९५ प्रतिशतसे घटकर ५ प्रतिशत रह गयी।

(२) भारतको तपेदिक निरोधक बी० सी० जी० के टीका देना।

(३) एथियोपियाकी सरकारको डाक्टरी शिक्षाकी योजनाके सम्बन्धमें दिया गया परामर्श।

(४) बन्दरगाहोंकी सफाई करने वाले कर्मचारियोंके पुनर्वासके सम्बन्धमें इटलीको सरकारसे की गयी सिफारिशें।

(५) औषधियों, शरीर विज्ञान सम्बन्धी आवश्यकताओं और डाक्टरी साज-सामानके प्राप्त करनेमें अपने मेडिकल सप्लाई ब्यूरो द्वारा सरकारोंको दी गयी सहायता।

(६) जन-स्वास्थ्य और डाक्टरीके क्षेत्रमें अल्पविकसित देशोंकी सिफारिश पर सरकारी अधिकारियोंको दी गयी छात्र-वृत्तियाँ।

(७) मलेरिया विरोधी अभियानमें लगे देशोंको कीटाणु नाशक डी० डी० टी० देना और यक्ष रोगोंके नियत्रणमें व्यस्त देशोंको पेनिसिलीन देना।

संक्षेपमें हम यह सकते हैं विश्व स्वास्थ्य संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा कार्योंके संगति बैठानेवाले अधिकारीकी भांति काम करता है, शोध-कार्यको प्रेरणा और बल देता है, महामारियों और अन्य बीमारियोंको दूर करता है, पोषण, आवास, सफाई, विनोद, आर्थिक और कामकी परिस्थितियों तथा वातावरणसे सम्बन्धित स्वास्थ्य सफाईके अन्य पहलुओंमें सुधार करता है, खाद्य सामग्री, शरीर तथा औषधि निर्माण और अन्य ऐसी ही बातोंके सम्बन्धमें अन्तर्राष्ट्रीय मान-दण्डोंका विकास करता है, और उनकी प्रतिष्ठा और वृद्धि करता है।

संयुक्त राष्ट्र संघका अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष (UNICEF). यह सबकी एक और संस्था है जिसका स्वास्थ्यसे—विशेषकर बच्चोंके स्वास्थ्यसे—घनिष्ट सम्बन्ध है। सन् १९४६ में आम सभाने संयुक्त राष्ट्रके सहायता व पुनर्वास संगठनके अधूरे कामको पूरा करनेके लिए इसका संगठन किया था क्योंकि सहायता व पुनर्वास संगठन १९४६ में अपना काम बन्द करने जा रहा था। इस संगठनको संयुक्त राष्ट्र संघके बजटसे धन नहीं मिलता। यह संगठन सरकारों और व्यक्तियोंके स्वेच्छा दान और बड़े दिनके कार्डों (X'mas Cards) की बिक्रीसे मिलनेवाले धन पर टिका है।

संयुक्त राष्ट्र संघका अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष निम्नलिखित कार्यों पर विशेष ध्यान देता है—शिशु कल्याण और मातृ रक्षा सम्बन्धी सामान सज्जा, भोजन और औषधियां सुलभ बनाना, बीमारियों—विशेषकर बच्चोंकी बीमारियों—का नियन्त्रण करना, शिशु पालन, और भूकम्प, बाढ़, अकाल तथा ज्वालामुखियोंके उद्गारसे बच्चोंकी रक्षा व सहायता करना। इसके अतिरिक्त यह संस्था जच्चा-बच्चा कल्याण सेवाओंकी और प्रशिक्षणकी व्यवस्था भी करती है। यह संस्था

विश्व स्वास्थ्य सगठन और खाद्य व कृषि संगठनके साथ बडे घनिष्ठ सहयोगसे काम करती है।

इस कोषके दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम है: न्यूपदंश (yaws) और तपेदिक के विरुद्ध अभियान। हिन्देशिया की सरकारकी प्रार्थना पर वहा न्यूपदंशके विरुद्ध डटकर काम किया गया है। एशिया और अफ्रीकाके अन्य ऐसे देशोंमें भी जहा यह बीमारी फैली हुई है, अभियान छोडा गया है। इस कोषकी और विश्वस्वास्थ्य सगठनकी सहायतासे बी० सी० जी० के टीके लगानेका काम जन-प्रिय बनाया गया है। सन् १९५३ तक इस कोषके द्वारा दो करोड बीस लाख बच्चोको बी० सी० जी० टीका लगाया गया, तीस लाख बच्चे न्यूपदशकी बीमारीसे और एक करोड बीस लाख बच्चे मलेरियाकी बीमारीसे बचाये गये। पेनिसिलीन और डी० डी० टी० के निर्माण के लिए और बी० सी० जी० के टीके लगानेके लिए भारतको इस सस्थाने उदारताके साथ सहायता दी है। हाल ही में भारत सरकारने देशव्यापी कुष्ठ (कोढ) नियत्रण योजनाके विकासके लिए इसकी सहायता मागी है।

आम सभाने सर्वसम्मतिसे इस कोषको अनिश्चित काल तक चालू रखनेका प्रस्ताव पास किया है और उसे एक नया नाम दिया है—सयुक्त राष्ट्र सघका बाल कोष।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन **(International Labour Organization).** इसका विकास राष्ट्र सघसे सम्बन्धित एक स्वायत्त सस्थासे हुआ है। यह संस्था समूचे युद्ध काल भर काम करती रही और अब यह सयुक्त राष्ट्र सघसे सम्बद्ध एक विशेषज्ञ समिति है।

इस सगठनका वार्षिक सम्मेलन वेतन भोगी मजदूरोकी रक्षाके लिए विधियोंका विकास करता है। इसके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय करारोको प्रस्तावित करता है। इन प्रस्तावोंको सम्मेलनमें आये प्रतिनिधि अपने-अपने देश ले जाते हैं और अपनी सरकारोंके सम्मुख स्वीकार करनेके लिए पेश करते है। जो सरकार इन करारोमें से किसी को मान लेती है वह अपनेको इस बातके लिए बाध्य बना देती है कि वह हर वर्ष इसकी रिपोर्ट भेजे कि करारोंमे जिन विधियोकी मागकी गयी हैं उनके पास करनेके लिए क्या और कितना काम किया गया। सन् १९१९ से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठनने १०० से अधिक प्रस्ताव इस प्रकार भेजे हैं और १,३०० से अधिक स्वीकृतियोंकी सूचना उसे मिल चुकी है।

यह सगठन सरकारोको सलाह देता है कि मजदूरोकी रक्षा करनेवाले आधुनिकतम विधियोको किस प्रकार बनाया जाय। इसने हालमें अपना काम बढाकर ऐसी विधियोंके प्रशासनके विकासमें भी सहायता देना आरम्भ कर दिया है। रोजगार सम्बन्धी सेवाओं, श्रम सम्बन्धी सर्वेक्षणो और आकडो तथा औद्योगिक सुरक्षा और स्वास्थ्यका विकास भी यह सगठन करता है।

सन् १९४९ तक इस सगठनने निम्नलिखित कार्य खास तौर पर किये:

(१) श्रम-सम्बन्धी विधियों और कामकी परिस्थितियोंमें सुधारके सम्बन्ध में सरकारोंको परामर्श देनेके लिए अनगिनत श्रम विशेषज्ञोंको अन्य देशोंमें भेजा गया।

(२) विविध देशोंको रोजगार दिलानेमें सम्बन्धित सेवाओंके विषयमें एक छोटी पुस्तक-माला तैयारकी गयी।

(३) औद्योगिक प्रतिष्ठानों (Industrial establishments) के लिए सुरक्षा नियमों (safety regulations) की एक आदर्श संहिता बनायी गयी।

(४) कई क्षेत्रीय श्रम सम्मेलन किये गये।

(५) सन् १९४७ में हुए अपने दिल्ली सम्मेलनोंमें इसने सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं (social security systems) के विकासके सम्बन्धमें और छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों और हस्तकला व्यवसायोंको प्रोत्साहन दिये जानेके सम्बन्धमें छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों और हस्तकला व्यवसायोंको प्रोत्साहन दिये जानेके सम्बन्ध में विचार किया।

संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति संगठन (UNESCO) इस संस्थाका सम्बन्ध शिक्षा और संस्कृतिके विकाससे है। इस संस्थाका नियमन करने वाले संविधान पर १५ नवम्बर, १९४५, को हस्ताक्षर किये गये थे। इसका काम अपने सदस्य राष्ट्रोंके चन्देसे चलता है। दैनिक व्यवस्था २० सदस्योंकी एक कार्यसमिति करती है।

निरक्षरताका उन्मूलन इसके मुख्य कृत्योंमें से एक है। दक्षिणी एशिया और प्रशान्त महासागर क्षेत्रमें नौ करोड़ पचास लाख बच्चोंमें से पांच करोड़ तीस लाख बच्चोंको किसी प्रकारकी शिक्षा नहीं मिलती। प्रौढ़ोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें यह संगठन इस नतीजे पर पहुंचा है कि केवल अक्षर ज्ञान करा देनेसे कोई अधिक लाभ नहीं होता। उनके लिए ये बातें ज्यादा जरूरी हैं—अपने जीवनमें कुछ सीधे-सादे व्यावहारिक सुधार सीखना जैसे पीनेके पानीको उबालना, पाखानोंका खोदना, ऊंचे उठे रसोईघर बनाना, स्थानीय सामानसे ही अधिक अच्छे घर बनाना, स्वयं तरकारियां पैदा करके अपने भोजनमें सुधार करना, आदि।

ऐसी नयी-नयी बातें सीख लेनेके बाद लोग सिनेमा और अन्य तरीकोंसे शिक्षा पानेके लिए तैयार हो जायगे। संगठनके पास स्वयं इतना पर्याप्त कोष नहीं है कि वह शिक्षाका अथवा शिक्षकोंके प्रबन्धका व्यय उठा सके। वह केवल इन मसलों पर सरकारोंको सलाह देता है और साथ ही कुछ विशेष प्रकारके प्रशिक्षण और सज्जा (equipment) का प्रबन्ध कर देता है। शिक्षणके हर स्तर पर वह चित्रोंके अधिकाधिक उपयोगको प्रोत्साहन देता है। सन् १९५२-५३ में नई दिल्लीमें एक तीन महीनेकी गोष्ठी हुई थी जिसमें भारतीय शिक्षकोंको यह सिखाया गया था कि तात्विक शिक्षामें वे चल-चित्रों, तस्वीरों और अन्य दृश्य-साधनोंका किस प्रकार उपयोग करें। इसने सन् १९५३ में अरब-राज्योंका तात्विक-शिक्षा-केन्द्र खोला

गया था। इसके पाठ्य-क्रममें लिखना और पढ़ना सिखानेकी विधियां, घरेलू अर्थशास्त्र, स्वास्थ्य, कृषि और कुटीर-उद्योग शामिल हैं। ये केन्द्र पाठ्य पुस्तकें, प्रारम्भिक वाल पोथियां और दृश्य-साधन जैसे चल-चित्र आदि और शिक्षा पद्धतियों पर पुस्तकें प्रकाशित करता है।

यह संगठन साहित्यिक सामग्री, फोटोग्राफ और चल-चित्र आदिके अन्तर्राष्ट्रीय आवागमनके विकासमें सहायता करता है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय कॉपी-राइटको मान्यता करानेमें सहायता दी जिसके द्वारा लेखकों और कलाकारोंके अधिकारोंकी रक्षा होती है। पुस्तकोंके स्वतन्त्र व्यापार और वैज्ञानिक औजारोंके परीक्षणके सम्बन्ध में भी करार हो चुके हैं। विद्यालयोंकी पद्धतियोंके विकासके सम्बन्धमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो चुके हैं। संग्रहालयोंके संचालकोंके सम्मेलन बुलाये गये हैं जिनमें उन्हें और अन्य विशेषज्ञोंको इस बात में सहायता दी गयी है कि वे संग्रहालयोंका उपयोग जन-शिक्षाके महत्त्वपूर्ण साधनोंके रूपमें कर सकें।

भारत सरकारके सुझाव पर अन्धोंके लिए ब्रेल (लिखित वर्णमाला) का एक निश्चित स्तर निर्धारित किया गया है। सन् १९५४ में पेरिसके यूनेस्को भवनमें अन्ध-संगीतज्ञोंका एक सम्मेलन इसलिए बुलाया गया था कि ब्रेल-संगीत संकेतोंका मानदण्ड सुधारा जाय।

अमेरिका जैसे कठोर मुद्रा क्षेत्रों (Hard Currency Areas) से पुस्तकों और शिक्षा सम्बन्धी सामग्रीकी खरीदमें नरम मुद्रा क्षेत्रों (Soft Currency Areas) के सम्मुख डालरोंकी कमी जो कठिनाई पैदा करती है उसे दूर करनेके लिए इस संगठन ने कई लाख डालरके कूपन जारी किये हैं जिनसे ऐसे देश शिक्षा सम्बन्धी सामान खरीद सकते हैं।

अनउपजाऊ या ऊसर धरतीकी समस्याका अध्ययन करनेकी व्यवस्था करना इस संगठनकी एक विशेष योजना है। यह संगठन संयुक्त राष्ट्र संघकी प्राविधिक सहायता कार्यक्रममें भी भाग लेता है।

संयुक्त राष्ट्र संघके शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति संगठनके कुछ अन्य विशिष्ट कार्य निम्नलिखित हैं :

(क) लोगोंको अपना जीवन स्तर ऊंचा उठानेके लिए आवश्यक आधार भूत ज्ञान और उसकी विधियां सुलभ बनानेके उद्देश्यसे पथप्रदर्शक योजनाएं (पायलट प्रोजेक्ट्स) बनाना,

(ख) ग्रामीण क्षेत्रोंमें प्रौढ़-शिक्षा पर गोष्ठियां करना;

(ग) विशिष्ट समस्याओंमें सहायता देनेके लिए विशेषज्ञोंको भेजना;

(घ) वैज्ञानिकोंके बीच सम्पर्क स्थापित करना; और

(च) चल-चित्रों व रेडियो द्वारा शिक्षा देनेका, विज्ञान और सामाजिक उत्थान का और शैक्षिक व्यवस्था आदिका अध्ययन करनेके लिए छात्र-वृत्तियां देना।

६. पराधीन जगत (The Dependent World)

प्रन्यास व्यवस्थामें उन क्षेत्रोंकी स्थितिमें कुछ भी सुधार नहीं हुआ है जो पहले "मैन्डेट्स्" कहलाते थे और अब न्यास प्रदेश कहे जाते हैं। एक लेखकका कहना है: "नवीनता स्वरूपकी अधिक है, तथ्यकी कम"। न्यास प्रदेशोंका कुल क्षेत्रफल शेष पराधीन जगतकी तुलनामें बहुत कम है। अधिकतर पहलेके बी० और सी० श्रेणीके "मैन्डेट्स" ही आज न्यास प्रदेश हैं।

इनकी सूची इस प्रकार है :

न्यास-प्रदेश	प्रशासन सत्ता
कैमरून्स	ब्रिटेन
कैमरून्स	फ्रांस
न्यूगिनी	ऑस्ट्रेलिया
नौरू	ऑस्ट्रेलिया
रुआन्दा-उरुण्डी	बेल्जियम
टांगानिका	ब्रिटेन
टोगोलैण्ड	ब्रिटेन
टोगोलैण्ड	फ्रांस
पश्चिमी सामोआ	न्यूजीलैण्ड
सोमालीलैण्ड	इटली (दस वर्षके लिए, इसके बाद
इटलीका पुराना उपनिवेश	सोमालीलैण्ड स्वतंत्र हो जायगा)

लीबिया अब स्वतंत्र हो गया है।

पहलेकी व्यवस्थाकी तुलनामें प्रन्यास व्यवस्था कुछ अर्थोंमें पीछे ले जानेवाली और कुछ अर्थोंमें प्रगतिशील व्यवस्था है। राष्ट्र संघकी व्यवस्थामें एक निश्चित हिदायत यह थी कि 'अ' और 'ब' श्रेणीके 'मैन्डेट्स्' में खुले द्वारकी नीति कायम रखी जायगी। यह भी आदेश था कि किसी प्रकारकी स्थानीय किलेबन्दी या विदेशोंमें सेवा करनेके लिए देशी सेनाओंकी भर्ती नहीं की जायगी। ये पाबन्दियां संयुक्त राष्ट्र संघके घोषणापत्रमें नहीं है। प्रगतिशील बात यह है कि प्रन्यास परिषद सरकारी प्रतिनिधियोंकी संस्था है न कि स्वतंत्र विशेषज्ञों की।

व्यावहारिक तौर पर साम्राज्यवाद क्षेत्रमें कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। साम्राज्यवादी राष्ट्रोंने कुछ समय तक तो अपने अधिकृत प्रदेशोंके सम्बन्धमें रिपोर्ट या सूचनाएं दी। अब वह ऐसा करनेमें आना-कानी करते हैं और मर्मभेदी प्रश्नोंका स्वागत नहीं करते। अमेरिका तो आण्विक अस्त्रोंके जीवन संहारक प्रयोगोंके लिए प्रशान्तके अपने "सामरिक क्षेत्रों" को उपयोगमें लाते समय उन्हें अपनी बपौती

ही समझता है। सुरक्षा परिषदकी स्वीकृतिसे ये क्षेत्र-सैनिक अड्डे बना दिये गये है। एफ० एल० शूमन (F. L. Schuman) लिखते है : "कोई भी दूसरी शक्ति प्रन्यास व्यवस्थाको पुरानी उपनिवेशवादी व्यवस्थाके समान बनानेमें इतना आगे बढ़नेकी हिम्मत नही कर सका। "अमेरिकाको इन क्षेत्रोंमें सैनिक अड्डे बना लेनेकी सुरक्षा परिषद द्वारा स्वीकृति दिये जानेसे ही इस बातका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रन्यास व्यवस्था पुरानी उपनिवेशवादी व्यवस्था में कहां तक वास्तविक सुधार कर सकेगी।" (International Politics, पृष्ठ ३५२-५३—१९५३—का संस्करण)

व्यवहारमें प्रन्यास व्यवस्थासे अनेक लाभ हैं। चूंकि प्रन्यास परिषदके आधे सदस्य गैर साम्राज्यवादी राज्योंके प्रतिनिधि होते हैं इसलिए न्यास प्रदेशोका शासन करनेवाली शक्तियोंको अपने हर कदमका औचित्य सिद्ध करना होता है। विश्वके जनमतकी तेज निगाहे इन देशो पर रहती है। न्यास प्रदेशोंके व्यक्तियो और समुदायों दोनोंसे लिखित और मौखिक प्रमाण लिये जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघके दौरा करने वाले प्रतिनिधि मण्डल न्यास प्रदेश जाते हैं, मौके पर जाकर स्वयं वहाकी परिस्थितियोंका अध्ययन करते हैं और अपनी रिपोर्ट देते हैं। वार्षिक रिपोर्टों पर विस्तृत तौर पर विचार होता है। विभिन्न प्रदेशोंकी प्रशासनीय रिपोर्टोंकी परीक्षा करनेके बाद प्रन्यास परिषदने शासन करनेवाली सत्ताओंको कई एक सुझाव दिये हैं; जैसे जीवनके मानदण्डोंका सुधार, ऊंचे वेतन, शिक्षाकी सुविधाओंका विस्तार और स्थानीय शासनमें मूलनिवासियोंका अधिकाधिक प्रतिनिधित्व।

याचिकाएं (Petitions). सन् १९५२ में अपने ग्यारहवे अधिवेशनके समाप्त होने समय तक परिषद न्यास प्रदेशोंसे प्राप्त एक हजारसे अधिक याचिकाओं और सूचनाओं पर विचार कर चुकी थी। यह याचिकाएं राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मामलोंमें किये जानेवाले अन्यायोंके विरुद्ध वैयक्तिक शिकायतोंसे लेकर सामूहिक विरोधो तक सभी प्रकारकी होती है। तोगोलैण्डके "इवी" लोगोका एकीकरण करने और सामोआ को स्वशासनका अधिकार दिये जानेकी महत्त्वपूर्ण याचिकाओ पर परिषदने विचार किया है। अफ्रीकाके न्यास प्रदेशोंमें एक विश्वविद्यालय स्थापित करनेकी याचिकाको दो कारणोंसे अस्वीकार करना पड़ा था। पहला कारण था भाषा सम्बन्धी और आर्थिक कठिनाइयां तथा दूसरा कारण था अध्यापकों एवं विद्यार्थियोंकी कमी।

याचिकाओंकी संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी है कि उन पर विचार करनेके लिए अब एक स्थायी समिति बना दी गयी है।

७. वैधिक झगड़े (Legal Disputes)

जैसा ऊपर कहा जा चुका है अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके अधिकार क्षेत्र तीन प्रकार के हैं :

(१) स्वैच्छिक—धारा ३६,

(२) वैकल्पिक धाराको स्वीकार करनेवाले राष्ट्रोंके लिए वैकल्पिक, अनिवार्य और बाध्यकर अधिकार क्षेत्र (optional compulsory and obligatory jurisdiction for those states which acceded to the optional clause),

(३) परामर्श-मूलक अधिकार क्षेत्र।

सन् १९४५ से अब तक न्यायालयने अनेक मामलोंका फैसला दिया है; पर स्थानकी कमीके कारण हम यहा केवल निम्नलिखित तीन मामलोंका ही उल्लेख करेंगे :

(१) **कॉर्फू चैनल का मामला.** २ अक्तूबर, १९४६, को अल्वानिया के क्षेत्रीय समुद्रमें बिछायी गयी सुरंगोंसे ब्रिटेनके जहाजोंको क्षति पहुंची और अंग्रेज नाविक घायल हुए। कुछ दिन बाद अल्वानियाके अधिकारियोंकी अनुमति लिये बिना अंग्रेजी बेड़ेने सागरकी सफाई की और सुरंगोंका पता लगा लिया। पता लगा लेनेके बाद ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषदमें शिकायत की कि इन सुरंगोंके लिए अल्वानिया जिम्मेदार है।

चूंकि परिषद किसी फैसले पर न पहुंच सकी, इसलिए मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके सामने रखा गया। न्यायालयने सन् १९४९ में फैसला दिया कि (अ) अल्वानियाका गणतंत्र इन सुरंगों और विस्फोटोंके लिए जिम्मेदार है, (ब) अल्वानिया के क्षेत्रीय भागमें जाकर ब्रिटेन ने अल्वानिया गणतंत्रकी सम्प्रभुता भंग नहीं की और न दुर्घटनाके बाद उस सागरकी सफाई करके ही ब्रिटेन ने अल्वानिया की सम्प्रभुता भंगकी और (स) अल्वानिया ब्रिटेनको ८,४३,९४७ पौण्ड हर्जानेके रूपमें दे।

(२) **आंग्ल-ईरानी तेल कम्पनीका मामला (१९५२).** जब डा० मोसादिक (Mosadegh) के शासनमें ईरान ने अपने तेल संस्थानोंका राष्ट्रीयकरण कर दिया तब ब्रिटेन और आंग्ल-ईरानी तेल कम्पनीने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयमें प्रार्थना की कि जब तक मामलेका फैसला न हो जाय तब तक ईरान में उनके अधिकारोंको सुरक्षित रखनेके लिए अस्थायी कार्रवाई की जाय।

इसी बीच ईरान ने आंग्ल-ईरानी तेल कम्पनियों पर अधिकार कर लेनेका आदेश दे दिया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयने अपने ५ जुलाई, १९५१, के निर्णयमें अंग्रेज-सरकारकी इस प्रार्थनाको मान लिया कि ईरान के तेल झगड़े पर विचार न कर झगड़ेसे पूर्व की व्यवस्था को ही कायम रखा जाय। न्यायालयके बहुमतने अपने निर्णयमें दोनों सरकारोंको आदेश दिया कि वे ऐसा कोई काम न करें जिससे तेलके स्वतंत्र प्रवाहमें कोई बाधा पड़े। ब्रिटेन और आंग्ल-ईरानी तेल कम्पनीको उसी प्रकार तेल मिलता रहे जिस प्रकार १ मई, १९५१, के पूर्व मिलता था जब ईरान ने तेलका राष्ट्रीयकरण किया था।

न्यायालयने तेल उद्योग चालू रखनेके लिए एक निरीक्षक बोर्ड तैनात किये

जानेका सुझाव दिया जिसमें दो-दो सदस्य ब्रिटेन व ईरान के हों और पांचवां सदस्य किसी ऐसे तीसरे देशका प्रतिनिधि हो जिसे ब्रिटेन व ईरान आपसमें तय करें। ईरान की सरकारने इस सुझावको यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि यह व्यादेश (injunction order) के समान है।

तब १९ अक्तूबर, १९५१, को ब्रिटेन ने मामला सुरक्षा परिषदके सामने पेश किया। परिषद तब तक के लिए स्थगित हो गयी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय यह फैसला न कर दे कि न्यायालयको इस विवादग्रस्त मामले पर विचार करनेका अधिकार है या नहीं।

न्यायालयने यह फैसला दिया कि वह ब्रिटेन के इस अभियोगको नहीं मान सकता कि ईरान ने आंग्ल-ईरानी तेल कम्पनीकी ५० करोड़ पौण्डकी सम्पत्तिका *राष्ट्रीयकरण करके अन्तर्राष्ट्रीय विधिको भंग किया है और इसलिए न्यायालयको* आंग्ल-ईरानी तेलके झगड़े पर विचार करनेका अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दोंमें इस उद्योगके राष्ट्रीयकरणको ईरानके आन्तरिक अधिकार क्षेत्रका मामला माना गया।

(३) दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकाकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिका मामला. आम सभाके पहले अधिवेशनमें ही दक्षिणी अफ्रीका ने यह दावा किया कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के समादेशित प्रदेश (mandate) को जिस पर वह अब तक एक समादेशी की तरह शासन करता रहा था, अपनेमें मिला लेनेका उसे अधिकार है। आम सभा दक्षिणी अफ्रीकाके तर्कोंको माननेके लिए तैयार नहीं थी। इसलिए निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर उसने न्यायालयसे सलाह मांगी :

(अ) दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकाके समादेशित प्रदेशके प्रति दक्षिणी अफ्रीकाके क्या अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हैं ?

(ब) क्या दक्षिणी अफ्रीका को दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकाको अपनेमें मिला लेने का कोई वैधिक अधिकार है ?

११ जुलाई, १९५०, को न्यायालयने निर्णय दिया कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका अब भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समादेश ही है और दक्षिणी अफ्रीकाको दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकाकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिमें किसी प्रकारका परिवर्तन करनेका अधिकार नहीं है। न्यायालयने यह भी फैसला दिया कि समादेशकी शर्तोंमें ऐसी कोई बात नहीं है कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका अपना भू-प्रदेश दक्षिणी अफ्रीकाको दे या अपनी सम्प्रभुता उसको हस्तान्तरित करे। दक्षिणी अफ्रीका को जो एक मात्र काम सौंपा गया था वह यह था कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकाके निवासियोंकी ओर से उन्हींके कल्याण एवं उत्थानके उद्देश्यसे उस प्रदेशका शासन संभालें।

जब दक्षिणी अफ्रीका की सरकारने यह तर्क रखा कि चूंकि राष्ट्र संघ का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है, इसलिए समादेश भी समाप्त हो गयी तब न्यायालय ने बिल्कुल ठीक उत्तर दिया कि यदि समादेश समाप्त हो गयी है तो उस पर दक्षिणी अफ्रीका की अधिकार-सत्ता भी समाप्त हो गयी है।

रूस, बेल्जियम और चिली के प्रतिनिधि न्यायाधीशों द्वारा व्यक्त न्यायालयका अल्प मत इस पक्षमें था कि दक्षिण अफ्रीका को वैधिक तौर पर मजबूर किया जाना चाहिए कि वह समादेशित प्रदेशको संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रन्यास व्यवस्थाको सौंप दे क्योंकि शेष सभी समादेशी शक्तियोंने समादेश व्यवस्थाको प्रन्यास व्यवस्थामें परिवर्तित करना स्वीकार कर लिया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व सरकार
(The United Nations and World Government)

समय-समय पर लोग एक ऐसी विश्व सरकारका स्वप्न देखते रहे हैं जो राष्ट्रीय राज्योंको स्थानीय सरकारोंके स्तर पर उतार दे। ऐसे लोगोंमें विश्व विजेता और साम्राज्य निर्माता भी रहे हैं। पर जिन लोगोंका दृष्टिकोण लोकतन्त्रवादी है और जिनके हृदयमें राष्ट्रीय अधिकारों तथा राष्ट्रीय विरासतके प्रति कुछ सम्मान हैं वे लोग एक विश्व सभका सपना देखते रहे हैं। यदि १८वी शताब्दीमें नैपोलियन की चल पाती तो उसने कमसे कम योरोप भरके लिए अवश्य ही एकात्मक सरकार कायम कर दी होती। हिटलर ने भी इसी दिशामें सोचा और कार्य किया।

लोकतन्त्रवादी दृष्टिकोणसे इस समस्या पर विचार करने वालोंमें १९वीं शताब्दी के अंग्रेज कवि अल्फ्रेड टेनिसन (Alfred Tennyson) का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने "समूचे मानव जातिकी एक संसद और एक विश्व संघ" की कल्पना की थी। हमारे युगके एक दूसरे अंग्रेज एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) भी विश्वको एक इकाई मान कर सोचते और लिखते थे।

राजनीतिक तौर पर संसारको एक सूत्र में बांधने की यह उत्कण्ठा ओसाहृत नयी है। द्वितीय विश्व युद्धके पहले स्पेन के मदारियागा (Madariaga) ने विश्व संघके पक्षमें लिखा था। अन्य अनेक अमेरिकियो की भांति इस विषयके अमेरिकी अग्रदूत क्लेरेन्स स्ट्रीट (Clarence Streit) ने अमेरिकी संघवादके आधार पर पश्चिमी लोकतंत्रवादी राष्ट्रोंके एक संघ (Federal Union) का समर्थन किया था।

युद्ध समाप्त होनेके बादसे विश्व सरकारमें लोगोंकी रुचि बहुत बढ़ गयी है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र (charter) की स्याही सूखने भी न पायी थी कि आलोचकोंने यह कहना शुरू कर दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ शान्ति और सुरक्षाकी अन्तिम समस्याओं को हल करनेमें घोषणापत्रमें वीटोकी व्यवस्था होनेके कारण खासतौर पर असमर्थ है। राष्ट्रीय सम्प्रभुताके सिद्धान्तको बार-बार शान्तिके मार्गमें बाधक बताया जाता है और कहा जाता है कि जब तक राष्ट्रीय सम्प्रभुता का नियन्त्रण नहीं कर लिया जाता तब तक किसी प्रकार की भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था

असम्भव है। ध्यान देनेकी एक बात यह है कि किसी न किसी प्रकारकी विश्व सरकार के प्रति जो उत्साह है उसका कमसे कम एक अंश उस निराशाकी भावनासे पैदा हुआ है जिसका कारण संयुक्त राष्ट्रकी कार्रवाइयोंमें रूस का नकारात्मक या उत्तेजक रवैया रहा है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि विश्व सरकारके प्रति जो धार्मिक उत्साह दिखाई देता है उसके भीतर कभी-कभी रूस विरोधी भावना छिपी रहती है।

विश्व सरकारकी सफलताके लिए यह जरूरी है कि लोगोंमें विश्व समाजकी प्रबुद्ध चेतना और भावना हो। इसका मतलब यह नही है कि पहले एक पूर्ण विश्व समाजकी स्थापना हो जाय तभी विश्व सरकार सन्तोषजनक ढंगसे कार्य कर सकती है। दोनों एक दूसरेकी सहायता करेंगे ही। पर एक विश्व समाजकी स्थापनाकी दिशामें पहले कुछ प्रारम्भिक कदम उठाये जाने चाहिए तभी सगठित राष्ट्र और व्यक्ति विश्व सरकारके हाथोंमें अपना भविष्य सौंपनेके लिए तैयार होंगे। आज दिन ससारमें एक विश्व समाजकी कोई प्रबुद्ध चेतना नही है। संसारके प्रभावशाली राष्ट्रों में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवादी शोषण तथा जातीय विभेदको दूर करनेका कोई सकल्प नही दिखाई देता। मानव अधिकारो तथा व्यक्तिके गौरवके प्रति सम्मानकी भावना अधिकांश रूपमें अभी तक स्वप्न ही है। पिछड़े राष्ट्रोकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगतिमें सहायता देनेकी इच्छा भी अधिक गहरी नही है। जहा कही ऐसी इच्छा दिखाई भी देती है वहा वह राजनीतिक और सामरिक विचारोंसे दूषित है।

प्रसिद्ध अमेरिकी विचारक राइनहोल्ड नाइबुर (Reinhold Neibuhr) का कहना है कि विश्व सरकारके लिए विश्व समाज अत्यन्त आवश्यक है। उनका यह कथन बिल्कुल सही है कि विश्व समाजकी स्थापना वैधिक, सावैधानिक और सरकारी साधनो द्वारा नही की जा सकती। उन्हीके शब्दो में, "समाज पर दबाव डालकर उसमें मौलिक व्यवस्था कायम नही की जा सकती। मौलिक व्यवस्था तो आन्तरिक सलाग (innate cohesion) से ही उत्पन्न हो सकती है।" अभी तक ससारमें 'समदृष्टि भावना' नही दिखाई देती।

विश्व समाजकी प्रबल भावनाके अभावमें विश्व सरकार आसानीसे अत्याचार और दमन का साधन बन कर यथास्थितिको कायम रखने का प्रयत्न करेगी। ऐसी विश्व सरकारकी स्थापनाके बादकी स्थिति पहलेकी स्थितिसे भी बुरी ही होगी। कुछ सावैधानिक परिवर्तन मात्र हो जानेसे मानव प्रकृतिमें यकायक कोई आश्चर्यजनक परिवर्तन नहीं हो सकता। यह आशा नही की जा सकती कि जो लोग विश्व सरकार का संचालन करेंगे वे उन लोगोंसे बहुत अधिक अच्छे होंगे जो आज संयुक्त राष्ट्र सघ अथवा राष्ट्रीय सरकारोका सचालन कर रहे है। अपने वैयक्तिक, वर्गगत, जातीय, राष्ट्रीय अथवा आदर्शात्मक स्वार्थोंकी सिद्धिके लिए विश्व सरकारके सगठनके भीतर भी अपना घनिष्ठ गुट बना लेना उनके लिए बहुत सम्भव होगा।

"जैसा हमारा ससार है और जो साधन हमें प्राप्त है उन्हींसे हमें काम करना होगा।"

विश्व सघमें मतदान स्पष्टत. विश्वकी जनसख्याके आधार पर नही होगा। यदि जनसंख्याको ही आधार माना जाय तो सयुक्त राज्य अमेरिका को केवल ६ प्रतिशत ही वोट मिलेंगे। यदि आर्थिक उत्पादनशीलताको आधार माना जाय तो संसारके २० प्रतिशतसे भी कम जनसमाजको ७५ से ८० प्रतिशत तक वोट मिल जायगे और तब शेष ससार इसे एक साम्राज्यवादी षडयत्र मान सकता है। साक्षरता, राजनैतिक परिपक्वता और आर्थिक विकासके पक्षमें कुछ अधिक प्रतिनिधित्व (weighted representation) उचित मालूम होता है। पर एक विश्व समाजकी भावनाके अभावमें इस प्रकारके विचारोंके पीछे स्वार्थपरताको छिपाया जा सकता है। विश्व समाजकी प्रबल भावनाके अभावमें विश्व पुलिस दल अत्याचारी हो सकता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि लोकतत्रके कन्धों पर चढ कर शक्ति पानेके बाद ही हिटलर ने लोकतत्रका विनाश किया था। भावी अत्याचारी अथवा असीमित अहकार तथा महत्वाकाक्षावाले व्यक्ति ऊपर से दिखावे के तौर पर लोकतात्रिक पद्धतियोंसे काम करते हुए भी एक विश्व सरकारके साथ वही कर सकते हैं जो हिटलर ने लोकतत्रके साथ किया था।

विश्व सरकारके समर्थक बडी आसानीसे यह कल्पना कर लेते हैं कि यदि रूस और उसके अनुगामी राज्य अलग भी रहें तो भी शेष ससार उनके साथ आ जायगा। पर आज भी यह स्पष्ट दिखाई देता है कि रूसी और आग्ल-अमेरिकी गुटके अलावा ऐसी शक्तियोका एक तीसरा गुट भी बन रहा है जिन्हें तटस्थ तथा सकोचशील और कभी-कभी अवसरवादी भी कहा जा सकता है। पूर्वी देशोंमें अनेक लोग इस बातको समझने और माननेमें असमर्थ हैं कि सभी नैतिक और राजनीतिक अच्छाइया वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय वादविवादके एक गुटमें हैं और सभी बुराइया दूसरे गुटमें। पूर्वके कुछ राष्ट्र जिन्हें साम्राज्यवादी चगुलसे हालमें छुटकारा मिल गया है फिरसे अपनेको उस शृंखलामें बाधनेके लिए उत्सुक नही है। रूस के बिना विश्व सरकारको उस की आधी भी सफलता नहीं मिल सकती जितनी संयुक्त राज्य अमेरिका के बिना राष्ट्र संघ को मिली थी। रूस और तटस्थ राष्ट्रोंके बिना विश्व सरकार एक भारी-भरकम असफलता ही सिद्ध होगी।

सयुक्त राष्ट्र सघ के आलोचकोंने उसे अपना औचित्य सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त समय नही दिया। पौधेको बार-बार उखाड कर यह देखना कि उसकी जडें कितनी जम चुकी हैं, उसको पनपते देखनेका बहुत अच्छा तरीका नही है। सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार १६० वर्षोंसे अधिक पुरानी है। फिर भी वहाकी सीनेटने १९४९ तकमें नागरिक अधिकार योजनाके सम्बन्धमें अनावश्यक बाधा डाली है। ऐसी हालतमें जो काम संयुक्त राज्य अमेरिका १७० वर्षोंमें नही कर सका उसे संयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा इतने कम वर्षोंमें पूरा किये जाने की आशा कोई क्यों करे।

संयुक्त राष्ट्र-संघ के माध्यमसे विश्व-सरकार (World Government Via the United Nations)

इसी शीर्षकमें लिखते हुए क्लार्क एम० आइचेलबर्गर[१] (Clark M. Eichelberger) कहते हैं कि किसी न किसी हद तक विश्व सरकारकी आवश्यकता पर सभी लोग सहमत हैं। लोगोंमें मतभेद इस बात पर है कि विश्व सरकारकी स्थापना कब हो, उसका स्वरूप और उसकी अधिकार शक्ति क्या हो। संयुक्त राष्ट्र संघ राजनीतिक सुरक्षा, आर्थिक विकास और मानव अधिकारोंकी गारण्टी देकर इस दिशामें कदम उठा चुका है। इसलिए आइचेलबर्गर की रायमें संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र पर पुनर्विचार करनेका अभी उपयुक्त समय नहीं है। उनके कुछ तर्क निम्नलिखित हैं :—

(१) किसी भी अच्छी सरकारके लिए यह जरूरी है कि वह सामान्य हितों और आकांक्षाओं पर आधारित हो। आज हमें संयुक्त राष्ट्र संघ में विचारोंकी बढ़ती हुई एकता दिखाई देती है। यही विश्व सरकारका आरम्भ है। एशिया निवासी अधिकसे अधिक संख्यामें संयुक्त राष्ट्र संघ की परिषदोंमें आ रहे हैं जो विश्व समाज की स्थापनामें व्यावहारिक शिक्षा दे रही है। आइचेलबर्गर का विश्वास है कि ऐसे सम्बन्धोंसे जिनके परिणामस्वरूप पारस्परिक विश्वास और भरोसा पैदा हो सके, संयुक्त राष्ट्र संघ क्रमशः एक विश्व सरकारके रूपमें विकसित हो सकता है। उन्हीं के शब्दों में "विश्व सरकारका उदय हो चुका है और संयुक्त राष्ट्रके माध्यमसे उस का विकास होता ही रहेगा क्योंकि लोग उसे विकसित करने के लिए उत्सुक है।"

(२) संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणापत्र (charter) लचीला है और इसमें विकासकी गुंजाइश है। वह एक विकासशील आलेख है और इसलिए यह सम्भव है कि उसकी कुछ धाराओंकी उदार टीका की जाय जैसाकि सर्वोच्च न्यायालयके निर्णयोंके सम्बन्धमें किया जाता है। सैनफ्रान्सिस्को सम्मेलनके समय शायद ही कोई व्यक्ति अणुशक्तिकी बात जानता रहा हो फिर भी जब वह शक्ति एक तथ्य बन गयी तब उसके नियंत्रणकी भी व्यवस्था की गयी ; यद्यपि रूस ने उसे स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार बर्नाडॉट (Bernadotte) की दुर्भाग्यपूर्ण हत्याके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के महामन्त्री को यह अधिकार दिया गया कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ का एक रक्षक दल रखें जो संयुक्त राष्ट्र संघ की वर्दी पहने और उसके झण्डे के नीचे चले। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई प्रतिनिधि किसी देशकी सीमाके भीतर उस देशकी सरकारकी असावधानीसे या उसकी गुप्त सहमतिसे मारा जाता है या घायल किया जाता है तो संयुक्त राष्ट्र संघ उस देश पर क्षति पूर्तिका दावा कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दल कायम

---

[१] *The Annals of the American Academy of Social and Political Sciences*, July, 1949.

कर सकता है। आम सभाकी सिफारिशोंको अधिकाधिक अधिकार-शक्ति दी जा रही है और उसके प्रस्तावोंको अधिकाधिक अधिकार-सत्ता लगातार प्राप्त होती जा रही है। विवादों और संघर्षोंमें मध्यस्थता तथा समझौता करानेके लिए अधिकाधिक राष्ट्र संघीय प्रतिनिधि-मण्डल कायम किये जा रहे हैं। इन सब बातोंसे हमें आइचैल-बर्गर की भांति विश्वास करना होता है कि विधायिका और कार्यपालिकाके साधनोंसे नहीं बल्कि प्रशासकीय माध्यमसे विश्व सरकारकी स्थापना हो सकती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की निरन्तर बढ़ती हुई नैतिक अधिकार सत्ताको कोरियाई युद्धके बादसे कुछ धक्का लगा है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सुरक्षा परिषद द्वारा २७ जून, १९५०, को उत्तरी कोरिया के सम्बन्धमें की गयी तात्कालिक कार्रवाई ने संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा कायम रखी है। फिर भी यह एक खेदजनक बात है कि उस शान्ति मूलक कार्यकी बहुत कुछ उपेक्षाकी गयी है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्रके अनुसार सबका प्रधान उद्देश्य था। संयुक्त राष्ट्र संघ को किसी राष्ट्र का या कुछ राष्ट्रोंके एक गुटका सुविधाजनक चिट्ठीरसा बना देना उसे शक्तिशाली बनानेका तरीका नहीं है।

फिर भी जैसा कि आइचैलबर्गर कहते हैं संयुक्त राष्ट्र संघ दूसरा राष्ट्र संघ नहीं है। वह उत्तरोत्तर सम्प्रभु संस्था बनती जा रही है। बहुत समय नहीं बीता जब कैलिफोर्निया में एक न्यायाधीशने यह फैसला दिया था कि संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्रको और मानव अधिकार सम्बन्धी उसकी घोषणाको, जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट ने स्वीकार कर लिया है; अमेरिकी राज्य विधि पर प्रायमिकता प्राप्त है। यदि इस निर्णयको उच्चतर न्यायालय स्वीकार कर लें तो सम्प्रभुता सम्बन्धी परम्परागत धारणाओंमें बहुत बड़ा संशोधन हो जायगा।

यह दुबारा जोर देकर कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में वृद्धि और विकासकी पर्याप्त सम्भावनाएं हैं। यह विश्व सरकारका श्रीगणेश है। बुद्धिमानी इस बातमें है कि संयुक्त राष्ट्र संघ को कुछ इस ढंगसे चलाया जाय कि उसकी अन्तिम स्थिति विश्व सरकारकी प्रारम्भिक स्थिति हो अर्थात् संयुक्त राष्ट्र संघ ही अन्तमें विश्व सरकार बन जावे। हमारे कहनेका मतलब यह नहीं है कि हम विश्व सरकारका निर्माण अनन्त कालके लिए स्थगित करना चाहते हैं। हम तो यह चाहते हैं कि जितनी शीघ्र विश्व सरकारकी स्थापना हो सके उतना ही अच्छा है। हमारे कहनेका मतलब केवल इतना है कि केवल भावुकता और सावैधानिक परि-वर्तनोंसे ही नये युग का आरम्भ नहीं हो जायगा। विश्व सरकार तो तब सफल हो सकेगी जब संसारके मनुष्योंमें एक विश्व समाजके प्रति प्रबल निष्ठा उत्पन्न होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले मनुष्योंके चिन्तनमें गहरा नैतिक और आध्यात्मिक परिवर्तन हो तब विश्व सरकार बन सकती है। यदि पहले न हो तो साथ ही साथ होना तो लाजमी है। विश्व संघवादी एक सरल मार्ग खोजते हैं। आइचैलबर्गर के अनुसार, यदि उन्हें अपने प्रयत्नोंको सफल बनाना है तो उन्हें अपनेको पलायनवादिता

(escapism) से बचाना चाहिए। वे जड़ोंकी उपेक्षा कर, फलोंकी कामना करना सिखाते हैं। दूसरी ओर सर्वोच्च राष्ट्रीय सम्प्रभुताकी धारणाको दूर कर उन्होंने एक महान् कार्य किया है। उन्हें तथा अन्य लोगोंको दूसरा कदम यह उठाना है कि विश्व समाजको वास्तविकताका रूप दें और सम्बन्धित लोगोंका विश्वास प्राप्त करनेके लिए अपने-अपने देशके सद्आशयों को सिद्ध करें। संविधान द्वारा संसारकी रक्षा नहीं की जा सकती। संसारकी रक्षा ऐसे स्त्री और पुरुषों द्वारा हो सकती है जो समूची मनुष्य जाति के प्रति उत्कट निष्ठा रखते हों और अपनी सरकारों पर इस बातका दबाव डाल सकते हों कि वह अपने सभी नागरिकोंके साथ समान व्यवहार करे और परमात्माकी निम्नतम सृष्टिके प्रति भी अपनी जिम्मेदारियोंको पूरा करें।

SELECT READINGS

BENTWICH, N., AND MARTIN, A.—*A Commentary on the Charter of the United Nations.*

CHASE, E. P.—*The United Nations in Action.*

EAGLTON, C.—*International Government.*

EVATT, H. V.—*The United Nations.*

EVERYMAN'S UNITED NATIONS.

GOODRICH, L. M., AND HAMBRO, E.—*Charter of the United Nations.*

HALL, H. D.—*Mandates, Dependencies, and Trusteeships.*

HASLUCK, P.—*The Workshop of Security.*

LEONARD, HARRY—*International Organization.*

MANDERS, F.—*Foundation of Modern World Society.*

MEYER, CORD—*Peace or Anarchy.*

REEVES, EMERY—*The Anatomy of Peace.*

SCHWARZENBERGER, GEORG—*Power Politics.*

UNITED NATIONS—*Handbook of the United Nations and Specialised Agencies.*

UNITED NATIONS—*Yearbook of the United Nations.*

UNITED NATIONS—*These Rights and Freedoms.*

PERIODICALS

India Quarterly.

International Organization.

Documents of International Organization:

United Nations Bulletin.

Foreign Affairs.
Foreign Policy Reports.
Headline Series.
International Conciliation.
World Politics.
International Affairs.
World Report.

२१

समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराका विकास

(The Evolution of Socialistic and Communistic Thought)

"औद्योगिक समाजका जो विश्लेषण मार्क्स ने किया है, उससे हम सहमत हो या न हो, यह तो कहा ही जा सकता है कि मार्क्स का अध्ययन—जैसे अध्ययनके वे अधिकारी हैं—तब तक नहीं हो सकता जब तक यह न स्वीकार कर लिया जाय कि शायद रिकार्डोको छोड़ कर, अर्थ-विज्ञानके समूचे इतिहासमें, मार्क्स से बढ़ कर मौलिक शक्तिमान् और तीक्ष्ण बुद्धि मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ।" प्रो० ई० आर० ए० सेलिगमैन अपनी पुस्तक "इकॉनॉमिक इण्टरप्रेटेशन आफ हिस्ट्री" (इतिहासकी आर्थिक व्याख्या) में, पृष्ठ, ५६।

आधुनिक समाजवाद और साम्यवाद दोनो की उत्पत्ति एक ही मूल श्रोत कार्ल मार्क्स (Karl Marx) से हुई है। मार्क्स १८१८ से १८८३ तक जीवित रहे। उन के माता-पिता यहूदी विधि-शास्त्रियों (Jewish rabbis) के वंशज थे। सामाजिक न्यायकी प्रबल इच्छाके लिए यहूदी हमेशा से प्रसिद्ध है। मार्क्स के पिता प्रोटेस्टेण्ट इसाई हो गये थे। मार्क्स बुरे दिन देख चुके थे और लगता है कि इन बुरे दिनोका सामाजिक प्रश्नोंसे सम्बन्धित उनके विचारो पर गहरा असर पड़ा। जीवनके आरम्भ ही में उनमें और ऐंजेल्स (Engels) में मित्रता हो गयी थी। इस मित्रता के कारण दोनोंने राजनीतिक क्षेत्रमें तथा अनुसन्धान एवं पुस्तकें लिखनेमें मिल कर काम किया। अपने क्रान्तिकारी कार्योंके कारण मार्क्स को अपने जीवन के अनेक वर्ष एक राजनीतिक निर्वासीके रूपमें जर्मनी, हालैण्ड और फ्रान्स से बाहर बिताने पड़े। उनका बहुत-सा समय लन्दन में ब्रिटिश सग्रहालयमें बीता। अपने जीवन-कालमें वे योरोपीय मजदूर आन्दोलनोके सर्वमान्य नेता माने जाते थे। आज भी वह आधुनिक समाजवादके पिता माने जाते हैं। उन्होने ऐंजेल्स के साथ सन् १८४८ में कम्युनिस्ट पार्टीका घोषणापत्र प्रकाशित किया। उनका महान् ऐतिहासिक ग्रन्थ "डास कैपिटल" १८६७ में प्रकाशित हुआ था।

हीगेल और फ्योरबाख (Hegel and Feurbach) (१८०४–७२) का मार्क्स की विचारधारा पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। मार्क्स ने हीगेल से द्वन्द्ववाद (dialectic) की धारणा ली। द्वन्द्ववाद का अर्थ है कि दो विरोधी तत्वोंकी अन्तक्रियाके परिणामस्वरूप प्रगति होती है। हीगेल के अनुसार इतिहास द्वन्द्वात्मक मार्ग से अपने पूर्व निश्चित लक्ष्यकी ओर बढ़ता है। हीगेल ने द्वन्द्ववाद की शिक्षा विचारो के क्षेत्रमें दी थी, पर मार्क्स ने उसका उपयोग कार्य-क्षेत्र में किया। हीगेल ने द्वन्द्वात्मक

आदर्शवादकी शिक्षा दी पर मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी शिक्षा दी। इस विभेद पर लिखते हुए मार्क्स ने दावा किया कि वह हीगेल को सीधा खड़ा कर रहे हैं। उनका कहना था कि "हीगेल ने द्वन्द्ववाद को सरके बल खड़ा कर रखा है। उसे सीधा खड़ा किया जाना जरूरी है।" हीगेल विचारोंके विकासको सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। पर मार्क्स पदार्थको प्रधान मानते हैं। आत्मा, विचार और चेतना तो गौण हैं और पदार्थके ही परिणाम (derivative) हैं। समाजका भौतिक जीवन ही उसके आध्यात्मिक जीवनका विधाता है।

द्वन्द्ववादकी अत्यधिक काल्पनिक धारणाको मनुष्यके आर्थिक जीवनमें प्रयुक्त कर के मार्क्स ने बताया कि मनुष्य के आर्थिक विकासकी प्रारम्भिक अवस्था आदिम साम्यवादकी अवस्था थी। बादमें इस अवस्थाका संघर्ष सामन्तवाद (feudalism) और पूंजीवादसे हुआ और इन दोनोंकी अन्तर्क्रियासे वैज्ञानिक साम्यवादका उदय हो रहा है।

फ्योरबाख से मार्क्स ने सीखा कि परमात्मा मनुष्य को नहीं बल्कि मनुष्य परमात्मा को बनाता है। उनके अनुसार "मनुष्य धर्म को बनाता है—धर्म मनुष्य को नहीं बनाता।" उनका कहना था कि धर्म "जनताके लिए अफीम है" और ये शब्द सारे संसारमें बड़े प्रसिद्ध हो गये हैं। मार्क्स के अनुसार ईश्वर केवल मनुष्यके दिमाग में रहता है।

इस विचारधाराकी व्याख्या करते हुए हैलोवेल (Hallowell) लिखते हैं कि मार्क्स के विचारमें इतिहास, आत्मा और पदार्थका संघर्ष नहीं है, यह परमात्मा की खोज नहीं है। इतिहास "अपने उद्देश्योंकी सिद्धिमें लगे हुए मनुष्यके कार्य-कलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

समूहवाद (Collectivism) सामाजिक विज्ञानोंके विश्व कोष (Encyclopaedia) के अनुसार समूहवाद व्यक्तिवाद (Individualism) के विरोधी सिद्धान्तोंका सामान्य नाम है। समूहवाद शब्दका उपयोग मोटे तौर पर सामाजिक प्रगतिकी प्रवृत्ति, आर्थिक सुधारोंका कार्यक्रम, सार्वजनिक कल्याणके सिद्धान्त और एक आदर्श मानव व्यवस्थाके लिए होता है। प्राविधिक तौर पर इस शब्दका उपयोग समाजवाद (socialism), साम्यवाद (communism), श्रमिक संघवाद (syndicalism) और बोल्शेविकवाद (Bolshevism) आदि अधिकारिक नियत्रणकी व्यापक योजनाओंके लिए होता है। इस शब्दका उपयोग खासकर उन प्रवृत्तियोंके लिए होता है जो १९वीं सदीकी 'अत्यधिक अहस्तक्षेप की नीति' (*laissez faire*) के विपरीत हैं।

वाल्टर हैमिल्टन (Walter Hamilton) के अनुसार, जिनके वाक्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, व्यक्तिवाद भी एक प्रकारका समूहवाद है, क्योंकि यह भी सामान्य कल्याणकी उन्नतिमें विश्वास करता है पर इसका तरीका भिन्न होता है। व्यक्तिवाद का विश्वास है कि प्रबुद्ध आत्महित (enlightened self-interest) से ही अधिकतर जन-कल्याण हो सकता है।

हो जाते हैं और बादमें एकाधिकार पूजी (monopoly capital) और वित्त पूजी (finance capital) का बोलबाला हो जाता है। यह स्थिति पूजीवादकी चरम सीमा है और यहीसे पूंजीवाद का तेजीसे पतन होने लगता है।

(३) अतिरेक मूल्यका सिद्धान्त (**The Doctrine of Surplus Value**). मार्क्सने उपयोगिता मूल्य (value in use) और विनिमय मूल्य (value in exchange) के बीच अन्तर किया है। उपयोगिता मूल्य मानव आवश्यकताओंकी पूर्तिमें है। विनिमय मूल्य इस बातमें है कि उस वस्तुके बदलेमें क्या प्राप्त होता है। विनिमय मूल्य किये गये श्रमसे ही निश्चित होता है। मार्क्स ने पूंजी की परिभाषा इस प्रकारकी है—"अतिरेक मूल्य (surplus value) की प्राप्तिके लिए काम में लाये गये उत्पादनके सभी निजी स्वामित्वके साधनोंका योग पूजी है (Capital is the sum total of all the privately owned means of production employed for the acquisition of surplus value)। श्रमिकोंका शोषण ही पूजीका सार है। पूजीपति श्रमजीवियोंको केवल निर्वाहके लिए मजदूरी दे कर उनसे इतना श्रम करवाते हैं कि उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओंका बाजार मूल्य उनकी मजदूरीसे अधिक होता है। इस अतिरेक मूल्यको पूजीपति हड़प कर लेते हैं। पूजीपति लाभ, किराया और व्याजके रूपमें अतिरेक मूल्यको साराका सारा स्वय ले लेते हैं और उसका उपयोग और अधिक अतिरेक मूल्य प्राप्त करने के लिए उत्पादन बढा कर तथा अधिक मजदूरोंको काममें लगा कर करते हैं।

अतिरेक मूल्यकी परिभाषा इस प्रकारकी गयी है: जितना मूल्य श्रमिकोंके निर्वाहके लिए आवश्यक है उसके अतिरिक्त जो मूल्य उन्होने उत्पादित किया वह अतिरेक मूल्य है। (इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। मजदूर अपने निर्वाह भर की मजदूरी पाकर कुछ वस्तुए बनाता है। इन वस्तुओंका बाजार मूल्य मजदूर को मिलने वाली मजदूरीके मूल्यसे अधिक होता है। बाजार मूल्य और मजदूरी मूल्य का अन्तर अतिरेक मूल्य है। उदाहरणके तौर पर मान लीजिए कि मजदूरको एक महीनेमें ६० रुपये मिलते हैं। वह महीने भरमें जो वस्तुए बनाता है वे ९० रुपयेमें बिकती हैं। इस हालतमें ३० रुपये अतिरेक मूल्य हुआ)। पूंजीपतियो द्वारा उसका हड़प लिया जाना एक प्रकारकी चोरी है।

मार्क्स ने 'मजदूरी का कठोर नियम' (the iron law of wages) वाक्य का भी उपयोग किया है। इस का आशय यह है कि मजदूरको अपने कामके बदले में बस इतना दे दिया जाता है कि उसके प्राण पखेरु उड न जाय और गुजर चलानेके लिए उसे दूसरे दिन काम पर आना ही पड़े। इससे अधिक जो कुछ कमाया जाता है वह मालिककी जेबमें चला जाता है।

मार्क्स का कहना है कि पूजीवादके परिणामस्वरूप आवश्यकतासे अधिक पूजी व माल पैदा हो जाते हैं। श्रमिक वर्गकी थोड़ी आय होनेके कारण उनकी क्रय शक्ति कम हो जाती है, इसलिए देशके बाजारोंमें मालकी बिक्री कम हो जाती

है। फलतः विदेशोंमें बाजार ढूंढे जाते हैं और इसका परिणाम साम्राज्यवाद और युद्ध होता है।

(४) **वर्ग युद्ध.** मार्क्स का विश्वास था कि दिन प्रतिदिन धनी लोग अधिकाधिक धनी और गरीब लोग अधिकाधिक गरीब होते जा रहे हैं। अन्तमें एक ऐसा समय आयेगा कि गरीब लोग, जिनका समाजमें अत्यधिक बहुमत है, धनी लोगोंको हरा कर एक नये समाजकी स्थापना करेंगे। मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग (भूमिहीन, सपत्तिहीन वर्ग) की वर्ग-चेतना पर और मध्यम वर्गके लोप हो जाने पर अधिक जोर दिया था। उनका विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग अधिकाधिक संघर्षशील होता जायगा जिसके परिणामस्वरूप एक अन्तिम क्रान्ति होगी। क्रान्ति के कारण पूंजीपति समाप्त हो जायगे और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी। स्वय मार्क्स के ही सबल शब्दों में "पूंजीवादी उत्पादन (capitalist production), प्रकृति के अजेय नियम के अनुसार स्वय ही अपने विनाशका कारण बनता है। मार्क्स ने यह भी कहा था कि "अब तकके सभी समाजोंका इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।"

अन्तिम लक्ष्य है ऐसी क्रान्ति जिसमें पूरे तौरसे मध्यम वर्ग सर्वहारा वर्ग में लीन हो जाय और सर्वहारा वर्ग राजनीतिक शक्ति हासिल कर ले। कम्यूनिस्ट घोषणापत्रके अन्तिम शब्द, जिनमें वक्तृता (oratory) का सा ओज है, महत्वपूर्ण हैं: 'साम्यवादी अपने विचारों व लक्ष्योंको छिपानेसे घृणा करते हैं। वे खुले आम घोषणा करते हैं कि वर्तमान सामाजिक ढांचेको बलात् हटा कर ही उनके उद्देश्यो की सिद्धि हो सकती है। शासक वर्ग साम्यवादी क्रान्तिसे कांपता है, तो कांपे, सर्वहारा वर्गको अपनी जंजीरोंके अलावा और क्या खोना है? और पाना है सारा संसार। दुनियां भरके मजदूरो—एक हो जाओ।" अपने जीवन के बादके वर्षोंमें मार्क्स ने यह स्वीकार कर लिया था कि ब्रिटेन, अमेरिका और हॉलैण्ड के मजदूर शान्तिमय तरीकोंसे भी अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। पर उनका विश्वास था कि सामान्यतः बल से ही काम चलेगा। उनके ही शब्दोंमें: "बल एक नये समाजको जनने वाले प्रत्येक पुराने समाजकी दाई है।"

(५) **सर्वहारा वर्गका अधिनायकत्व (Dictatorship of the proletariat).** मार्क्स और एंजेल्स दोनोंका विश्वास है कि पूंजीवादी समाजको बलात् नष्ट कर देनेके बाद वर्गविहीन समाजकी स्थापना करनेमें कुछ समय लग जायगा। उस संक्रान्ति कालमें हैलोवेल द्वारा दी गयी रूपरेखाके अनुसार साम्यवादका निम्नलिखित कार्यक्रम होगा:

(१) हर प्रकारकी जमींदारीका उन्मूलन और भूमिसे प्राप्त होने वाले समस्त राजस्वका सार्वजनिक कामोंके कार्यों पर खर्च किया जाना;

(२) आयके साथ तेजीसे बढ़ने वाला आय कर;

(३) सब प्रकारके उत्तराधिकारकी समाप्ति;

(४) देश छोड़ कर अन्य देशोंमें बसने वालोंकी और विद्रोहियोंकी सम्पति की जब्ती,

(५) सचार (communication) और परिवहन (transport) के साधनो का राज्यके हाथोंमें केन्द्रीकरण,

(६) राज्य-स्वामित्व वाले कारखानों और उत्पादनके साधनोंका विस्तार; एक सामान्य योजनाके अनुसार बजर भूमिको खेतीके योग्य बनाना और जमीन को अधिक उपजाऊ बनानेका उपाय करना,

(७) काम करनेका सब पर एकसा दायित्व;

(८) खेती और उद्योगका उचित समायोजन और नगरो तथा गावो म आबादी का अधिक न्यायपूर्ण वितरण;

(९) निश्शुल्क सार्वजनिक स्कूली शिक्षा और बच्चोंसे मजदूरी कराने पर रोक।

सक्रान्ति कालमें मजदूरोंको, कामके अनुसार वेतन दिया जायगा। दूसरे शब्दोंमें कार्य-कौशलके अन्तरके अनुसार वेतनमें अन्तर होगा। इसका मतलब शोषण इसलिए नहीं होगा क्योंकि नये समाजमें उत्पादनके साधन व्यक्तियोंके हाथमें न हो कर राज्यके हाथोंमें रहेंगे। अन्तिम रूपसे प्राप्त किया जाने वाला आदर्श है "प्रत्येकसे उसकी सामर्थ्यके अनुसार (काम) और प्रत्येकको उसकी आवश्यकताके अनुसार (दाम)।"

(६) **परिवार, धर्म आदिका लोप.** वैयक्तिक परिवार और वैयक्तिक सम्पत्ति दोनोंका उदय साथ-साथ हुआ था। दोनोंका लोप भी साथ-साथ होना अवश्यम्भावी है। भविष्यमें विवाहका एकमात्र आधार 'पारस्परिक प्रेम' होगा। विवाहका कोई नैतिक, धार्मिक अथवा आर्थिक महत्व न होगा। परिवारके लुप्त होनेके साथ ही धर्म भी लुप्त हो जायगा। समाजवादी राज्यमें "धर्मकी स्वाभाविक मृत्यु हो जाती है।" जो कुछ भी नैतिकता होगी वह विशिष्ट आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर एक आपेक्षिक नैतिकता होगी। परम नैतिकता या स्वतः सिद्ध नैतिकता जैसी कोई चीज न होगी। मध्य वर्गीय नैतिकताके स्थान पर सर्वहारा वर्गकी नैतिकता प्रतिष्ठित होगी। ऐसी विधि (law) जिसका आधार चिन्तनमात्र है, अर्थात् जो कठोर सत्यों पर आधारित न होकर विचारो पर आधारित है, समाप्त हो जायगी।

(७) **राज्यका क्रमिक लोप (The withering away of the State).** साम्यवादके अन्तर्गत राज्य धीरे-धीरे लुप्त हो जायगा क्योंकि यह आरम्भसे ही "एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर दबाव डालनेका साधन रहा है।" एँजेल्स के शब्दोंमें "राज्य *समाजके विकासकी एक विशिष्ट स्थितिकी उपज है। उस विशिष्ट स्थितिमें राज्य* की आवश्यकता थी इसलिए उसका निर्माण हुआ।" एक पूर्ण, वर्गविहीन समाजकी स्थापना हो जानेके पश्चात् राज्यकी आवश्यकता नही रह जाती और वह समाप्त

हो जावेगा। राज्य का उन्मूलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वयं मर जाता है। इसका स्थान एक ऐसा प्रशासकीय उपकरण ले लेता है जो उत्पादनके साधनोंका नियमन और उनकी व्यवस्था करता है।

(८) वैज्ञानिक समाजवाद. जब यह होता है तब टॉमस मोर (Thomas More), ओवेन (Owen), फौरियर (Fourier) और सेन्ट साइमन (Saint Simon) महोदयोंके एक आदर्शवादी और कल्पनामूलक समाजवादके बजाय एक वैज्ञानिक समाजवाद प्रतिष्ठित होता है। इस नये समाजमें शोषण समाप्त हो जाता है और हरेकको आवश्यकताए पूरी होती हैं। मनुष्य पहली बार अपने भाग्य का स्वयं विधाता बनता है। क्रिस्टोफर डॉसन (Christopher Dawson) ने इस सबको धार्मिक प्रतिबन्धों से मुक्त राम-राज्यका उदय ठीक ही बतलाया है (a secularisation of the coming of the Messianic Kingdom)।

मार्क्सवादकी आलोचना.

(१) यह मानना गलत है कि मनुष्यके जीवनमें या इतिहासमें आर्थिक तत्त्व ही एकमात्र तत्त्व है। मनुष्य शारीरिक जीव-संगठना मात्र नहीं है। वह एक आध्यात्मिक प्राणी भी है। इसी बातको हम दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्य सूकर जैसा ही नहीं है। रूपकको बदल कर हम कह सकते हैं कि वह "मिट्टी और आगका एक अद्भुत पुतला है।" जो नहीं है उसे प्राप्त करनेकी उसमें बड़ी लालसा रहती है। मार्क्स ने अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए स्वयं गरीबी सहनकी थी जैसा कि हैलोवेल ने कहा है, मार्क्सवादकी भौतिक सम्भावना नहीं, बल्कि उसकी आध्यात्मिक सम्भावना मजदूरको अपनी ओर आकर्षित करती है। इसलिए इतिहास को केवल आर्थिक व्याख्या करना समस्याको आवश्यकतासे अधिक सरल बनाना है। यह व्याख्या मनुष्य जीवनके सब पहलुओं पर विचार नहीं करती है। यह कुछ मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक तथ्योंकी विशेष कर उपेक्षा करती है। मनुष्य केवल सम्पत्ति प्राप्तिकी भावनासे ही काम नहीं करता बल्कि अहंकार, प्रतिद्वन्द्विता अधिकार के लोभ, सेवाजन्य आनन्द और सफलताकी भावनासे भी काम करता है।

हैलोवेल की यह दलील सही है कि आर्थिक आवश्यकताएं तो कभी पूरी ही नहीं की जा सकतीं। केवल मृत्युके साथ ही हमारी आवश्यकताओं की समाप्ति होती है। जितना ही अधिक हम प्राप्त करते हैं, हमारी आवश्यकताएं उतनी ही अधिक बढ़ती जाती हैं। इसका उपचार ईश्वरकी कृपा ही है न कि प्रतिद्वन्द्वात्मक या ऐतिहासिक प्रक्रिया। हैलोवेल ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि महान् वैज्ञानिक आविष्कार शायद ही कभी आर्थिक कारकों से प्रेरित हुए हों। जितनी भी सौंदर्य सृष्टा-कृतियां हैं, वह अर्थ-शास्त्रसे उतनी ही दूर हैं जितना अर्थ-शास्त्रसे विज्ञान दूर है।

(२) नैतिक आचरणके शाश्वत (eternal) और सार्वभौम (universal) सिद्धान्तों से इन्कार कर मार्क्सवाद बहुत बड़ी भूल करता है। नैतिक निर्णय तो आपेक्षिक होते हैं पर नैतिक सिद्धान्त निरपेक्ष हैं। दूसरे शब्दोंमें सिद्धान्त शाश्वत हैं पर आदेश (precepts) अस्थायी। यह सब कुछ मार्क्स की दृष्टि से बाहर मालूम होता है।

(३) मार्क्सवाद अत्यधिक सूक्ष्म (abstract) और सैद्धान्तिक (doctrinaire) है। इसमें बहुत थोड़े साक्ष्यके आधार पर जल्दबाजीमें सामान्य सिद्धान्त बना दिये गये हैं। मार्क्स की अनेक भविष्यवाणियां सही नहीं साबित हुई हैं, जैसे कि यह भविष्यवाणी कि गरीब लोग और अधिक गरीब होते जायगे। बात यह है कि शक्तिका स्वभाव ही यह है कि जो उसे प्राप्त कर लेता है, वह उसे बढ़ानेका और अधिकसे अधिक समय तक बनाये रखनेकी यथासम्भव कोशिश करता है। उस शक्तिको हम सर्वहाराका शासन कहें या कुछ और। उस शक्तिको अच्छा नाम देने का प्रयत्न करें तो क्या होगा? मार्क्सवाद सर्वहारा वर्गको बड़प्पन देता है और उसका परिणाम मतान्धता तथा निर्दयता हो जाता है। मार्क्सवाद मनुष्यकी सभी समस्याओं का समाधान राजनीतिक शब्दावलीमें करनेकी कोशिश करता है। मार्क्सवाद भविष्य के सुनहरे स्वप्न दिखाते समय यह भूल जाता है कि मानव स्वभावमें कुछ कमजोरियाँ भी हैं।

(४) मार्क्सवादकी यह कल्पना गलत है कि "राज्य अपने आप धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा।" वास्तविकता तो यह है कि आजकल कम्यूनिस्ट देशोंमें राज्य की शक्ति और अधिकार दिन पर दिन बढ़ते जाते हैं। राज्य मनुष्यका शत्रु नहीं है। वह उसका सबसे अच्छा मित्र है। साम्यवादी अगले दरवाजेसे राज्यको बाहर निकालता है और पिछले दरवाजेसे उसे किसी अन्य रूपमें वापस ले आता है।

(५) मार्क्सवाद वर्ग-युद्धको अनावश्यक महत्त्व दे कर गलती करता है। ईसा मसीह का यह कहना सही था कि "आप एक शैतानीकी सहायतासे दूसरी शैतानी दूर नहीं कर सकते।" प्रेमसे प्रेम और घृणा से घृणा पैदा होती है। संघर्षके द्वारा और विरोधी दलोंका विनाश करके बनाया गया वर्गविहीन समाज इस योग्य नहीं है कि उसके लिए इतना कष्ट उठाया जाय। यदि केवल पाशविक बल ही से ऐसे समाजकी स्थापना कर भी दी जाय, तो वह अधिक समय तक टिक नहीं सकेगा। ऐसे लोगोंका प्रत्येक समाजमें चोटी पर पहुंचना अनिवार्य है, जिन में पौरुष, महत्वाकांक्षा और सामर्थ्य है। ऐसे लोगोंको अपनी शक्तियोंका उपयोग आत्मतोषके लिए करने देनेके बजाय उन्हें सामाजिक उद्देश्योंकी सिद्धिमें लगा देना चाहिए।

(६) मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही नहीं साबित हुई कि जर्मनी और ब्रिटेन जैसे अत्यधिक औद्योगिक देशोंमें औद्योगिक क्रान्ति पहले होगी। यह क्रान्ति तो पिछड़े हुए जारशाही रूस में हुई।

(७) मार्क्सवाद राष्ट्रीयता और जातीयता की शक्तियों पर विचार नहीं करता। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धोंने अन्तिम रूपसे सिद्ध कर दिया है कि युद्धों को, जो कि मुख्यतया पूंजीपति वर्ग अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए लड़ते हैं, न होने देनेके लिए सारे संसारके मजदूर एक नहीं हो जाते। यही नहीं मजदूर अपने-अपने देश की सरकारका साथ देते हैं और सभी देशोंके मजदूरों पर अकथनीय मुसीबतें लाते हैं। साम्यवादी देशोंमें भी जातीयताका एकदम अभाव नहीं है।

(८) यद्यपि मार्क्सवाद धर्म पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है पर वह स्वयं मनुष्यका एक प्रतियोगी धर्म बन गया है। हैलोवेल लिखते हैं : "मार्क्सवाद सिद्धान्ततः 'धर्मको अस्वीकार करता है पर व्यवहारतः जो तीव्र भावना मार्क्सवादके पीछे काम करती है, उसकी प्रकृति भी धार्मिक ही है।" इन्हीं लेखकके शब्दोंमें "मार्क्सवाद मानव पापकी समस्याके गलत विश्लेषणका शिकार हो गया है। मार्क्स ने ईश्वर के स्थान पर ऐतिहासिक आवश्यकता को, ईश्वरके प्रिय लोगोंके स्थान पर सर्वहारा वर्गको और रामराज्यके स्थान पर स्वाधीनताके राज्यकी स्थापना की। मार्क्सवादके अपने सिद्धान्त हैं, अपने पुरोहित वर्ग और अपने कर्मकाण्ड हैं, तथा अपने पापमोचक अनुष्ठान हैं। मार्क्सवाद भ्रष्ट आदर्शवाद है।"

(९) अन्य सभी धार्मिक सिद्धान्तोंकी भांति मार्क्सवाद भी अपनी मान्यताओं में दृढ़ और अपने खण्डनोंमें शिथिल है (Marxism is strong in what it asserts and weak in what it denies)।

(१०) लास्की लिखते हैं कि साम्यवाद एक ऐसा मत है कि जिसमें बौद्धिक भूल, नैतिक अन्धपन और सामाजिक विपथन (perversity) है।

साम्यवादका आकर्षण (Appeal of Communism). अपनी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक असफलताओंके बावजूद साम्यवाद अधिकाधिक लोगोंको लुभाता जा रहा है। हैलोवेल लिखते हैं, "हम मार्क्सवादके कार्यक्रमको अस्वीकार कर सकते हैं पर इसने पूंजीवादके विरुद्ध जो अभियोग लगाये हैं, उनकी उपेक्षा हम नहीं कर सकते हैं (पृ० ४४६)।"

आर० बी० ग्रेग, जो किसी प्रकार भी साम्यवादी नहीं हैं, अपनी पुस्तक *Which Way Lies Hope* में लिखते हैं कि साम्यवाद सामाजिक न्यायकी भावनासे ओत-प्रोत लोगों को लुभाता है। एक भावनामय मनुष्य दुर्बल और गरीब लोगों को कष्ट पहुंचा कर सुविधाएं और आराम भोगने पर मन ही मन अपनेको अपराधी अनुभव करता है। ग्रेग के अनुसार साम्यवाद आकर्षणके कुछ अन्य कारण निम्नलिखित हैं :

(१) साम्यवाद लोगोंको पूंजीवाद द्वारा किये गये अत्याचारोंकी स्पष्ट और जोरदार अनुभूति कराता है और इन बुराइयोंके मुकाबलेमें अपनी ओर से वह न्याय का वादा करता है।

(२) इतिहासकी साम्यवादी व्याख्या (द्वन्द्वात्मक और वैज्ञानिक भौतिकवाद) मनुष्य को वैज्ञानिक यथार्थवादी, सत्य और सहीपन की भावना देती है। यह उसी

प्रकारका विश्वास है जैसे रोमन कैथोलिक चर्च अपने धर्मके अधिकतर अनुयायियोंमें पैदा करता है।

(३) साम्यवादी सिद्धान्त लोगोंमें यह ख्याल पैदा करता है, कि उन्हें वास्तविकताका, मनुष्यका और ससारमें जो कुछ हो चुका है और हो रहा है उस सब का सही बोध हो रहा है। साम्यवादी सिद्धान्त मानो इतिहासके रहस्य खोलनेकी कुजी हो।

(४) साम्यवाद पुरानी बातोंके विरुद्ध विद्रोह करता है और मनुष्यको नये प्रयोगो के आह्लाद (thrill) का अवसर देता है।

(५) यह व्यक्तिके सामने निम्नलिखित मोहक विचार रखता है :

(क) व्यक्तिकी अपेक्षा समाज अधिक महत्त्वपूर्ण है;

(ख) साधन (means) की अपेक्षा साध्य या लक्ष्य (end) अधिक महत्त्वपूर्ण है; और

(ग) विचारोकी अपेक्षा वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(६) साम्यवादी दलमें शामिल होनेसे व्यक्तिमें यह भावना पैदा हो जाती है कि वह सबसे महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके प्रयत्नमें हाथ बटाने जा रहा है। साम्यवाद घोर परिश्रम करनेका आह्वान करता है और हिम्मत, सहनशक्ति और बहादुरीकी माग करता है। वह सबके लिए एक-सा अनुशासन, व्यवस्था और आत्मसहृति (self-integration) की भावना पैदा करता है। साम्यवादी दलमें शामिल होने वाले व्यक्तिको वह सन्तोष व आनन्द प्राप्त होता है जो एक महान् उद्देश्यके लिए अपने आपको अर्पित कर देने से होता है। साम्यवादियोका दावा है कि पूंजीवादी व्यवस्थामें व्यक्तिके व्यवहारमें विविधताए सम्भव है, पर वह निरर्थक और दिखावटी है। साम्यवाद इन बेकार विविधताओको मौका नही देता।

इन सब प्रलोभनोके बावजूद यह कहना पडेगा कि साम्यवादकी विचार-प्रणाली गलत है और वह अपने इरादोको पूरा करनेके लिए अनुचित तरीकोका उपयोग करने की चेष्टा करता है।

मार्क्स के निधनके बाद समाजवाद.

मार्क्स के निधनके बाद उनके अनुयायियोकी दो शाखाए हो गयी—एक विकासवादी और दूसरी क्रान्तिवादी। विकासवादियोका प्रतिनिधित्व जर्मनी और योरोप में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीने किया जिसमें मार्क्सवादकी जैसी ताकत और ओज न था। जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीका कार्यक्रम नरम था। हैलोवेल के अनुसार उनके कार्यक्रमकी मुख्य बातें ये थी :

(१) सबको, सीधा (direct) और समान मताधिकार,

(२) जनसंख्याके अनुपातसे प्रतिनिधित्व,

(३) लोक निर्देश (referendum) और लोकादेश (initiative) के जरिए जनता द्वारा सीधे विधि निर्माण,

(४) स्थायी सेनाके स्थान पर नागरिक सेना (militia),

(५) लोक-निर्देश प्राप्त करनेके बाद ही युद्धकी घोषणा,

(६) धार्मिक कार्योंके लिए सार्वजनिक कोषोंके उपयोगकी प्रथाका अन्त,

(७) शिक्षालयोंको धर्म-निरपेक्ष बनाना,

(८) न्यायाधीशोंका जनता द्वारा चुनाव और वकीलकी निश्शुल्क प्राप्ति,

(९) मृत्यु-दण्डका अन्त,

(१०) निश्शुल्क चिकित्सा,

(११) क्रमिक आय-कर (progressive income-tax),

(१२) आठ घण्टे काम (प्रति कामके दिन),

(१३) रातमें काम लेने और बच्चोंसे काम लेनेका निषेध और प्रत्येक नागरिकके जीवनका बीमा।

यह नरम कार्यक्रम सन् १९२५ के बाद और भी नरम हो गया।

कार्ल कॉट्स्की (Karl Kautsky) (१८५४-१९३८). कार्ल कॉट्स्की प्रथम विश्व-युद्धके बाद सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीके मुख्य प्रवक्ता थे। वह लेनिन और रूसी क्रान्तिके विरोधी थे। वह मानते थे कि मार्क्सवादकी शिक्षाएं सिद्धान्ततः ठीक हैं। उनका विश्वास था कि समाजवादी लक्ष्यकी सिद्धिके लिए क्रान्ति ही अन्तिम साधन है। पर उनका यह भी विश्वास था कि समाजवादी लक्ष्य प्राप्त करनेके लिए बहुत अधिक हिंसाकी जरूरत नहीं है। हैलोवेलके शब्दों में वह ट्रेड यूनियन आन्दोलनके विकासका, सहकारी समितियोंके विस्तारका, संसद द्वारा कार्यान्वियका और मजदूरोंकी स्थिति सुधारनेके लिए विधि-निर्माणका समर्थन करते थे। उनका कहना था कि इन सब सुधारोंको ही समाजवाद नहीं समझना चाहिए यद्यपि ये समाजवादके लिए रास्ता तैयार करते हैं।

इस कालके विकासवादी (**revisionists**) इस बातके समर्थक थे कि समाजवाद क्रमिक विकास द्वारा प्रतिष्ठित किया जाय। कॉट्स्की अपनेको विकासवादियोंमें गिननेको तैयार न थे। जहां तक उनके सिद्धान्तका सम्बन्ध है यह दावा ठीक था। किन्तु व्यवहारमें वह विकासवादियोंके बिल्कुल नजदीक थे। वह लोकतन्त्र (democracy) और लोकतन्त्रीय तरीकोंके समर्थक थे और सम्भवतः उनकी दृष्टि में लोकतन्त्र समाजवादसे भी ज्यादा महत्व रखता था। वह दक्षिणपंथीय और वाम-पक्षीय दोनों ही प्रकारके विचलन (derivation) के विरोधी थे। हैलोवेलके कथनानुसार उन्होंने मार्क्स का आशय यह निकाला कि सरकार पर सार्वजनिक मताधिकार द्वारा सर्वहारा का नियंत्रण होना चाहिए। वह बोल्शेविज्म का विरोध यह कह कर करते थे कि यह अल्पमत का शासन है और पशुबल का प्रतिनिधित्व करता है। लेनिन ने अपनी पुस्तक *The Proletarian Revolution and Kautsky, the*

Renegade में कॉट्स्की पर जबर्दस्त प्रहार किये हैं। कॉस्ट्स्की ने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीके कार्यकलापोंकी नींव रखी। वीमर रिपब्लिक (Weimar Republic) (प्रथम महायुद्धके बाद जर्मनी का गणतन्त्र राज्य जो १९१९ में बना था, समाजवादी प्रवृति रखता था और इसको सन् १९३३ में हिटलर ने समाप्त कर दिया) के दिनोंमें साम्यवादी बराबर इस पार्टीका विरोध करते रहे। वह एक कमजोर पार्टी थी और ऐसी ही कमजोर पार्टियोंके कन्धों पर चढ़कर हिटलर और नाजीवाद सत्तारूढ़ हुआ। इटली में इसी प्रकारकी कमजोरी मुसोलिनी और फासिस्ट पार्टीके उदय और उत्थानका कारण बनी।

श्रमिक संघवाद (Syndicalism). यह सारत फ्रान्सीसी विचारधारा है। फ्रान्स का मजदूर आन्दोलन इसका जन्मदाता है। जार्ज सॉरेल (George Sorel) (१८४७-१९२२) इस आन्दोलनके महत्त्वपूर्ण बौद्धिक नेता थे। फ्रान्स की कोन्फेदरासियो जेनेराल डु ट्रावेल (Confederation Generale du Travail) नामक सस्थाने जो अखिल फ्रान्स मजदूर सघ थी, इस विचारधारा को जनप्रिय बनाया। यह मार्क्स के राजनीतिक कार्य-क्रमको अस्वीकार करती है पर उनके हिंसा द्वारा क्रान्तिके सिद्धान्तको मानती है। इस दृष्टिसे यह अराजकतावाद और मार्क्सवाद का शिशु है। सिंडिकैलिज्म (syndicalism) शब्दकी उत्पत्ति फ्रान्सीसी शब्द सिंडिकेट (syndicat) से हुई है जिसका अर्थ है मजदूर सघ (trade union)। कुछ दृष्टियोंमें यह सिद्धान्त स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्वके फ्रान्सीसी क्रान्तिवादी आदर्श की प्रतिक्रिया है। फ्रान्सके मजदूरोंने देखा कि महान् क्रान्तिने उन्हे काम करने की कुछ भी स्वतन्त्रता नही दी। वाणिज्य और निर्माण वर्गोंने शासनतत्र पर अपना सिक्का जमा लिया और मजदूरोंको आम आर्थिक और राजनीतिक उपायोंके अपनाने से भी वचित रखा। मजदूर सघके रूपमें जो वैधिक और उचित हथियार उनके हाथमें होना चाहिए था वह भी उन्हे नही दिया गया। फ्रान्सकी विधियां मजदूर सघके कार्योंमें बाधा डालती थी। इसका नतीजा यह हुआ कि जब फ्रान्सका मजदूर ताकतवर हुआ तब वह मजदूर सघ और राजनीतिक समाजवाद दोनोंको तिलांजलि देकर निर्मम वर्गयुद्ध, आम हड़ताल, विध्वस कार्य और काममें ढील डालने आदि अतिवादी तरीकोंसे अपनी मुक्तिका मार्ग खोजने लगा। फ्रान्सके मजदूरका उद्देश्य हो गया संसार भरके मजदूरोंको एकसूत्रमें बांधना और उनके दिलोंसे राष्ट्रीय देश भक्ति की भावनाको समाप्त करना।

श्रमिक संघवादकी परिभाषाएं. सी० ई० एम० जोड (C. E. M. Joad) लिखते हैं: "श्रमिक सघवाद सामाजिक शास्त्रका वह दृष्टिकोण है जो श्रमिक संघोंके संगठन (trade union organization) को नये समाजकी नींव और उस समाजकी स्थापनाका साधन दोनों मानता है।" एफ० डब्ल्यू० कोकर (F. W. Coker) कहते हैं: "मोटे तौर पर श्रमिक संघवादका अर्थ है कि मजदूर जिन परिस्थितियोंमें काम करते और रहते हैं, उन पर अकेले मजदूरोंका ही नियन्त्रण होना चाहिए; जिन

सामाजिक परिवर्तनोंकी मजदूरोंको आवश्यकता है, वे मजदूरोंके अपने प्रयत्नोंसे ही, अपने संघोंमें सीधी कार्रवाई द्वारा और ऐसे साधनों द्वारा, जो उनकी विशिष्ट आवश्यकताओंके अनुकूल हों, हो सकते हैं।"[1] लेडलर (Laidler) के अनुसार श्रमिक संघवाद व्यापार और उद्योग दोनोंके श्रमिक संघों के मजबूत संगठन पर इसलिए बहुत अधिक जोर देता है ताकि वह नये औद्योगिक ढांचेका आधार हो। वह उपभोक्ताकी अपेक्षा उत्पादकको अधिक महत्त्व देता है; सामाजिक स्वरूपको बदलनेके साधनके रूपमें आम हड़ताल और सीधी कार्रवाईके अन्य तरीकोंको महत्त्व देता है; राजनीतिक राज्यके उन्मूलनकी आवश्यकता पर और मजदूर वर्गके मुक्ति साधनके रूपमें राजनीतिक कार्रवाईकी प्रभावशून्यता पर भी वह गलत जोर देता है। जी० ई० हूवर (G.E. Hoover) *Twentieth Century Political Thought* में लिखते हैं "आजकलके उपयोगके अनुसार श्रमिक संघवादका अर्थ है उन क्रान्तिकारियों के सिद्धान्त और कार्यक्रम, जो औद्योगिक संघोंकी आर्थिक शक्तिका उपयोग पूंजीवाद को नष्ट करने और समाजवादी समाजका संगठन करनेके लिए करते हैं।"

श्रमिक संघवादकी शिक्षाएं (Teachings of Syndicalism). ऊपर दी गयी परिभाषाओंसे श्रमिक संघवादकी शिक्षाएं स्पष्ट की जा सकती हैं—

(१) श्रमिक संघवाद अविचल रूपसे राज्यके विरुद्ध है और उसे शोषक वर्ग और मध्य वर्गकी संस्था मानता है। राज्यका रूप चाहे जो कुछ भी हो, वह पूंजीवादी शोषणका ही एक यंत्र है। सभी राज्य वर्ग शासनके साधन होते हैं। इसलिए राज्यकी शक्तिको नष्ट किये बिना मजदूर कभी नहीं जीत सकते। राज्य द्वारा किये गये सुधार और दी गयी रियायतें तो रोगका असन्तोषजनक निदान हैं; इन तरीकों द्वारा बेचारे गरीब श्रमिकको इस बातका ज्ञान ही नहीं होने दिया जाता कि शोषकोंने अपने लाभके लिए वर्ग-व्यवस्था बना रखी है जबकि यह गरीबी, अमीरी और वर्ग-विभेद सब प्रतिशत अन्याय है और बनावटी है। अतः लोकतन्त्रीय राज्य भी समाजको एक रस नहीं बना सकता, और राज्यकी शक्तिको ध्वस करना आवश्यक है।

सरकारी कर्मचारियोंके रूपमें राज्यकी सेवामें मनुष्योंमें अफसरोंकी प्रवृत्ति हो जाती है और उन्हें मजदूरोंकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओंके प्रति उदासीन बना डालती है। राजकीय काम प्राणहीन एकरूपता और यांत्रिकता है। कल्पना तथा सूझ-बूझके लिए उसमें कोई स्थान नहीं रहता और तत्कालीन कामों पर और व्यक्तिगत उद्योगशीलता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

(२) श्रमिक संघवादी व्यावसायिक आधार पर संगठित मजदूर संघोंको भावी समाजकी आधारशिला मानता है। वह चाहता है कि उत्पादक समितियोंका एक जाल बिछे जो राज्यका स्थान ले ले। १ वर्षोंमें या इसके आसपास जब आम

[1] एफ० डब्ल्यू० कोकर-रीसेण्ट पोलिटिकल थाट (D. Appleton-Century CO., N.Y) पृ० २२९.

चुनाव होते हैं तब वोट दे आनेके अतिरिक्त, आजकी व्यवस्थामें श्रमिकका सरकारके कार्यकलापमें और कुछ भी हिस्सा नहीं है। इस वोटका भी कोई मूल्य है? आजकल जो वोट दिये जाते हैं उनका कोई महत्त्व नहीं है। श्रमिक संघवादियोंका विश्वास है कि उनकी व्यवस्थाके अन्तर्गत मजदूर अपने काममें व्यक्तिगत रुचि लेगा और इससे सामान अच्छा और अधिक परिमाणमें बनेगा। श्रमिक संघवादी अपने सामने "स्वतन्त्र समाजमें स्वतन्त्र काम" का आदर्श रखता है। उसका विश्वास है कि "जब कारखानोंमें स्वतन्त्रता होगी तभी समाजमें भी स्वतन्त्रता होगी।"

(३) जैसा कि हैलोवेलने कहा है इस सबका मतलब यह है कि श्रमिक संघवादियोंने वर्ग-युद्धको ही एकमात्र महत्त्व नहीं दिया है तो उसे केन्द्रीय महत्त्व तो दिया ही है। श्रमिक संघवाद मजदूर वर्गमें दृढ़ एकता कायम करनेका प्रयत्न करता है। उसके अनुसार मजदूर राजनीतिक दलोंके चक्करोंसे दूर रह कर किसी भी राजनीतिक दलसे सहयोग नहीं करेगा और मजदूर-वर्गका अपना कोई देश नहीं होगा। *हैलोवेल के शब्दोंमें श्रमिक संघवाद मार्क्स-वादी आर्थिक सिद्धान्त और वर्ग-युद्धको* मजदूर-संघोंके साधनसे सिद्ध मानता है।

श्रमिक संघवादकी पद्धतियां (Methods of Syndicalism). श्रमिक संघवादी मार्क्सवादियोंके इस विश्वासमें विश्वास नहीं करते कि वह समय दूर नहीं जब सर्वहारा-वर्ग सम्पत्तिशाली वर्गके विरुद्ध विद्रोह कर देगा। उनका कहना है कि मार्क्स यह माननेमें आवश्यकतासे भी अधिक आशावादी थे कि मालिक लोग मजदूरों से लड़ बैठेंगे और इस प्रकार स्वयं अपना विनाश कर लेंगे। मालिक मजदूरोंसे सौदे-बाजी और सुलहनामें करेंगे। इसलिए उनसे निबटनेका एकमात्र रास्ता यह है कि हड़तालों, ध्वंसात्मक कार्रवाइयों, मशीनोंकी तोड़-फोड़, बहिष्कार विरोधी बिल्ले लगाने और काममें ढील डालनेकी रीतियोंसे उनके विरुद्ध निरन्तर आक्रामक नीति अपनाई जाय।

श्रमिक संघवादियोंको सीधी लड़ाइयोंमें पक्का विश्वास है। वे राजनीतिक तरीकोंमें विश्वास नहीं रखते। उनका ख्याल है कि मजदूरोंको शिक्षित करनेका और अन्तिम लड़ाईके लिए उन्हें तैयार करनेका एकमात्र तरीका सीधा जेहाद (direct action) ही है। इस संघर्षमें मध्यस्थोंके लिए कोई स्थान नहीं है। अपनाये जानेवाले तरीके हिंसात्मक हो सकते हैं, पर यह जरूरी नहीं है कि ये तरीके हिंसात्मक ही हों। आम हड़ताल मुख्य हथियार है। इस आम हड़तालको साधारण हड़ताल, राजनीतिक हड़ताल या सहानुभूतिमें की गयी हड़ताल समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए। यह हड़ताल तब होगी जब विशिष्ट हड़तालोंकी एक लम्बी शृंखलाके द्वारा मजदूरोंको अच्छी तरहसे हड़ताल करनेमें कुशल बना लिया जायगा। आम हड़ताल अन्तिम और शक्तिशाली हथियार होगा जो राज्यके सारे कार्य-कलाप ठप कर देगा। तब श्रमजीवी समाजके मालिक हो जायंगे।

अपने लक्ष्यको पानेके तरीके अपनानेमें श्रमिक संघवादी पशोपेश नहीं करते। लोग ऐसे तरीकोंका समर्थन करते हैं जैसे खराब काम करना, मशीनोंको तोड़ना,

.ंगाड़ना और जी चुरानेवाले ढग अपनाना अर्थात् अपने कामको लेकर बैठ या उसे इतनी बारीकीसे करना कि दुगुना, चौगुना समय खर्च हो जाय। ्रमिक सघसे बाहर रहनेवाले श्रमिको द्वारा बनाई गयी चीजोका बहिष्कारभी - संघवादियोका एक तरीका है। यह आम हड़तालकी तैयारीके लिए किया है जो आज असफल हो सकती है पर "आजकी असफलता कलकी होने वाली ाकी तैयारी है।"[1]

्रमिक संघवादके अन्तर्गत समाजका ढांचा (The Structure of Society er Syndicalism). श्रमिक सघवादी योजना प्रत्यक्ष, बलवती और चत होती है। पर इसके अन्तर्गत समाजकी हालत बिल्कुल अस्पष्ट रहेगी। -सघवाद प्रधानत. विरोध करनेमें विश्वास करता है। यह नकारात्मक है। कि एक लेखकने लिखा है. "यह प्रधानतः क्रान्तिकी रीति प्रस्तुत करता है, नकी नही।" श्रमिक सघवादके अन्तर्गत श्रमिकसघ (syndicate) ही औद्यो- ागठनका आधार होगा। श्रमिक उत्पादनका नियत्रण करेंगे। व्यक्तिगत पूजीका सामूहिक पूजी लेगी। यातायात, रेले और डाकखाने जैसी राष्ट्रीय सेवाए रोंके राष्ट्रीय सघके अधिकारमें रखी जायगी। जेलो और अदालतोका अन्त ्या जायगा और दण्ड सामाजिक बहिष्कारके रूपमें दिया जायगा। गयोगमें, श्रमिक सघवादका उद्देश्य राज्य-विहीन समाज है इसका अर्थ यह है कि ्नके साधनो पर समाजका अधिकार होगा और श्रमिक सघ उत्पादनका निय- ौर नियन्त्रण करेंगे।

श्रमिक संघवाद और समाजवाद. श्रमिक सघवाद और समाजवादमें मुख्य ् यह है कि अधिकाश समाजवादी राज्यको कायम रखना चाहते हैं और उसका ामे अधिक उपयोग करना चाहते हैं, पर श्रमिक सघवादी राज्यको एकदम ्र देना चाहते हैं। समाजवाद आमतौर पर उत्पादको और उपभोक्ताओ ें कल्याण पर ध्यान देता है। इसके विपरीत श्रमिकसघवाद केवल उत्पादकोंके ाण पर ही ध्यान देता है। इस मानीमें वह समाजवादका विरोधी सिद्धान्त है। ें एक और अन्तर यह है कि समाजवाद आमतौर पर सावैधानिक तरीकोमें ्विश्वास करता है, पर श्रमिक-सघवादका विश्वास हिंसा, क्रान्ति और सीधी ाईमें है।

श्रमिक संघवादकी आलोचना. अपनी मौलिक कमजोरियोंके कारण श्रमिक ाद फ्रास और इटलीके बाहर बहुत कम प्रगति कर सका। यह अपने तौर-तरीको ढुत बढ़ा-चढ़ाकर कहता है और अपने उद्देश्योको जान-बूझकर अस्पष्ट रखता ्यावहारिक राजनीतिकी दुनियामें स्वाभाविक समझौतों (compromises) ्विश्वास रखनेवालों पर इसका कोई प्रभाव इसलिए नहीं पड़ता कि यह "अत्यधिक

[1] Laidler: History of Socialistic Thoughts, p. 297.

सिद्धान्तवादी, अत्यधिक अतिवादी और अत्यधिक तर्कवादी है।" "उत्पादकोंके अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत अधिक और उपभोक्ताओंके अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत कम" ध्यान देकर यह उपभोक्ताओंको अपने विरुद्ध कर देता है।[1] आम हड़ताल एक कल्पनामात्र है। यह सगठित अराजकतासे अधिक और कुछ नही है। एक बार सीधी कार्रवाई आरम्भ हो जाने पर कोई नहीं जानता कि उसका अन्त कहा होगा। अत सुपरीक्षित सावैधानिक तरीकोंको ही अपनाना बुद्धिमानी है। समाजमें बुद्धिमान लोगोंको हिंसा हमेशा कष्टदायक होती है। हैलोवेल लिखते है कि "श्रमिक सघवाद और फासिस्टवाद में बहुत नजदीकी नाता है। इसीलिए मुसोलिनी बहुत श्रद्धासे सोरेल की पुस्तकोंको पढा करते थे।"

अनुभव बताता है कि हड़ताल मजदूरोको बल प्रदान करनेके बजाय बहुधा उनमें निराशाकी भावना भर देती है। यह विचार बिल्कुल बेतुका है कि मजदूरोका कोई अपना देश नही होना चाहिए और सब देशोके मजदूरोंको अपना एक मोर्चा बनाकर शेष संसारके विरुद्ध डट जाना चाहिए।

फेबियनवाद. श्रमिक सघवादको छोडकर फेबियनवादका विवेचन करना बडा सुखद है। फेबियनवाद समाजवादकी एक अंग्रेजी विचारधारा है और यह अंग्रेज विद्वानो के मस्तिष्ककी ही उपज है। फेबियनवाद और मार्क्सवादमें तीव्र अन्तर यह है कि फेबियनवादके तरीके नम्य (flexible) होते हैं और यह धीरे-धीरे लोगोंको राजी करके समाजवाद स्थापित करनेमें विश्वास करता है।

फेबियनवाद शब्दकी उत्पत्ति रोमके एक जनरल फेबियस कक्टेटर (Fabius Cunctator) के नामसे हुई है, जो अपने विरोधी हैनीबल (Hannibal) के ऊपर घातक आक्रमण करनेके उचित अवसरकी प्रतीक्षा, धैर्यपूर्वक, तब तक करता रहा, जब तक कि आक्रमणका सुन्दर अवसर न आ गया। एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) ने, जो स्वय एक फेबियन थे, लिखा है कि फेबियस ने कभी भी सख्त प्रहार नही किये।

'फेबियन सोसाइटीकी स्थापना ४ जनवरी, १८८४, को हुई। तभी उसने निम्नलिखित सुविधाजनक आदर्श अपनाया: "आपको उचित अवसरके लिए प्रतीक्षा करनी चाहिए जैसी कि फेबियस ने हैनीबल से युद्ध करनेमें बडे धैर्यसे की थी यद्यपि बहुतोंने इस विलम्बकी तीव्र आलोचना की, लेकिन जब अवसर आ जाय तब आपको पूरी शक्तिके साथ प्रहार करना चाहिए, जैसा कि फेबियस ने किया था, अन्यथा आपका प्रतीक्षा करना व्यर्थ तथा निष्फल हो जायगा।'[2]

फेबियनवादका सिद्धान्त १८८७ में निश्चित किया गया। कुछ थोडेसे सशोधनों के बाद सन् १९१९ में इसकी दुबारा घोषणाकी गयी। वह घोषणा इस प्रकार है—

---

[1] Laidler, op. cit., p. 310.

[2] पीज की दि हिस्ट्री आफ दि फेबियन सोसाइटी, पृष्ठ ३२ से उद्धृत।

"भूमि और औद्योगिक पूंजीको व्यक्तिगत स्वामित्वसे मुक्त करके और उन्हें सार्वजनिक हितके लिए समाजके हाथोंमें सौंपकर समाजका पुनर्संगठन करना इसका लक्ष्य है। देशकी प्राकृतिक और अर्जित सम्पत्तिको पूरी जनतामें न्यायपूर्वक बांटना इसी प्रकार सम्भव है।"

'इसलिए भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्वका उन्मूलन करनेके लिए समाज कदम उठाता है। ऐसा करनेमें वह प्रतिष्ठित आशाओंका और घर तथा बगीचेके स्वामित्वका न्यायसंगत विचार रखता है। यह उन सब उद्योगोंको समाजके आधिपत्यमें लानेकी कोशिश करता है जिनका संचालन सामाजिक रीतिसे किया जा सकता है और उत्पादन, वितरण और सेवाके नियमनमें व्यक्तिगत लाभके स्थान पर सार्वजनिक हितको प्रधान लक्ष्यके रूपमें प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न करता है।'[1]

फेबियनवाद पर प्रकाश डालते हुये लेडलर[2] (Laidler) कहते हैं कि फेबियनवाद पूंजीवादके स्थान पर समाजवादकी स्थापना क्रमशः ही करना चाहता है। उसका विश्वास है कि मौजूदा शान्तिपूर्ण आर्थिक एवं राजनीतिक तरीकोंसे उद्योगोंका समाजीकरण किया जा सकता है। वह मध्यवर्गको एक ऐसा समुदाय मानता है जिसका उपयोग नवीन सामाजिक व्यवस्था प्रशासनकलाके विकासमें कर सकता है। फेबियनवाद के अनुसार समाजवादकी स्थापनाकी दिशामें एक महत्त्वपूर्ण कदम यह है कि समाजवादके पक्षमें समाजकी चेतनाको जाग्रत किया जाय और सक्रिय बनाया जाय।

फेबियनवाद और श्रमिक संघवादमें अन्तर—फेबियनवाद संसदीय सरकारके साधनसे अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेमें विश्वास करता है। वह शान्तिपूर्ण क्रान्तिका समर्थन करता है। भूमि, उद्योगों और वित्तीय संस्थाओं पर निजी स्वामित्वके स्थान पर राज्यका स्वामित्व शान्तिपूर्ण तरीकोंसे स्थापित किया जाय। हैलोवेल के शब्दोंमें फेबियन समाजवादका लक्ष्य "भूमि और औद्योगिक पूंजीको वैयक्तिक स्वामित्वसे मुक्त करके सार्वजनिक हितके लिए समाजके अधिकारमें लाकर समाजका पुनर्संगठन करना है।" न तो भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व रहेगा और न लगान ही रहेगा। औद्योगिक पूंजी, जैसे-जैसे समाज उसका उपयोग करने योग्य होता जायगा, वैसे-वैसे समाजको हस्तान्तरित होती जायगी।

इस प्रकारके समाजवादके प्रधान समर्थक सिडनी तथा बीट्रिस वेब (Sidney and Beatrice Webb), ग्राहम वैलेस (Graham Wallas), ऐनीबेसेण्ट (Annie Besant), ई० आर० पीज (E. R. Pease), एच० जी० वेल्स (H. G. Wells), जी० बी० शा० (G. B. Shaw) और जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) हुए हैं। इन्होंने बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं और लेख लिखे हैं और इनके द्वारा जनताकी सामाजिक चेतनाको जाग्रत करनेका यत्न

---

[1] वही, पृष्ठ २५९.

[2] Social-Economic Movements, p. 184.

किया है। जी० बी० शा ने फेवियन लेखोंका सम्पादन किया और इन लेखोंको १८८८ में सर्वप्रथम भाषणोंके रूपमें जनताके सामने प्रकाशित किया। हैलोवेल लिखते हैं कि सिडनी वेब लोकतन्त्रीय, श्रमिक, शान्तिपूर्ण और वैधिक तरीकोंके द्वारा समाजवादी समाजके उदयकी कल्पना करते थे। एक महत्वपूर्ण वाक्यांशके लिए हम फेवियनोंके ऋणी हैं। वह है—"समाजवादकी अनिवार्यता (the inevitability of socialism)।"

मार्क्सवाद और फेबियनवादमें अन्तर. मार्क्सवाद अधिकांश श्रम-सिद्धान्त और वर्गयुद्ध पर आधारित है। पर फेवियनवादका आधार है लगान सिद्धान्त (Theory of Rent) का विस्तार और राज्यकी सामाजिक चेतनाका विकास। मार्क्सवाद क्रान्तिवादी है, फेवियनवाद विकासवादी।

फेबियनों द्वारा फेबियनवादका परित्याग (Defection in Fabian's ranks). फेवियनोंकी संख्या कभी अधिक नहीं रही। वह अधिकतर मेधावियों (intellectuals) तक ही सीमित रहा है। सन् १९४३ में वह अपनी लोकप्रियता के शिखर पर था तब भी इसके केवल ३,६०० सदस्य थे। १९२० के बाद १० वर्षों तक फेवियनोंमें परस्पर अनेक मसलों पर तीव्र विवाद हुआ फलतः बहुत-से युवा मेधावी फेवियनवादको छोड़कर श्रेणी समाजवाद (guild socialism) में शामिल हो गये। वेब-दम्पतीकी सहानुभूति रूसमें होनेवाले प्रयोगके प्रति बढ़ी और उन्होंने एक महान् ग्रन्थ लिखा जिसका नाम है "सोवियत कम्यूनिज्म—ए न्यू सिविलाइजेशन।" कोल ने १९४२ में फेवियनवादकी निम्नलिखित शब्दोंमें फिरसे व्याख्या की—

"हमारा विश्वास है कि समाजवादी आन्दोलनमें कहीं न कहीं एक ऐसी संस्थाकी आवश्यकता है जो नवीन विचारोंको सोचने और उनका प्रचार करनेके लिए बिल्कुल स्वतंत्र हो। भले ही ऐसे विचार समाजवादी परम्पराके अनुसार शास्त्र-सम्मत न हों। *समाजवाद कुछ ऐसे निश्चित नियमोंका समूह नहीं है जिन्हें समय या स्थानका* विचार किये बिना ही हर समय उपयोगमें लाया जाय।" कोल आगे लिखते हैं: 'फेबियन समाज का संगठन विचार-विनिमयके लिए है न कि चुनाव लड़नेके लिए। चुनावको उसने अन्य संस्थाओंके लिए छोड़ दिया है, फेबियनोंको अपने चुने हुए काम—लेखन और गवेषणमें लगे रहना चाहिए। पर चूंकि अब यह विस्तृत कार्य (समाजवादी दलमें समाजवादका प्रचार) को करनेवाला कोई नहीं है, इसलिए फेवियन पुस्तक लेखन कार्य और गवेषण कार्य पूरे दल पर अपना वांछित प्रभाव डालनेमें असमर्थ है। यदि अन्य कोई इस कार्यको नहीं करता है तो फेवियनोंको ही सामने आना होगा और समाजवादका प्रचार करनेका बीड़ा उठाना पड़ेगा।"[1]

भारत के लिए फेबियनवादकी अनुकूलता (Applicability of Fabian-

---

[1] जी० डी० एच० कोल: फेबियन सोशियलिज्म, पृष्ठ १६४.

ism to India). हमारे अहिंसावादी होनेके कारण फेबियनवाद और उससे उत्पन्न मजदूर दलका कार्यक्रम, किसी अन्य प्रकारके समाजवादकी अपेक्षा हमारे स्वभाव और हमारी आवश्यकताओंके अधिक अनुकूल है। हम पूंजीवादी समाजका समाजवादी समाजमें परिवर्तन शान्तिपूर्ण ढंगसे करना चाहते हैं। जैसे-जैसे हमारे ज्ञान, अनुभव और चरित्रका विकास होता जायगा, वैसे वैसे-अधिकाधिक मात्रामें निजी क्षेत्रका स्थान सार्वजनिक क्षेत्र लेता जायगा, और उत्पादनके सभी साधन समाजके स्वामित्वमें आ जायगे। समाजिक न्याय और हिंसामें किसी प्रकारकी भी समानता नहीं है।

ब्रिटेन का मजदूर दल (The British Labour Party). बहुत छोटेसे रूपसे आरम्भ होकर ब्रिटेनके मजदूर दलने पिछले पचास वर्षोंके अन्दर बहुत प्रगति की है। यह दल तीन बार १९२४ में, १९२९-३१ में और १९४५-५१ में सत्तारूढ रह चुका है। पहले दो अवसरों पर अपना पूर्ण बहुमत न होनेके कारण इस दलको दूसरे दलोंकी दया और सद्भावना पर निर्भर रहना पड़ा। किन्तु १९४५-५१ की अवधिमें यह दल न केवल सत्तारूढ रहा बल्कि इसके हाथोंमें वास्तविक शक्ति भी रही और इसने समाजवादकी दिशामें अनेक परिवर्तन किये और अंग्रेजी साम्राज्यवादकी जंजीरे ढीली करके उसे एक लोकतन्त्रीय राष्ट्रमण्डलमें परिणत करनेकी दिशामें भी कदम उठाया।

आरम्भसे ही मजदूर दलकी शक्ति उसके मजदूर-सघोंमें और उसकी नरम नीतिमें ही रही है। सन् १८८९ में कोयलेकी खानमें काम करनेवाले स्कॉच किअर हार्डी ने एक स्कॉटिश मजदूर दलकी स्थापना की थी। उन्होंने ही १८९३ में अन्य व्यक्तियोंके साथ स्वतन्त्र मजदूर दलकी स्थापना की जिनके प्रारम्भिक सदस्योंमें से रैमजे मैकडोनल्ड (Ramsay Macdonald) भी थे, जो १९२४ में प्रथम मजदूर दलीय प्रधान मंत्री हुए। वह एक बार फिर १९२९-३१ में प्रधान मंत्री हुए, पर इसके बाद उन्होंने मजदूर दल छोड़ दिया।

ट्रेड यूनियन कान्फ्रेन्सकी ससदीय कमेटीका नाम १९०६ में ब्रिटिश लेबर पार्टी रखा गया। यह दल व्यक्तियोंका दल होने के बजाय मजदूर समुदायोंका एक सघ है। सही मानोंमें ब्रिटिश मजदूर दलका आरम्भ १९०६ के बाद ही हुआ। उसी वर्ष उसने पार्लमिण्टमें अपनी शक्तिसे ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट पास कराया। इस कानूनने मजदूरों को धरना देनेका अधिकार दिया और इस प्रकार होनेवाले हानिके कारण किये जाने वाले सामूहिक जुर्मानेको अवैध घोषित किया। पार्लमिण्टमें अल्पमतमें होनेके कारण मजदूर दल दूसरे सुधार न कर सका। लेकिन इसने आयरिश स्वशासन विधेयक (Irish Home Rule Bill), मताधिकार विधेयक (Suffrage Bill) और वेल्स विस्थापना विधेयक (Welsh Disestablishment Bill) की तरफदारीमें उदार दलका साथ दिया।

प्रथम विश्व युद्धके पहले समाजवादको और आगे लगाये रखने पर भी मजदूर

दलने अपने आपको समाजवादी घोषित नहीं किया था। सन् १९१८, में उसने 'मजदूर और नवीन सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक कार्यक्रम स्वीकार किया जो निम्नलिखित चार मौलिक सूत्रों पर आधारित था—

(१) सबके लिए न्यूनतम राष्ट्रीय आय।
(२) उद्योगका लोकतन्त्रीय नियंत्रण।
(३) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थामें क्रान्ति।
(४) अतिरिक्त सम्पत्तिका सार्वजनिक कल्याणके लिए उपयोग।

मजदूर दलने सन् १९२९ में 'मजदूर और राष्ट्र' के नामसे प्रसिद्ध एक और घोषणापत्र प्रकाशित किया। इस घोषणापत्रमें मजदूर दलने कोयलेकी खानों, भूमि, यातायात और जीवन बीमाके समाजीकरण और बैंक आफ इंग्लैण्ड (इंग्लैण्ड में रिजर्व बैंक आफ इण्डियाके तुल्य) के राष्ट्रीयकरणका वादा किया। १९२९ में मजदूर दलको २८८ सीटें मिली पर बहुमतमें होनेके लिए २० सीटोंकी कमी रह गयी। अतः इसे अपनेको दो वर्ष तक शासनारूढ़ रखनेके लिए उदार दल पर निर्भर रहना पड़ा। संसदमें अल्पमतमें होनेके कारण यह दल बहुत अधिक समाजवादी विधान न प्रस्तुत कर सका।

मैकडोनल्ड और स्नोडेनके अनुदार दल (Conservative) में शामिल हो जानेके बाद मजदूर दलके सामने विरोधी दल बननेके अतिरिक्त और कोई चारा न रह गया। द्वितीय विश्व युद्धके आरम्भमें सन् १९४० में मजदूर दलने अपना एक कार्यक्रम प्रकाशित किया जो 'मजदूर, युद्ध और शान्ति' के नामसे प्रसिद्ध है। उसी वर्ष उसने चर्चिल के साथ संयुक्त मोर्चा बनाया और जब तक जर्मनीका विनाश न हो गया तब तक मजदूर दल एक छोटे साझेदारके रूपमें पदारूढ़ रहा। जुलाई, सन् १९४५, के आम चुनावमें, हरेककी आशाके विपरीत मजदूर दल अच्छे खासे बहुमतमें निर्वाचित हो गया और वह अपने कार्यक्रमका कुछ अंश कार्यान्वित कर सका।

सन् १९४२ की अपनी कांग्रेसमें मजदूर दलने निम्नलिखित बातों पर जोर दिया था—

"देशके मौलिक उद्योगों और सेवाओंका समाजीकरण तथा सामाजिक उपभोग की दृष्टिसे उत्पादनकी योजना बनाना; क्योंकि यही एक ऐसी न्यायसंगत और समृद्ध आर्थिक व्यवस्थाकी स्थायी आधार-शिला है जिसमें राजनीतिक लोकतंत्र और व्यक्तिगत स्वाधीनताके साथ सभी नागरिकोंके लिए जीवनके एक न्यायसंगत मानदण्डकी संगति बैठाई जा सकती है।"

सन् १९४५ में क्लीमेण्ट ऐटली (Clement Attlee) के नेतृत्वमें सत्तारूढ़ होनेके बाद मजदूर दल ने कोयले और इस्पातके उद्योगों, बैंक आफ इंग्लैण्ड, नागरिक उड्डयन, विद्युत् पारेषण (power-transmission), दूर-संचार (tele-communication), रेल और मोटर-बस परिवहन, लन्दन-परिवहन, जलमार्गों और गैस (इंग्लैण्डमें गैसका अत्यधिक महत्त्व है। यह नलियों द्वारा घरोंमें भेजी जाती है जहां

यह घरोंको गर्म रखने और ईंधनके काम आती है) का राष्ट्रीयकरण कर दिया। रोटी (bread) और दूधके व्यवसायको आर्थिक सहायता दी गयी। आवास योजनाओं (housing scheme), वृद्धावस्थामें पेन्शनकी व्यवस्था पर भी ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्थाका २० प्रतिशत सार्वजनिक नियन्त्रणमें ले आया गया। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा (national health service) की व्यवस्था मजदूर दलकी महानतम सफलताओंमें से एक है।

मजदूर दलके शासनारूढ़ होनेके दिनोंमें ही भारत, पाकिस्तान, बर्मा और लंका को स्वाधीनता मिली।

जबसे मजदूर दल सत्तारूढ़ नहीं रहा तबसे इधर कुछ दिनों दलके भीतर ही दक्षिणपन्थी और वामपन्थी गुटोंमें तीव्र मतभेद रहा है। वामपन्थी अल्पमत है। रूढ़िवादी दल जो इस समय सत्तारूढ़ है, मजदूर दल द्वारा किये कुछ कामोंको नष्ट करनेकी कोशिश कर रहा है। इस्पातका राष्ट्रीयकरण समाप्त किया जा चुका है। अपने १९५६ के बजटमें राजकोष महामात्य (Chancellor of the Exchequer) हैरोल्ड मैकमिलन (जो अब प्रधान मंत्री हैं) ने रोटी और दूधके उद्योगोंको दी जानेवाली सहायतामें कमी करनेका प्रस्ताव किया था।

ब्रिटेन का मजदूर दल शारीरिक और बौद्धिक काम करनेवाले दोनों ही प्रकारके मजदूरोंको मान्यता देता है। वह लोकतन्त्र और न्यायके आधार पर समाजके समाजवादी पुनर्निर्माणका समर्थक है। वह दक्षिणपन्थी और वामपन्थी दोनों ही प्रकारकी तानाशाहीको अस्वीकार करता है। इस दलके सदस्य अपनी नीति व अपने कार्यक्रम को 'सहमति द्वारा क्रान्ति' कहते हैं। 'उदारवाद' (Liberalism) और 'एकदलीयतंत्रवाद' (Totalitarianism) के बीच संघर्ष है। कुछ सदस्योंका विश्वास है कि समाजवादकी प्राप्तिके लिए कुछ स्वेच्छाचारी कदम उठाने पड़ेंगे।

श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism). ब्रिटेन के अनिवादी विचारकों में कुछ समयके लिए श्रेणी समाजवादका फैशन रहा है। रॉको (Rockow) ने इसे "अंग्रेजी फेबियनवाद और फ्रान्सीसी श्रमिक संघवादका बौद्धिक शिशु माना है"।*
हैलोवेल जो इसके प्रति अधिक कठोर है, लिखते हैं: "श्रेणी समाजवाद फ्रान्सीसी श्रमिक संघवादका दुर्बल अंग्रेजी रूपान्तर रहा है और है। मूलरूपमें यह एक केवल अंग्रेजी सिद्धान्त है। कुछ लोग इसे श्रमिक संघवाद और समूहवाद (Collectivism) के बीचका विश्राम शिविर मानते हैं। सीधी कार्रवाई द्वारा राज्यका उन्मूलन करनेमें यह श्रमिक संघवादसे सहमत नहीं है और न यह सभी उद्योगोंका राज्य द्वारा नियन्त्रण ही चाहता है जैसा कि समूहवाद चाहता है। यह बीचका रास्ता अपनाता है। यह राज्यके दायरेके भीतर ही उत्पादनाओं और उत्पादकोंके संघ बनाना चाहता है। श्रेणी (Guild) की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—"अन्योन्याश्रित

* कन्टेम्पोरेरी पोलिटिकल थाट इन इंग्लैंड, पृष्ठ १६०.

या अपनी इच्छासे एक दूसरे पर आश्रित लोगोंकी श्रेणी जो स्वय अपना शासन करती हो और जिसका संगठन समाजके एक विशेष कर्तव्यको जिम्मेदारीके साथ पूरा करनेके लिए हुआ हो।"

श्रेणी समाजवादके प्रधान समर्थक है—वस्तुतः इसकी नीव डालनेवाले ए० जे० पेण्टी (A. J. Penty), 'न्यू एज', के सम्पादक ए० आर० ओरेज (A. R. Orage), इस आन्दोलनके प्रधान वमंड एस० जी० हाबसन (S. G. Hobson) और जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) जो इसके सर्वाधिक प्रभावपूर्ण, विशद विचारक और प्रचारक हैं।

निम्नलिखित कारणोंसे श्रेणी-पद्धतिका उदय हुआ.

(१) मजदूरी की प्रथा और पूजीवादियोंकी मुनाफाखोरी पर समाजवादी प्रहार;

(२) जान रस्किन (John Ruskin), टामस कार्लाइल (Thomas Carlyle) और विलियम मोरिस (William Morris) जैसे साहित्यिक व्यक्तियोका प्रभाव। इन सबने अति उत्पादनके विरुद्ध आन्दोलन किया था;

(३) राज्यके विरुद्ध फ्रान्स का श्रमिक सघवादी आन्दोलन;

(४) सुप्रसिद्ध चर्च मैन फिगिस (Figgis) का प्रभाव जिन्होने राज्यकी सम्प्रभुताकी कपोल-कल्पनाका भण्डाफोड किया और राजनीतिक अधिकार सत्ताको "एक सघ, न कि अधिपति" (an association, not a lordship) बतलाया;

(५) व्यापारवाद या उद्योगवाद (functionalism)। इसके अनुसार सम्पत्तिको व्यापार या उद्योगबद्ध होना चाहिए और उस पर नियत्रण स्वय अपने हाथो व्यापार या उद्योग न करने वाले लोगोके हाथोंसे हटकर काम करनेवालोंके हाथोमें चला जाना चाहिए।

श्रेणी समाजवादका कार्यक्रम. इस कार्यक्रमके निम्नलिखित दो मुख्य अग हैं: (१) मजदूरी प्रथाका उन्मूलन और (२) "राष्ट्रीय श्रेणियोंकी पद्धतिसे उद्योगके क्षेत्रमें स्वशासनकी स्थापना, यह राष्ट्रीय श्रेणी समाजके अन्य लोकतात्रिक सगठनोंसे मिलकर काम करेगी।"[१]

श्रेणीवादी मार्क्सवादकी इस मागका समर्थन करते हैं कि मजदूरी प्रथाका उन्मूलन किया जाना चाहिए क्योंकि यह प्रथा नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और कलात्मक सभी दृष्टियोंसे बुरी है। मजदूरी प्रथा मजदूरोंमें दास भावना उत्पन्न करती है और उनकी सर्जक प्रवृति (creative instinct) को कुण्ठित करती है।

---

[१]जोड द्वारा उद्धृत मार्डन पोलिटिकल थ्योरी, पृष्ठ ७५.

श्रेणीवादियोंका कहना है कि व्यक्तिको वेतन मनुष्य समझकर देना चाहिए न कि इस नाते कि उसने कितना श्रम प्राप्त हुआ है। समाजको उसे काम करते समय तथा बेकारीके समय, बीमारीके समय और उसके स्वस्थ रहते समय दोनों हालतोंमें वेतन देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उत्पादनकी व्यवस्थाका नियंत्रण मजदूरोंके साथ मिलकर किया जाना चाहिए।

जोड श्रेणी-समाजवादको व्यावसायिक लोकतंत्र कहते हैं। उद्योग पर बौद्धिक व शारीरिक दोनों ही प्रकारके काम करनेवालोंका नियन्त्रण होना चाहिए। समाजमें शक्ति और उत्तरदायित्व किये गये कामोंके अनुपातमें होना चाहिए।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) यह श्रेणी समाजवादका मूल मन्त्र है। यह दलील दी जाती है कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। श्रेणी-समाजवादियोंका विश्वास है कि "यद्यपि एक व्यक्ति अपने पड़ोसीका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता पर वह कुछ ऐसे सामान्य उद्देश्योंका प्रतिनिधित्व कर सकता है जो उसके और उसके पड़ोसियों दोनोंके हों।" यह व्यावसायिक प्रतिनिधित्व द्वारा ही सम्भव है। ऐसा प्रतिनिधित्व स्थानीय व राष्ट्रीय दोनों आधारों पर होगा। कर-आरोपण (taxation), प्रतिरक्षा (defence) और शिक्षा जैसे राष्ट्रीय मामलोंका प्रतिनिधित्व एक राष्ट्रीय संस्था द्वारा होगा। स्थानीय संस्थाएं गैस, बिजली, और पुलिस जैसे मामलोंकी देख-भाल करेंगी।

कारखानोंकी निर्वाचित समितियां मजदूरी, कामके घण्टों और उत्पादनके परिमाण आदि प्रश्नोंका निपटारा करेंगी। कारखाना समितियोंके साथ मिलकर उपभोक्ता समितियां उत्पादन-व्यय, मूल्यों और उत्पादनकी सीमाके प्रश्नोंका फैसला करेंगी।

श्रेणीवादियोंका कहना है कि लोकतंत्रको पहले आर्थिक क्षेत्रमें आना चाहिए, बादमें इसे राजनीतिक क्षेत्रमें लागू किया जाना चाहिए। आज तो इसका उल्टा होता दिखाई दे रहा है। श्रेणी-समाजवादके अनुसार आधुनिक औद्योगिक परिस्थितियां इतनी अस्त-व्यस्त और शोषणमूलक हैं कि उनको पहले सुधारे बिना सामाजिक जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है।

श्रेणी-समाजवादके अन्तर्गत न केवल औद्योगिक श्रेणी होगी, बल्कि उपभोक्ता-श्रेणी, नागरिक-श्रेणी, और अन्य कृत्यों व जीविकाओंकी श्रेणियां होंगी। इन सबका संगठन स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय आधार पर होगा।

राज्यके स्थान पर कम्यून या स्वशासित समाजकी स्थापना होगी। इसके कर्तव्य सीमित रहेंगे। उत्पादनके यंत्र श्रेणियोंको राज्यके न्यासधारी या ट्रस्टीके रूपमें सौंप दिये जायगे।

श्रेणी-समाजवादकी पद्धतियां (Methods of Guild Socialism). श्रमिक सघवादसे भिन्न श्रेणी समाजवाद विकासवादी पद्धतियों पर विश्वास करता

हैं। पर उसे साथ ही साथ संसदीय कार्योंमें सीमित विश्वास है। यह मजदूर संघोका बहुत उपयोग करना चाहता है। "आजके ट्रेड यूनियन कलकी श्रेणियां होगी।" ये श्रेणियां सम्पत्तिशाली वर्गोंके हाथसे धीरे-धीरे शक्ति छीन लेंगी। इस मामलेमें वे श्रमिक संघवादसे भिन्न हैं जो सीधी कार्रवाई और आम हड़तालका रास्ता अपनाता है।

आलोचना. (१) श्रेणी-समाजवादी मध्ययुगकी श्रेणी व्यवस्थाको आदर्श मानता है और उसकी उपासना करता है। (२) व्यवसायवादका अर्थ होगा समाज को छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बाट देना। (३) श्रेणी-समाजवाद अव्यावहारिक है क्योंकि उत्पादकों और उपभोक्ताओंके बीच विभेदकी निश्चित रेखा खीच सकना सम्भव नहीं है और यदि यह विभेद स्पष्ट हो भी तो उपभोक्ताओं पर उत्पादकोंके हावी होने की सम्भावना है। (४) एक आर्थिक समद राजनीतिक समदका स्थान आसानीसे नहीं ले सकती। अधिकसे अधिक वह एक सलाहकार परिषदका कार्य कर सकती है।

गुण (Merits). ऊपर बताई गयी कमजोरियोंके बावजूद यह मानना ही पड़ेगा कि उद्योगोंमें लोकतन्त्रकी आवश्यकता और महत्त्व व कर्मचारीतन्त्रीय नियन्त्रण के खतरोंकी ओर जनताका ध्यान केन्द्रित करके तथा कारखानोंके संचालनमें श्रमिकोंके योग एवं राजनीति और उद्योग दोनोंमें व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के लाभोंसे जनताको अवगत करके श्रेणी समाजवादने मानव समाजकी बहुत बडी सेवाकी है।

लेनिन और लेनिनवाद. लेनिन (१८७०-१९२४), १९१७ की रूसी क्रान्ति के विधाता और वर्तमान रूसी राष्ट्रके पिता थे। वे सिद्धान्तवादी भी थे और कर्मयोगी भी। वह १८९० ही में क्रान्तिकारी आन्दोलनमें सम्मिलित हो गये थे। उन्होने मार्क्स और ऐन्जेल्सका अध्ययन करनेमें अनेक वर्ष विदेशोंमें बिताये। परिस्थितियों के सुखद-संयोग-वश वह प्रथम विश्व-युद्धके दौरानमें जर्मन लोगों द्वारा स्वदेश लाये गये। उन्होने इस अवसरका उपयोग जारशाही शासनको उखाड़ फेंकने और क्रान्ति करानेमें किया। नवम्बर, १९१७, से लेकर अपनी मृत्युपर्यन्त १९२४ तक वह बराबर सोवियत पार्टीके सर्वमान्य नेता रहे। उन्होंने मार्क्सवादका उपयोग रूसी परिस्थितियो में बहुत ही बुद्धिमत्तासे किया, यद्यपि उन्होंने कुछ विशेष बातोंमें मार्क्सवादमें संशोधन भी किया। उन्होने मार्क्सवादकी एक बहुत बडी सेवा यह की कि मजदूरोंमें क्रान्तिके लिए लगन फिरसे भर दी।

लेनिन द्वारा मार्क्सवादका संशोधन. (१) यद्यपि मार्क्सने यह कल्पना कर ली थी कि साम्राज्यवाद पूजीवादका अन्तिम रूप होगा पर लेनिन ने ही इस विचारको पूर्ण रूपसे विकसित किया। स्तालिन द्वारा की गयी व्याख्याके अनुसार लेनिनवाद "साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति (Proletarian Revolution) के युगका मार्क्सवाद है।" लेनिन ने यथा-सम्भव अनेक प्रकारोंसे यह सिद्ध किया कि साम्राज्यवाद मरते हुए पूजीवादका अन्तिम रूप है। एकाधिकृत पूजी (monopoly capital) और वित्त पूजी (finance capital) का अवश्यम्भावी परिणाम साम्राज्य-

वाद है। साम्राज्यवादमें शुरूसे लेकर अन्त तक युद्ध और संघर्ष होता रहता है। पहले तो स्वयं साम्राज्यवादी देशके भीतर ही संघर्ष होता है। उसमें अमीरों और गरीबोंके बीच एक बहुत बड़ी खाई पैदा हो जाती है और ऊपरसे देखनेमें यह देश समृद्धिशाली मालूम होता है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों सर्वहारा और मध्यवर्गके बीच यह संघर्ष अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। साम्राज्यवादी संघर्षका दूसरा रूप होता है पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देशोंकी पारस्परिक होड़। साम्राज्यवादके क्षेत्रमें पुराने साम्राज्यवादियों और नये साम्राज्यवादियोंमें संघर्ष होता है। यह संघर्ष उनके बीच होता है जिनके पास साम्राज्य है और जिनके पास नहीं है। इसका मतलब होता है कच्चे माल, बाजारों और प्रभाव-क्षेत्रों आदिके लिए छीनाझपटी। इस संघर्ष का तीसरा रूप है योरोपीय उपनिवेशवादके विरुद्ध एशिया और अफ्रीका का राष्ट्रीय आन्दोलन।

(२) लेनिन ने यह बतलानेके लिए बड़ा परिश्रम किया कि साम्यवाद सबसे पहले किसी अत्यधिक औद्योगिक देशमें न आकर, जिसकी मार्क्स ने आशा की थी, रूस जैसे सामन्तशाही देशमें कैसे गया ? इसका कारण लेनिन यह बतलाते हैं कि यद्यपि रूस ने पूंजीवादके चरम रूपका अनुभव नहीं किया था फिर भी उसने पूंजीवाद और उद्योगवादका अनुभव अप्रत्यक्ष रूपमें किया। यह तो बहुत ही कमजोर स्पष्टीकरण मालूम होता है। तात्कालिक रूसी समाज अत्यधिक सामन्तशाही, सैनिकवादी और निरंकुश हो रहा था और उसे फासीसी पूर्वोसे शक्ति मिल रही थी, और जनता राहत देनेवाले किसी भी परिवर्तनके लिए तैयार थी।

(३) मार्क्सवादके प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूपकी एक राष्ट्रीय व्याख्या करके लेनिन ने उसका संशोधन किया। उन्होंने 'एक देशमें समाजवाद' की सम्भावनाके सिद्धान्तको जन्म दिया। उनका कहना था कि जैसे पूंजीवाद अपने उत्थानमें संसारके विभिन्न भागोंमें एक-सा नहीं रहा, ठीक उसी तरह समाजवादका विस्तार भी सब जगह एक समान नहीं होगा। एक ही प्रयत्नमें संसारमें साम्यवाद जैसी कोई चीज स्थापित नहीं हो सकती। उसका प्रसार असमान और असम्बद्ध रूपमें ही होगा। लेनिन का विश्वास था कि पूंजीवादके सागरके बीच एक समाजवादी द्वीप सारे संसारके सर्वहारा वर्गके क्रान्तिकारी आन्दोलनके लिए एक प्रकाश-पुंजका काम करेगा। 'एक देशमें समाजवाद' के प्रश्न पर स्तालिन और ट्राट्स्कीमें आगे चलकर तीव्र मतभेद हो गया। ट्राट्स्की को अपने देशसे भगा दिया गया और एक हत्यारेने मैक्सिकोमें उनके सिरके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। रूस के नये नेतृत्वने सन् १९५६ में ट्राट्स्की को रूसी क्रान्तिके इतिहासमें उनका उचित स्थान दिलानेका प्रयत्न किया है, और उसकी उपलब्धिके रूपमें स्तालिनके झण्डेको नीचे गिरानेका प्रयत्न किया जो पिछले तीसेक वर्षोंसे अधिक समयसे ऊंचा उड़ता चला आ रहा है। यों तो सचमुच स्तालिन के लिए लोगोंके दिलोंमें जो विशेष आदर भाव था उसे अब व्यक्तित्व पूजा कहकर उसकी निन्दाकी जा रही है। इस विचारका नेतृत्व ख़ुश्चेव कर रहे हैं

और आश्चर्यकी बात तो यह है कि वह अब स्वयं "व्यक्तित्व पूजा (personality cult)" के केन्द्र बनते जा रहे हैं।

(४) मार्क्स ने सर्वहारा वर्गके एकाधिनायकत्व (dictatorship) की शिक्षा दी थी पर लेनिनने पार्टीके एकाधिनायकत्वका समर्थन किया। लेनिनके सिद्धान्तमें पार्टीको सर्वहारा वर्गके हितमें और सर्वहारा वर्गके नाम पर काम करना था। उन्होंने ससदात्मक शासनका तिरस्कार करके शासनकी सोवियत प्रणालीके सिद्धान्तको अपनाया। उन्होंने इस विचारका प्रतिपादन किया कि केवल साम्यवादी दल ही सर्वहारा वर्गकी क्रान्ति ला सकता है। लोकतान्त्रिक केन्द्रीयकरण (Democratic Centralism) के सिद्धान्त पर आधारित साम्यवादी दल मजदूर दलके अग्रिम दस्तेका काम करेगा। दलके 'आन्तरिक लोकतन्त्र' को जीवित रखनेके लिए लेनिन ने आलोचना और आत्मालोचनाका महत्त्व बतलाया। दलको सर्वहारा वर्गके एकाधिनायकत्वका साधन बनना था और उसे श्रमिक वर्गकी एकता, इच्छा-शक्ति और बुद्धिमत्ताका मूर्त्तरूप बनना था। अन्तमें समय-समय पर अवसरवादी लोगोको बाहर निकाल कर दलको अपने आपको शुद्ध और सबल बनाना था।

(५) लेनिन इतने अधिक व्यावहारिक विचारक थे कि वह किसी कल्पनाके पीछे मर मिटनेको तैयार न थे। जब उन्होंने देखा कि १९१७-२१ के सघर्षवादी साम्यवादका बडा प्रबल विरोध जनतामें किया जा रहा है, तब उसे वापस ले लेनेमें और उसके स्थान पर पूजीवादको अनेक सहूलियतें देनेवाली नई आर्थिक नीति लागू करनेमें उन्हे कोई हिचक नही हुई। वैयक्तिक पहलकदमी और वैयक्तिक मुनाफेको एक निश्चित सीमाके भीतर फिरसे लागू किया गया।

लेनिन की मृत्युके बाद स्तालिन और ट्राट्स्की के व्यक्तिगत और सैद्धान्तिक मतभेदोंने पार्टीकी जडे हिला दी। ट्राट्स्की किसानोका पूरा-पूरा सामुदायीकरण करना चाहते थे पर स्तालिन उन्हें और अधिक रियायत देना चाहते थे। स्तालिन समाजवादको सबसे पहले रूसमें सफल बनाना चाहते थे, यद्यपि उन्होंने विश्वव्यापी साम्यवादकी स्थापनाके सभी प्रयत्नोका समर्थन किया।

आलोचना और मूल्यांकन. (१) यद्यपि लेनिन ने कभी-कभी मार्क्स के उपदेशोसे भिन्न रास्ता अपनाया फिर भी वह मार्क्स के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद सम्बन्धी उपदेश पर दृढ रहे। (२) मार्क्स की भांति ही उन्हे वर्गयुद्ध और सर्वहारा वर्गकी अन्तिम विजय पर विश्वास था। साथ ही उन्होंने मार्क्सवाद की स्वतत्र व्याख्या भी की। लेनिन ने पार्टीको और पार्टीमें मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के महत्त्व और कार्यको बहुत अधिक प्रधानता दी। (३) लेनिन ने सम्भवत रूस की परिस्थितियोसे मेल बैठानेके लिए 'एक देशमे समाजवाद' के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। (४) लेनिनकी प्रधान देन सिद्धान्तकी बारीक व्याख्यामें उतनी नही है जितनी सक्रिय एवं गतिशील नेतृत्वमें है, जो उन्होंने अपने देशको उसके सकट काल में दिया। जैसा कि एक लेखकने लिखा है "लेनिनवाद एक वैज्ञानिक विश्वासकी

अपेक्षा एक भावनात्मक आह्वान अधिक है।"

स्तालिनवाद. सोवियत रूस में १९१७ से आरम्भ होनेवाले समाजवादी पुनर्निर्माण युगके स्तालिनवादको लेनिनवादका ही अनुगामी कहा जाता है। जहां तक स्तालिन क्रान्तिके लक्ष्य पर दृढ़तासे जमे रहे, वह लेनिनवादके प्रति वफादार रहे। पर अपने व्यक्तिगत प्रभावको बढ़ानेके इरादेसे शक्ति प्राप्त करनेकी अपनी अत्यधिक लालसामें वह लेनिनवादसे दूर हट गये। लेनिन के लोकतांत्रिक-शक्ति-केन्द्रीयकरणके प्रति वह जबानी श्रद्धा दिखलाते रहे। पर उनके हाथोंमें यह सिद्धान्त लोकतंत्रकी अपेक्षा केन्द्रीयकरण अधिक हो गया। लेनिन द्वारा प्रतिपादित पार्टीके भीतर आलोचना और आत्म-आलोचनका सिद्धान्त त्याग दिया गया और उसके स्थान पर पूर्ण-केन्द्रीयकरण अपनाया गया। स्तालिन ने न केवल सर्वहारा वर्गके अधिनायकत्वको पार्टीके अधिनायकत्वमें बदल दिया बल्कि पार्टीके भीतर सारे विरोधोंको कुचल कर पार्टी को सर्वाधिकारवादी शासनका साधन बना दिया। इस दृष्टिसे यह लेनिन की अपेक्षा हिटलर और मुसोलिनी के अधिक अनुरूप थे।

लेनिन के सिद्धान्त 'एक देशमें समाजवाद' पर स्तालिन कायम रहे। रूस के भीतर पूंजीवादके बचे-खुचे अंशको उन्होंने निर्दयतापूर्वक कुचला। उन्होंने पंचवर्षीय योजनाओंकी शृंखलासे देशका महान् समाजवादी पुनर्निर्माण किया। रूस ने अपनी छठी पंचवर्षीय योजना भी लागू कर दी है। लेनिन द्वारा किये गये साम्राज्यवादके विश्लेषणको स्तालिन मानते रहे और उन्होंने साम्यवादी दलके भीतरी मत-भेदोंसे सफलतापूर्वक लाभ उठाया। उन्होंने सोवियत राज्यको और रूस को संसारमें अकेला न पड़ने देनेमें सफलता प्राप्त की। विश्व भरके सर्वहारा वर्गके आन्दोलनोंका पथ-प्रदर्शन करनेमें लेनिन द्वारा स्थापित तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) को कायम रखे रहे। [अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Workmen's Association) का तीसरा संगठन पहला संगठन १८६४ में कार्ल मार्क्स ने किया जिसको प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International) की संज्ञा दी गयी है। दूसरा संगठन १८८९ में बनाया गया जिसे द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कहते हैं। तीसरे संगठनकी स्थापना लेनिन द्वारा मार्च, १९१९, में हुई, इसे तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) कहते हैं। इसका उद्देश्य है सारे संसारके मजदूरोंको एक सूत्रमें बांधना और पूंजीवादी शोषणके विरुद्ध विद्रोह करना]। पर साथ ही साथ बोलशेविक पार्टीके गठनके सम्बन्धमें लेनिन के सिद्धान्तोंकी उन्होंने *सफलतापूर्वक हत्या भी की।*

इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि लेनिनवाद स्तालिन के हाथोंमें आकर भ्रष्ट हो गया। जिस आन्दोलनको स्तालिनने आरम्भ किया उसे सच्चे अर्थोंमें मजदूरों और किसानोंकी क्रान्ति नहीं कहा जा सकता। सोवियतें (soviets, *i.e.* elected representative bodies of peoples) जनताके लोकतन्त्रका गढ़ होनेके बजाय पार्टीके हाथोंमें एक साधन हो गयीं जिससे जनता पर निर्दय नियन्त्रण रखा जा सके।

सोवियत रूस के हितोंकी सिद्धिके लिए "सर्वहारा वर्गकी अन्तर्राष्ट्रीय एकता" का थोथा नारा जीवित रखा गया। सन् १९४३ में कॉमिन्टर्नको अनावश्यक और रूसके युद्ध प्रयत्नोंमें बाधक बताकर उसे भंग करनेमें स्तालिन को कोई हिचक नहीं हुई। Communist International को ही संक्षेपमें Comintern कहते हैं। यह Third International का ही दूसरा नाम है। कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल द्वारा कहीं भी सफल क्रान्ति करानेका एक भी उदाहरण नहीं है। दूसरे देशोंके साम्यवादियोंको बहुधा सोवियत विदेश नीतिको हानि पहुंचानेवाला 'पांचवा दस्ता' (fifth columnist)[१] समझा जाता था।

स्वीकारात्मक (positive) और नकारात्मक (negative) दोनों ही तरीकोंसे स्तालिनवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि साम्यवादकी अपेक्षा राष्ट्रीयतावाद अधिक सबल है। स्तालिन ने टीटो (Tito of Yugoslavia) को सम्मानित साम्यवादियोंकी श्रेणीसे अलग करने में कोई हिचक नहीं की क्योंकि टीटो ने अपनी गृहनीति व विदेश नीतिमें रूस की आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया, यद्यपि आर्थिक मामलोंमें वह अपनेको तथा अपने देशको साम्यवादी ही कहते रहे। स्तालिन की मृत्युके बादसे रूस के साथ यूगोस्लाविया के सम्बन्ध काफी सुधर गये हैं। चीन में भी जब साम्यवाद पूरी तरह कायम हो गया, तभी स्तालिन ने चीन को विश्वसाम्यवादी भातृमण्डलीका सदस्य माना। इसके पूर्व चीन के साम्यवादको वह एक दक्षिण पन्थी विचलन (a rightist deviation) मानते थे।

लेनिन एक असाधारण प्रतिभाके व्यक्ति थे, उनकी तुलनामें, स्तालिन एक अल्पबुद्धि और मामूली क्षमतावाले व्यक्ति थे। उनके तरीके प्रायः भद्दे (crude) और तानाशाही (dictatorial) होते थे।

माओवाद (Maoism). माओवादको लेनिनवादका ही एक ऐसा स्वरूप माना जा सकता है जो खेतिहर देशकी परिस्थितियोंके अनुकूल हो। भूमि की भूख चीन की प्रधान समस्या रही है और माओवाद उसी समस्याका उत्तर है।

आधुनिक चीन में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियोंका श्रीगणेश डा० सनयात सेन (Dr. Sunyat-sen) से हुआ। इन्होंने सन् १९११ में अपने तीन सिद्धान्त—राष्ट्रीयतावाद, लोकतंत्र तथा जनताकी जीविका अथवा समाजवाद—ससारके सामने रखे। केवल इन तीन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किसी नये स्वर्ग या नये ससारका निर्माण

---

[१] **Fifth Columnist.** १९३६ में स्पेनके जन विद्रोहमें जो जनरल फ्रैंकोके नेतृत्वमें हुआ था, चार दस्तोंने राजधानी मैड्रिड पर प्रत्यक्ष आक्रमण किया था, परन्तु बहुतसे ऐसे लोग थे जिन्होंने गुप्त रूपसे तोड़-फोड़ उपद्रव करके, फूट डालकर और भेदिया बनकर गवर्नमेन्टको खोखला किया। इन छिपे हुए विद्रोहियोंको पाचवां दस्ताकी सज्ञा दी गयी तबसे ऐसे लोग जो सगे बनकर दुश्मनकी मदद करते है पाचवा दस्ता (fifth columnist) कहलाने लगे है।

नहीं कर सका। सन् १९१९ तक चीन की हालत बिगड़ती ही गयी। इसी समय रूस में बोल्शेविकवादका सितारा दिन प्रतिदिन बुलन्द होता जा रहा था। चीन के पढ़े-लिखे समझदार लोग साम्यवादसे सहानुभूति रखने लगे। १९१८ में पेकिंग में एक साम्यवादी पार्टीकी स्थापना हो चुकी थी। इसी समय प्रसिद्ध दार्शनिक ली ताओ-चाओ (Li Tao-chao) साम्यवादकी ओर झुक रहे थे। उनके पुस्तकालयमें काम करनेवाले माओ-से-तुंग (Mao Tse-tung) पर अपने मालिकका गहरा प्रभाव पड़ा और वह साम्यवादी समाजमें एक विद्यार्थी सदस्यके रूपमें शामिल हो गये।

इस बीच चीन और रूस के बीच कर्मचारियोंका आदान-प्रदान हो रहा था। डा० सनयात सेन स्वयं भी साम्यवादकी ओर सहानुभूति पूर्ण हो रहे थे। जुलाई, १९२१, तक पेकिंग, कैन्टन, शंघाई और हुनान में साम्यवादी दलकी स्थापना हो गयी। साम्यवादी दलके नेतृत्वमें सर्वहारावर्गका उत्थान अपना मार्ग बना रहा था।

साम्यवादी दलका संगठन ठीक लेनिनवादी तरीके पर हुआ था। इसका सनयात सेन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। अपने तीन सिद्धान्तोंमें से एक राष्ट्रीयतावादको प्राप्त करनेके लिए उन्होंने लेनिनवादी पद्धति पर अपने दलका संगठन किया। डा० सनयात सेन द्वारा स्थापित क्वो-मिन-तांग (Kuo Min-tang) दल सभी वर्गोंका संयुक्त दल था। साम्यवादियोंसे कहा गया कि इस दलमें शामिल होकर इसे शक्तिकी गतिशील शक्ति बनायें। साम्यवादी वैयक्तिक रूपसे इस दलमें शामिल हुए। साथ ही साथ साम्यवादी दल भी पृथक् कायम रखा गया। रूसी साम्यवादी नेता बोरोदिन (Borodin), जो रूस से चीन आ चुके थे, और सनयात सेन—ये दोनों—क्वो-मिन-तांग दलके प्रधान सचालक थे।

इस समय चीन के लोग नेतृत्वके लिए संगठित हो रहे थे। माओ-से-तुंग जो स्वयं एक कृषक परिवारके थे, क्रान्तिके लिए किसानोंका संगठन करने लगे। वह जानते थे कि जनतामें किस प्रकार असन्तोष पैदा किया जाता है। विद्यार्थी, पत्रकार और इस प्रकारके अन्य लोग उनके दलमें शामिल हो गये। साम्यवादियोंने क्वो-मिन-तांग दलमें अनेक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिये और एक साम्राज्यविरोधी और सामन्त-विरोधी कार्यक्रम तैयार किया गया।

इसी बीच डा० सनयात सेन की मृत्यु हो गयी और उनके उत्तराधिकारी दक्षिण-पन्थी सेनापति च्याग काई-शेक (Chiang kai-shek) साम्यवादियों और क्रान्ति-कारियोंके विरुद्ध हो गये। क्रान्तिकारियोंको बड़ी संख्यामें क्वो-मिन-तांग से निकाल दिया गया और जिन पर जरा भी सन्देह था उन सबको गोली मार देनेका आदेश हो गया। बोरोदिन छिप कर रूस भाग गये।

जब च्यांग काई-शेक अपने विरोध तरीकोंका उपयोग कर रहे थे तब किसानों और मजदूरोंमें गहरे सम्बन्ध सूत्र (alliance) कायम किये जा रहे थे और लोक-तंत्रीय अधिनायकत्व स्थापित करनेकी योजनाएं बनाई जा रही थीं। यह समझकर कि सैनिक शक्तिके बिना प्रभावपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सकता सब-जब लाल सेनाओं

(साम्यवादी झण्डेका रंग लाल होता है। इसीलिए प्रायः साम्यवादियोंको लाल या reds भी कहते हैं) की स्थापना हो रही थी।

सन् १९२७ से राष्ट्रवादियों (को मिन-ताग) और साम्यवादियोंके बीच तीव्र मतभेद हो गया। कृषि सुधारों और सशस्त्र विद्रोहो पर जोर दिया गया। साम्यवादियोका निर्दयतापूर्वक दमन किया गया और देशमें गृह-युद्धकी आग भड़क उठी। पर माओ से-तुग अपनी शक्ति बढ़ानेमें सफल हुए और १९३१ में वह नवस्थापित अस्थायी (Provisional) सोवियत सरकारके अध्यक्ष बने। (सोवियतके अर्थ रूसकी सरकार नही है। सोवियत सरकारका अर्थ है सोवियत प्रणालीकी सरकार जिसमें सोवियतो द्वारा शासन होता है।)

इसी समय मंचूरिया पर जापानका हमला हुआ। सन् १९३१ में के० एम० टी० (को मिन-ताग) द्वारा मुकदेन और जहोल प्रान्तोको छोड़ देनेसे साम्यवादियोको विरोधी प्रचारका बड़ा अवसर मिल गया। जिस समय राष्ट्रीयतावादी जापानियोंसे युद्ध करनेमें लगे हुए थे उसी समय साम्यवादियोने राष्ट्रीयतावादियो (K.M.T.) के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन सगठित किया। के० एम० टी० इस परिस्थितिका मुकाबला न कर सका और उसने सन् १९३५ में बाहरी सकटको समाप्त करनेके उद्देश्यसे साम्यवादी दलसे राष्ट्रीय एकताकी प्रार्थना की। दोनो दल अपने मतभेद भूल कर और एक होकर अपने सामान्य शत्रु जापानको हरानेमें लग गये। पर युद्धके दौरानमें च्याग काई-शेक ने अपनी विशिष्ट फौजें सुरक्षित रखी ताकि युद्धके बाद साम्यवादियोंसे निपटा जा सके।

युद्धके बाद च्याग काई-शेक का दल भ्रष्टाचार और कुनबापरस्ती (nepotism) के कारण दिन प्रतिदिन अधिकाधिक बदनाम होता जा रहा था। जनताकी कृषि सम्बन्धी आवश्यक्ताओंकी बराबर उपेक्षाकी जाती रही। इससे साम्यवादियोको आगे बढ़नेका मौका मिला। थोड़ा-थोड़ा करके उन्होने सारे चीन पर कब्जा कर लिया और १९४९ में च्याग काई-शेक और उनके अनुयायियोंको फारमूसा द्वीपमें खदेड दिया गया। जहा वे अमेरिकी मददसे समय-समय पर साम्यवादियोके विरुद्ध संग्राम करते आ रहे हैं। चीनकी नई सरकारको ब्रिटेन, रूस और अनेक एशियाई देशो द्वारा मान्यता मिल चुकी है। पर अब भी वह सयुक्त राष्ट्र संघके बाहर है। बड़े देशोमें, सम्भवतः अमेरिका चीनकी इस साम्यवादी सरकारको मान्यता देनेमें बिल्कुल आखीरमें होगा।

मार्क्सवाद-लेनिनवादकी शिक्षाओंमें माओ का योग.

साम्यवादी चीनमें साम्यवादी रूसके सगठनका बडी बारीकीसे अनुकरण किया गया है। सामन्तवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद पर सबल प्रहार किये गये हैं। पर चीनमें किसानोंके सगठनके सम्बन्धमें रूससे बिल्कुल भिन्न मार्ग अपनाया गया। साम्यवादी रूस तो खेतोके समूहीकरणमें बहुत आगे बढ़ चुका है पर चीनमें

किसानोंका स्वामित्व (peasant proprietorship) एक सामान्य व्यवस्था है। किसी ऐसे व्यक्तिको जमीन रखनेकी आज्ञा नहीं है जो स्वयं उसे जोत न सके। इसके परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग समाप्त हो चुका है। माओ ने ग्रामीण सर्वहारा और शहरी सर्वहारामें बहुत विभेद किया है। उनका साम्यवाद इस समय ग्रामीण सर्वहारा वर्गका साम्यवाद है।

विरोधियोंमें और यहा तक कि ईमानदारीसे मतभेद रखनेवालोंमें भी निपटनेमें सख्त तरीके अपनाये गये हैं। विचारोंकी यान्त्रिक एकरूपता कायम करनेमें 'मस्तिष्क शुद्ध' (brain washing) का तरीका अपनाया गया है। फिर भी माओ से-तुग की प्रतिभा विरोधियोंको अपनेमें मिला लेनेमें रही है न कि उन्हे समाप्त कर देनेमें, जैसा कि स्तालिन किया करते थे। न केवल किसानों और शहरी सर्वहारा वर्गको बल्कि मध्यम वर्गों और सम्पन्न देश-भक्त लोगोंको भी कम्युनिस्ट पार्टीमें शामिल होने दिया गया है। इस प्रकार सर्वहारा वर्गकी प्रभुताके पुराने विचारको 'वर्गोंके सहयोगकी दिशा' में संशोधित कर दिया गया है। माओने अपनी पुस्तक 'नवीन लोकतन्त्र (*A New Democracy*–१९३८)' में 'सामन्तों और देशद्रोही पूंजीपतियोंके बचेखुचे प्रतिक्रियावादी अशोंके विरुद्ध 'लोकतन्त्रीय अधिनायकत्व' की धारणाके आधार पर जनताके एक नये मित्र-सम्बन्धका समर्थन किया है।

एक असाधारण सैनिक नेता होते हुए भी माओ-त्से-तुग का विश्वास है कि सेना को असैनिक (civilian) सत्ताके अधीन होना चाहिए। यह उनका सकल्प है कि साम्यवादी आन्दोलनको महत्वाकांक्षी सेनापतियोंका खिलौना नहीं बनने दिया जायगा जैसा कि सनयात सेन की मृत्युके बाद वर्षों तक होता रहा।

विचारों और सस्थाओंके क्षेत्रमें हीगेल और मार्क्स के 'अन्तर्विरोधों के सिद्धान्त' को माओ ने माना है। मार्क्स की भांति उनका भी विश्वास है कि विचारोंका विकास पदार्थोंसे होता है। युद्धोत्तर ससारके बारेमें माओ स्वीकार करते हैं कि सरकार समाजवादी और पूंजीवादी गुटोंमें बटा हुआ है। दोनों ही में अपने अन्तर्विरोध हैं। माओ के अनुसार उनमें केवल एक अन्तर यह है कि पूंजीवादके अन्तर्विरोध केवल युद्ध और क्रान्तिके द्वारा ही दूर हो सकते हैं पर समाजवादके अन्तर्विरोध शान्तिपूर्वक दूर हो जायगे। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह केवल ख्याली पुलाव है और साम्यवादके पिछले इतिहाससे माओ के इस दावेकी पुष्टि नहीं होती।

बी० आई० श्वार्ट्स (B. I. Schwartz) अपनी पुस्तक *Chinese Communism and the Rise of Mao* में लिखते हैं कि चीनी साम्यवादी अपने आपको कट्टर मार्क्सवादी लेनिनवादी मानते हैं। वे अपनी पार्टीको 'ऐतिहासिक मुक्तिका एजेण्ट' और सर्वाधिकारवाद (totalitarianism) को 'लेनिनवादी धारणामें निहित प्रवृत्ति' मानते हैं (Chinese Communists regard the party as the agent of historic redemption and look upon totalitarianism as a tendency inherent in Leninist conception

of the party)। स्वार्ट्स के अन्तिम शब्दोंमें 'साराशमें यद्यपि चीनी साम्यवादने अन्तिम रूपमे तथ्यो द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि साम्यवादी पार्टी और सर्वहारा वर्गके बीच किसी प्रकारके भी आवश्यक संगठनात्मक सम्बन्धका अभाव है; फिर भी इस आन्दोलनमें मार्क्सवादी लेनिनवादी परम्पराके कुछ आधारभूत तत्त्व अब भी कायम है। (In sum,..........while Chinese Communism did conclusively demonstrate in fact the utter back of any necessary organic relation between Communist parties and the industrial proletariat, the movement still retains certain fundamental elements of Marxist-Leninist tradition.)[1]

भारत के लिए समाजवादी ढांचा या समाजवादी समाज.

जबसे जवाहरलाल नेहरू सन् १९५४ में चीनसे वापस आये तबसे वह भारतमें समाजवादी समाजकी स्थापनाके लिए उत्साहसे बहुत भरे हुए है। १९५५ के आरम्भ में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेसके अवादी (Avadi) अधिवेशनमें यह स्वीकार किया गया कि ऐसे समाजकी स्थापना ही हमारा लक्ष्य है। १९५६ में अमृतसर अधिवेशनमें 'समाजवादी ढाचा (socialist structure)' शब्दका उपयोग किया गया। सम्भवत इस परिवर्तनका अर्थ यह है कि जो आदर्श योजनाके नक्शेके रूपमें अब तक फाइलमें दबा था, वह अब एक ढाचेकी तरह अपने पावो पर खडा होने लगा है। "समाजवादी समाज" या "समाजवादी ढाचा" शब्द जानबूझकर अस्पष्ट रखे गये है। क्योकि समाजवादका अर्थ सिद्धान्तमें या व्यवहारमें सबके लिए एक नही होता। ब्रिटेनके मजदूर दलका समाजवाद, योरोपीय देशोंके समाजवादसे अनेक रूपोमें भिन्न है और ये दोनो रूस और चीन के साम्यवादसे भिन्न है। भारत में भी सभी समाजवादी समाजवादके अर्थ पर एक मत नही है।

कुछ समय पूर्व राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) में भाषण देते हुए श्री नेहरू ने कहा कि "भावी भारतके सम्बन्धमें जो कुछ मेरे दिमागमें है वह निश्चित और पूर्ण रूपसे समाजका एक समाजवादी चित्र है।" उन्होने कहा कि व्यक्तिगत उद्यम समाप्त करनेका उनका कोई इरादा नही है। पर साथ ही उन्होने यह भी कहा कि सम्पत्ति जोडनेकी प्रवृत्ति न केवल समयके विपरीत है बल्कि अनैतिक भी है। नेहरूजी के अनुसार नये समाजको अवसरकी समानता पर आधारित होना होगा और आश्चर्यकी बात यह है कि यह समानता बहुत बड़ी मात्रामें पूजीवादी समाजमे भी बरती जाती है, जैसे अमेरिकी समाजमें। नेहरूजी आगे कहते है कि भारत के सविधानमें यह निश्चय किया गया है कि भारतीय जनताका लक्ष्य कल्याण-

[1] वही पुस्तक पृष्ट २०४.

कारी राज्य है जिसमें व्यक्तिको समाजके लिए और समाजको व्यक्तिके लिए जीवित रहना है। व्यावहारिक शब्दावलीमें नेहरूजीके अनुसार समाजवादी समाजका अर्थ है "जीवित रहनेका अधिकार; जीविकोपार्जनके लिए काम पानेका अधिकार, और जो कुछ कोई अर्जित करे वह सारा का सारा उसे मिले।"

प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री, विद्वान और व्यवहारविद् डॉ० जॉन मथाई का कहना है कि समाजवादी समाजकी दो मुख्य बातें स्वाधीनता और समानता हैं। समाजवादको एक मत या संगठनका एक प्रकार माननेसे इन्कार करते हुए डा० मथाई जोर देकर कहते हैं कि "समाजवाद जीवनकी एक पद्धति और समाजके प्रति एक दृष्टिकोण है जिसका लक्ष्य है, ऐसे साधनों द्वारा, जो एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक समाजके लिए उपयुक्त समझे जा सकें, सामाजिक न्यायका अधिकतम् व्यावहारिक विस्तार करना। जिन साधनों द्वारा इस समाजवादी समाजकी स्थापना होती है वे हैं—(१) प्रत्येक मानव व्यक्तित्वका सम्मान व प्रतिष्ठा, (२) प्रेमका सिद्धान्त, और (३) साहचर्य या सहयोगकी भावना।

आश्चर्यकी बात तो यह है कि डा० मथाई राष्ट्रीयकरण या उत्पादनके साधनों का राज्य द्वारा अपने अधिकारमें लिया जाना समाजवादके लिए अनिवार्य नहीं मानते क्योंकि उन्हींके शब्दोंमें "राष्ट्रीयकरणकी मांग करनेवालोंके दिमागमें जो उद्देश्य होते हैं उनमें से अनेकको सिद्धि राष्ट्रीयकरणके अतिरिक्त अन्य साधनोंमें से—विधान, शासकीय आदेश और राजस्व सम्बन्धी उपायोंसे भी हो सकती है। इसकी सम्भावना नहीं है कि नेहरूजी और अन्य अनेक व्यक्ति जिनमें वर्तमान लेखक भी शामिल हैं इस विचारसे सहमत होंगे। पर डा० मथाईके इस कथनमें उनका तीव्र मतभेद होनेकी सम्भावना नहीं है—"मैं नहीं समझता कि यह समाजवाद का कोई तात्विक अंश है कि व्यक्तिगत उद्यम या पहलकदमीका नियंत्रण किया जाय या उसे दबा दिया जाय।"

डॉ० मथाई भारतीय अर्थ-व्यवस्थाको सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्रमें बांटे जानेके वर्तमान ढंगका समर्थन करेंगे। यद्यपि उन्हें आशंका है कि यदि सावधानीसे काम न लिया गया तो आर्थिक लोकतंत्रके नाम पर वैयक्तिक स्वतंत्रता पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये जायंगे। वह चाहते हैं कि छोटे उत्पादक और बड़े उत्पादकके बीच एक उचित सन्तुलन कायम रखा जाय ताकि दोनोंमें किसी एकका दूसरेके लिए बलिदान न हो। एक दूसरा भय उन्हें यह है कि प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं तथा अन्य आनेवाली योजनाओंकी आवश्यकताएं देशके साधनोंके बूतेके बाहर होनेके कारण एक ऐसी स्थिति पैदा कर देंगी कि जिसमें कीमतें बढ़ेंगी और "एक निश्चित मुद्रा-स्फीतिकी प्रवृत्ति" फैलेगी। हम अपने चारों ओरकी परिस्थिति देखकर समझ सकते हैं कि यह केवल काल्पनिक भय नहीं है।

समाजवादी समाजमें श्रमका न्यूनतम वेतन निश्चित होगा। हर व्यक्तिके लिए पर्याप्त अवकाश होगा और वृद्धजनों व अपंगोंकी देखभाल की जायगी। समानता

के सिद्धान्तके बारेमें डा० मथाई "न्यायकी समानता (Equality in justice), सबके लिए समान विधि (Equality before law), विकास और उन्नतिके लिए सबको समान अवसर, शिक्षा, उद्यम और आजीविका-चयनमें सबको समान अवसर' पर जोर देते हैं। वह आय और सम्पत्तिकी भी समानताका प्रश्न उठाते हैं, किन्तु अपने देशकी मौजूदा अवस्थामें वह इसको लागू करनेके पक्षमें नहीं हैं। खेतीकी भूमि व्यवस्थाके प्रश्न पर भी वह अपना कोई निश्चित मत प्रकट नहीं करते। एक स्वतंत्र समाजमें स्त्रियों और बच्चोंके साथ न्यायोचित व्यवहार पर, समाज सेवा संघ, भारत सेवक समाज और सामुदायिक योजनाओं द्वारा की जानेवाली निश्शुल्क सामाजिक सेवाओं पर तथा धार्मिक आश्रमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे पर वह विशेष रूपसे जोर देते हैं।

एक रूढ़िवादी और धार्मिक दृष्टिकोणसे समाजवादी समाजका यह एक प्रशसनीय चित्र है। पर अतिवादी चाहेंगे कि राज्य इससे बहुत आगे बढ़े। कांग्रेसके भूतपूर्व अध्यक्ष यू० एन० ढेबर ने समाजवादी समाजकी परिभाषा देनेका प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि आर्थिक पक्षमें समाजवादी समाजसे कमसे कम निम्नलिखित तीन बातें व्यक्त होती हैं : (१) कुछ मौलिक या आधारभूत उद्योगोंका राष्ट्रीय स्वामित्व या राष्ट्रीय नियंत्रण, (२) सम्पत्तिका न्यायसगत वितरण और (३) अवसरकी समानता। हम अपनी तरफसे कह सकते हैं कि सामाजिक पक्षमें समाजवादी समाजका अर्थ होना चाहिए, एक जातिहीन और वर्गहीन समाज, एक ऐसा समाज जिसमें मनुष्य मनुष्यके बीच वर्तमान कृत्रिम विभेद नष्ट कर दिये गये हों। हमारा विश्वास है कि जब तक मानव प्रवृत्तियों, और इच्छाओं तथा राष्ट्रीय चरित्र में पूरा-पूरा परिवर्तन नहीं होता तब तक बड़े-बड़े आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं हैं।

पहले हम आर्थिक पक्षको लें। यद्यपि "राष्ट्रीयकरण" बहुतोंके लिए एक मोहक शब्द है पर वह कोई जादू की छड़ी नहीं है जिसको घुमाते ही रात भरमें एक नये समाजकी रचनाकी जा सके। भारत में समाजवादी समाजकी रचना हो रही है। यह रचना हो रही है बहुमुखी जलविद्युत् योजनाओं (जिनमें सिंचाई योजनाएं भी शामिल हैं) द्वारा, पड़ती जमीनको खेती योग्य बनाने, और खादकी मिलों द्वारा, देशके भीतर मत्स्य पालन, पशु सुधार, रेलों, हवाई जहाजों, और नागरिक उड्डयनों और जीवन बीमाके राष्ट्रीयकरण द्वारा, जमींदारीके उन्मूलन, मशीनोंके यंत्र निर्माण और छोटे-छोटे उद्योगों और कुटीर उद्योगोंको दी जानेवाली सरकारी आर्थिक सहायताके द्वारा। द्वितीय पचवर्षीय योजनामें निजी उद्योगों (१५०० और १७०० करोड़ रुपयोंके बीच) की अपेक्षा सार्वजनिक उद्योगों पर (४८०० करोड़ रुपये) बहुत अधिक व्यय करनेकी व्यवस्थाकी गयी है। पहलेकी अपेक्षा अब सभी स्तरोंकी शिक्षा पर, सार्वजनिक स्वास्थ्य, आवास व्यवस्था, और सामाजिक कल्याण तथा लोगोंको काम धन्धोंमें लगाने की समस्या पर बहुत अधिक ध्यान देना होगा। द्वितीय योजनाके

पांच वर्षोंमें ९० लाखसे लेकर एक करोड़ तक नयी कामकी जगहें बनानेका लक्ष्य रखा गया है। पर समग्रकी आवश्यकताओं देखते हुए यह पर्याप्त नहीं है।

प्रो॰ जॉन सॉण्डर्स (Prof. John Saunders) लिखते हैं कि समाजवादी समाजकी मांग है न्याय (एक अधिक न्यायसंगत वितरणके अर्थ में), सामाजिक सुरक्षा और अधिक पूर्ण जीवन। उनका कहना है कि भूमि सुधार, ऋणमुक्ति, और वैज्ञानिक खेती को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दोहरी फसल, सिंचाई और खाद आदिके द्वारा अन्न उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए।

भूमिसुधार और उनसे सम्बन्धित विषयोंके बाद सॉण्डर्स पूर्ण रोजगारी (सबके लिए काम) और जीवन स्तरको ऊंचा उठानेको तात्कालिक लक्ष्य मानते हैं जिसे पूरा किया जाना चाहिए। उन्हें इस बात पर खेद है कि खेतिहर मजदूरोंको सालमें ८२ से लेकर ११५ दिनों तक बेकार रहना पड़ता है। बेकारोंके साथ-साथ दूसरी बढ़ती हुई बुराई आबादीकी अधिकता है। अनेक प्रगतिशील देशोंमें जन्मका अनुपात या तो स्थायी है या कम होता जा रहा है। पर भारतमें उसके कम होनेके कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। दूसरी ओर मृत्युकी संख्या घटती जा रही है।

श्री विनोबा भावे स्वतः प्रेरित तरीकोंसे समाज में नयी व्यवस्था लाना चाहते हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थान की पदयात्रा करने वाले अपने कुछ साथियोंकी सहायता से वह गरीबोंमें बांटनेके लिए ४० लाख एकड़से अधिक भूमि प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं। फिर भी गरीबोंकी दशा कुछ अधिक सुधरी नहीं दिखाई देती। भावे का विश्वास है कि किसी भी स्थान में सामुदायिक योजना लागू करनेसे पहिले भूमि का फिरसे वितरण हो जाना चाहिए।

सर्वोदय आन्दोलनका ध्यान भारतके ६ लाख गावों पर केन्द्रित है। भारत सरकार द्वारा चालू किये गये बड़े औद्योगिक कारखानों और सिंचाई के कामोंको वह शंका की दृष्टिसे देखता है। ग्रामीण जीवन में नयी स्फूर्ति लाना ही उसका आदर्श है। यह उत्पादक और उपभोक्ता पर केन्द्रित अर्थव्यवस्थाका समर्थन करता है और उस अर्थ-व्यवस्थाका विरोध करता है जिसका प्रथम उद्देश्य विदेशी मुद्रा और डालर पूंजी प्राप्त करना है। गावोंके वर्तमान तालाबोंको नये सिरेसे ठीक किया जाना चाहिए; उन्हें गहरा किया जाना चाहिए और पासके छोटे-छोटे तालाबोंसे उन्हें भरा जाना चाहिए। देश भरमें नहरोंका जाल बिछा हो। नदियों और उनकी घाटियोंकी सीमाएं मानकर आर्थिक परिस्थितियोंके आधार पर राज्योंका पुनर्संगठन किया जाना चाहिए। जलविद्युत् योजनाओंके लिए छोटे-छोटे उत्पादक केन्द्र होने चाहिए। नदियोंके उद्गम क्षेत्रोंमें उद्योगोंको और मुहानों की तरफके क्षेत्रों पर खेतीको केन्द्रित किया जाना चाहिए। जल यातायात का इतना अधिक विकास किया जाना चाहिए कि वह देशके आन्तरिक व्यापार व्यवसाय को संभाल सके और लाखों व्यक्तियोंको रोजगार दे सके। ग्रामीणों और उनकी बैलगाड़ियोंकी आवश्यकताओंको पूरा करने के लिए ही सड़कोंका निर्माण होना चाहिए। बड़े उद्योगोंको निजी हाथोंमें नहीं छोड़ना

चाहिए। कोयला और बिजली ग्रामीणोंके लिए सुलभ होनी चाहिएं। सर्वोदय आदोलन हाथकी कताई हाथकी बुनाई, तेलके पेरे जाने तथा अन्य दस्तकारियों पर बहुत अधिक जोर देता है।

विश्वकी अर्थव्यवस्थामें भारत का योग उसके गाव है। इस सम्बन्धमें महात्मा गांधी कहते हैं: "यदि गांव नष्ट हो जाता है तो भारत भी नष्ट हो जायगा। तब फिर वह भारत नहीं रह जायगा और तब ससारके प्रति उसका सन्देश लुप्त हो जायगा।"

सगठनके पक्षमें, २ अगस्त, सन् १९५२, को आरम्भ की गयी सामुदायिक योजनाए (community projects) जिनकी संख्या ५५ है, समाजके समाजवादी ढाचेके अनुरूप ही मानी जायंगी। उन्हें जनताके हितके लिए, जनता द्वारा, जनता की योजना कहा गया है। इन योजनाओको आरम्भ करनेवालोंको आशा है कि ये योजनाए सारे देश भरके लिए पथप्रदर्शक हो जायंगी। इन योजनाओं पर होने वाले व्ययका ६४ प्रतिशत जनतासे रुपयों, सामानों या श्रमदानके रूप में मिलता है। यह रूसके कुछ भागों में प्रचलित अनिवार्य श्रमसे कितना भिन्न है! हर योजनाको तीन क्षेत्रों (blocks) में बांटा जाता है और हर क्षेत्रमें १०० गाव होते हैं। हर गावमें एक ग्रामसेवक (village level worker) होता है जिसकी सहायता एक स्टॉकमैन करता है। हरेक क्षेत्रमें एक क्षेत्रीय योजना अधिकारी (Block Development Officer) होता है। जिलेका कलक्टर डिप्टी विकास कमिश्नर का काम करता है। यह सब अंग्रेजी कालकी प्रशासनीय व्यवस्था से आश्चर्यजनक तौर पर विपरीत है।

हालमें सामुदायिक विकास योजनाओंके काममें राष्ट्रीय विकास सेवा योजनाओं द्वारा वृद्धि की गयी है। इन योजनाओंने सामग्री और रसदके रूप में सामुदायिक योजनाओंमें महत्वपूर्ण योग दिया है। ६ लाख गावोंमें से १ लाख २० हजार गाव इन दो योजनाओंके भीतर आ गये हैं और शेष गाव भी शीघ्र ही योजनामें आ जायगे।

कल्याणकारी राज्य. यह रोचक बात है कि भारत ने सन् १९५० में अपने संविधान का शुभ आरम्भ जिस कल्याणकारी राज्यके आदर्श के साथ किया था वह आदर्श धीरे-धीरे वर्तमान समाजवादी समाजकी धारणाके साथ घुल-मिल गया है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि एक कल्याणकारी राज्य का समाजवादी होना आवश्यक नहीं है। २३ जुलाई, १९५४, को अजमेर के कांग्रेस अधिवेशनमें इस आशयका प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था: "सहकारी सामान्य सम्पत्ति (Co-operative Commonwealth) या कल्याणकारी राज्यकी स्थापना करना कांग्रेसका लक्ष्य है"। तबसे कल्याणकी व्याख्या अधिकतर आर्थिक शब्दावलीमें की गयी है।

डा० अब्राहम (Dr. Abraham) (जिनका उद्धरण प्रो० एस० घोष ने दिया है) ने कल्याणकारी राज्यकी व्यवस्था इस प्रकार की है: "एक ऐसा समाज जिसमें राज्य शक्तिका उपयोग जानबूझकर, समाजकी आर्थिक शक्तियों की सामान्य प्रक्रियामें सुधार करनेके लिए, इस उद्देश्यसे किया जाता है कि हर नागरिकके लिए आयका अधिक

न्यायसंगत वितरण हो और उसकी सम्पत्ति और उसके कामके बाजार मूल्यका ख्याल किये बिना उसे एक आधारभूत न्यूनतम वास्तविक आय प्राप्त हो सके। टी० डब्ल्यू० केण्ट (जिनका उद्धरण भी प्रो० घोष ने दिया है) का कहना है कि "कल्याणकारी राज्य एक ऐसा राज्य है जो अपने नागरिकोंके लिए सामाजिक सेवाओंका एक व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करता है। नागरिकोंकी सुरक्षा उसका मुख्य उद्देश्य होना है। यदि कोई अपनी आयका साधन खो देता है तो उसकी सहायता करनेका उत्तरदायित्व राज्य लेता है।"

घोषके कथनानुसार एक कल्याणकारी राज्यके निम्नलिखित तीन आधार होते हैं: आर्थिक न्याय, बेकारी-वृद्धावस्था आदिमें सुरक्षा और व्यक्तिके लिए स्वाधीनता। कल्याण की धारणा केवल भौतिक अर्थोंमें ही न की जा कर मानव स्वतन्त्रता और प्रगति के अर्थोंमें भी की जानी चाहिए। कांग्रेसके अजमेर प्रस्तावमें, जिसकी चर्चा ऊपरकी गयी है, कल्याणकारी राज्यकी व्याख्या बेकारीके विनाश, अधिक उत्पादन और न्यायसंगत वितरणके रूपमें की गयी है।

कल्याणकारी राज्यकी जो भी धारणा हम करें, इसमें अनेक सामाजिक सेवाएं जैसे शिक्षा, वृद्धावस्थामें पेंशनें, बेकारीमें वेतन, और सार्वजनिक सहायता सम्मिलित रहेंगी। यद्यपि अमेरिका की सरकार इनमें से अनेक सेवाएं करती है, पर कल्याणकारी राज्य शब्दको उस देशमें दैवी शाप माना जाता है क्योंकि इसे समाजवादी राज्य शब्द का पड़ोसी समझा जाता है।

कल्याणकारी राज्यमें सर्वत्र एक बहुत बड़ा खतरा यह होता है कि यह राज्य अपने आपको बहुत आसानीसे एक सर्वाधिकारवादी राज्यमें बदल सकता है। घोष का यह विचार सही है कि मनुष्यको नैतिक स्वाधीनताके साधनके रूप में ही भौतिक कल्याण सार्थक है। यदि भारतमें कल्याणकारी राज्य या समाजवादी समाजकी स्थापना भली भांति करनी है तो यह काम अहिंसात्मक और लोकतांत्रिक ढंगसे ही किया जाना चाहिए। लोकतंत्र और कल्याणकारीराज्यके आदर्शोंमें मेल बैठाया जाना नितान्त आवश्यक है। कुछ लेखकोंका कहना है कि योजना और लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते।

योजनाके कर्मचारी तंत्रीय हो जानेका खतरा सर्वत्र हमेशा रहता है। यदि योजनाको सफल होना है तो सम्पूर्ण कार्य-कलापका नियोजित होना जरूरी है। यदि आजकलके बहुभाषा सम्बन्धी विचारोंको बहुत अधिक बढ़ावा दिया गया तो सम्भावना यह है कि नियोजन अधूरा और दोषपूर्ण रह जायगा और स्वयं ही अपनेको पराजित कर देगा अर्थात् विफल हो जायगा। नियोजनके सफल होने के लिए यह जरूरी है कि यह अत्यधिक केन्द्रीयकरणसे तथा दलगत तानाशाहीसे मुक्त रहे और इसका क्रम न टूटे। इस अन्तिम विषय पर लिखते हुए बारबारा वूटन (Barbara Wootton) कहती है: "यदि राजनीतिक दलोंके अस्तित्वका अर्थ यह है कि हर पांचवें महीने हम अपने इरादे बदला करें तो मुझे भय है कि लम्बी अवधि वाली

योजनाएं पूरी नहीं हो सकेंगी। प्रो० जॉन सॉण्डर्स (Prof. John Saunders) का मत है कि आजकी परिस्थितियोंमें भारत के लिए सबसे बड़ा खतरा आर्थिक अधिनायकतंत्रसे नहीं बल्कि निष्फल लोकतंत्रसे है।

एक दूसरा इतना ही बड़ा खतरा जनताकी अरुचि या असहानुभूति है। जब तक जनतामें उत्साह न हो, समाजवादी समाजके प्रति लगन न हो और लोग इसके लिए सत्यनिष्ठा और ईमानदारीसे काम करने को तैयार न हों तब तक नियोजनसे पूरा-पूरा लाभ उठा सकना असम्भव है।

विषयके हर पहलूका निचोड देते हुए प्रो० घोष बुद्धिमतापूर्वक लिखते हैं, "हमें समृद्धिके लिए योजना बनानी चाहिए, पर स्वतंत्रताका मूल्य देकर नहीं, हमें अपनी योजनाओंको राज्यकी दबाव डालनेवाली शक्ति अथवा सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारियोंके बलसे नहीं बल्कि जनताके सक्रिय और उत्साहपूर्ण सहयोग द्वारा कार्यान्वित करना चाहिए। हमें राजनीतिक पार्टियां रखनी चाहिएं-इसलिए नहीं कि वह दूसरी पार्टियोंको दबावें या अपने सदस्योंको ही अपनी पार्टीके भीतर दबावें बल्कि इसलिए कि वे जनताको सार्वजनिक महत्त्वके मसले पर शिक्षित करें और सार्वजनिक नीतियोंके कार्यान्वय में सहयोग देनेके लिए उन्हें प्रेरित करें; हमें ऐसा राज्य चाहिए जिसका गठन एकात्मक न हो बल्कि जो छोटे-छोटे लोकतंत्रोंका एक सन्तुलित जाल हो जिसमें जनता सक्रिय और सीधा हिस्सा ले सके। इसलिए ही नहीं कि एक अमूर्त्त राज्यकी मदद हो बल्कि इसलिए कि जनता सम्प्रभु नागरिक बननेकी शिक्षा ले।"

SELECT READINGS

BHAVE, V.—*The Bhoodan Movement.*

COLE, G. D. H.—*Guild Socialism Restated.*

COKER, F.—*Recent Political Thought*—Chs II, VIII, IX.

GANDHI, M. K.—*Sarvodaya.*

HALLOWELL, J H.—*Main Currents in Modern Political Thought*—Chs. XI to XIV.

HUNT, CAREW—*The Theory and Practice of Communism*—Chs. IV, XV, XVI.

JOAD, C. E. M.—*Modern Political Theory*—Chs. III, IV, V.

LAIDLER, H. W.—*Social-Economic Movements*—Chs. XVI, XVIII, XXII, XXIII.

LASKI, H. J.—*Karl Marx—An Essay.*

NARAIN, JAI PRAKASH—*Articles in Newspapers, 1957.*

STRACHEY, JOHN—*The Theory and Practice of Socialism.*

THE FIRST TWO YEAR PLANS—*Government of India Publication.*

THE COMMUNITY DEVELOPMENT PROJECTS—*Government of India Publication.*

२२

सर्वाधिकारवादी राज्य

(The Totalitarian State)

१. सर्वाधिकारवादका अर्थ

आधुनिक राजनीतिक साहित्यमें 'सर्वाधिकारवादी राज्य' शब्दका उपयोग 'उदार लोकतंत्रीय राज्य' शब्दके विरोधमें किया जाता है। सर्वाधिकारवादी राज्य मनुष्यके सम्पूर्ण जीवन पर अधिकार रखनेका दावा करता है। मनुष्यके जीवनका कोई भी अंश इसके सूक्ष्म निरीक्षण और नियंत्रणसे बाहर नहीं होता। जिस प्रकार बाइबिल का उपदेश है कि "हमारा जीवन, हमारी क्रियाशीलता और हमारा अस्तित्व परमात्मा में ही होता है;" उसी प्रकार सर्वाधिकारवाद हमें सिखाता है कि 'हमारा जीवन, हमारी क्रियाशीलता और हमारा अस्तित्व राज्यमें ही है।' सर्वाधिकारवादके अनुसार मनुष्यका अपने जीवन पर अधिकार नहीं होता है। यह राज्यकी धरोहर है और इसका उपयोग राज्यके हितमें ही होना चाहिए। मुसोलिनी के शब्दोंमें 'यदि उन्नीसवीं शताब्दी समाजवाद, उदारवाद और लोकतंत्रका युग थी तो बीसवीं शती अधिकार सत्ता, समष्टिवाद (collectivism) और सर्वाधिकारवादी राज्यका युग है।'

प्राचीन कालमें यूनानका नगर राज्य सर्वाधिकारवादी था पर अच्छे अर्थमें। उस समयकी परिस्थितियां आजकी परिस्थितियोंसे बिलकुल भिन्न थीं इसलिए राज्य के कृत्य भी अनेक प्रकारके थे। उस समय का राज्य धर्मसंघ (church), शिक्षा-संस्थान (school) और राज्य इन तीनोंका सम्मिलित रूप था। राज्य और समाज को करीब-करीब एक ही माना जाता था। नागरिक जीवन ही यूनानियों का जीवन था। जैसा कि मैकाइवर (MacIver) का कहना है, एक यूनानीके लिए नागरिकता उसका धर्म था। यूनानी नागरिकको अपने नगर राज्यके प्रति इतना अधिक स्नेह था कि उसका यह आदर्श सही था कि "वह (नगर राज्य) हमारा है और हम उसके हैं।"

आजकलका सर्वाधिकारवादी राज्य यूनानी नगर राज्यसे बिल्कुल भिन्न होता है। यह फ्रांसके बादशाह चौदहवें लुई की प्रसिद्ध उक्ति "मैं ही राज्य हूं" का आधुनिक रूप है। सर्वप्रथम हीगेल ने सर्वाधिकारवादी राज्यको दार्शनिक रूप दिया। उन्होंने राज्यको सातवें आसमान तक पहुंचा दिया। वह राज्यको धरती पर ईश्वर मानते थे। उनके विचारसे राज्य 'इतिहासमें ईश्वरकी गति (the march of God in history)', 'विवेकका प्रत्यक्ष रूप' तथा वास्तविक स्वाधीनताका यथार्थ रूप है।

सर्वाधिकारवादके अनुसार राज्य ही सब कुछ है। यह सर्वशक्तिमान है। इससे कभी कोई गलती नही हो सकती। मुसोलिनी (Mussolini) के शब्दोंमें 'राज्यसे परे कुछ भी नही है।' राज्य परमपूर्ण है। इसकी तुलनामें व्यक्तियो और समुदायोकी स्थिति आपेक्षित है। राज्य एक परमपूर्ण, चिरस्थायी और दैवी शक्तिसे प्रेरित सस्था है। मुसोलिनी ने इटली की जनताके समक्ष यह आदर्श रखा था: "राज्यके भीतर सब कुछ, राज्यके बाहर कुछ नही; राज्यके विरुद्ध कुछ भी नही।"

अमेरिका के वैदेशिक नीति सघ (Foreign Policy Association) ने सर्वाधिकारवादी राज्यका विवेचन इस प्रकार किया है: "फासिस्टवादने आधुनिक लोकतंत्रीय राज्यके बहुलवादके स्थान पर सर्वाधिकारवादी राज्यका प्रतिपादन किया है। बहुलवादके अनुसार राज्य उन अनेक सघोमें से एक है जिन्हें व्यक्तिकी निष्ठा प्राप्त रहती है। पर सर्वाधिकारवादी राज्य व्यक्तियोंके सभी कार्यकलापो पर अपना अधिकार रखता है और उन्हे राष्ट्रीय हितके विपरीत कोई कार्य नही करने देता। इटली के एक उच्च अधिकारीके कथनानुसार सर्वाधिकारवादी राज्य "वह राज्य है जिसमें एक ऐसी सम्प्रभुता हो जो देशकी समस्त शक्तियोको अपने अधीन रखे।"

सर्वाधिकारवाद राज्यकी पूजा करना सिखाता है। इसकी शिक्षाके अनुसार व्यक्ति राज्यकी सेवा करके ही महत्त्व प्राप्त कर सकता है और इस सेवामें ही उसकी पूर्णता है। साइबर्ग (Seiburg) का कहना है कि नाजीवादके आविर्भावसे जर्मनी में कोई मनुष्य नही रह गया है, वहा अब केवल जर्मन है। "जो कोई जर्मनी में, जर्मनी के साथ और जर्मनी के माध्यमसे रहना चाहता है उसे अपनेको राष्ट्रके अधीन करना होगा और उसे अपनेको सर्वाधिकारवादी राज्यके अनुकूल बनाना होगा।" 'व्यक्तिका जीवन उसका नही है, वह राज्यका और केवल राज्यका है।'

इस प्रकार सर्वाधिकारवादी राज्यके अधिकार असीमित है। स्वेच्छामूलक सघ जीवनकी अनोखी विभिन्नता पर वह आघात करता है। धर्म, आचार-विचार और शिक्षा सभी राज्यके अधीन है। इटली में तो खेल-कूद, शिक्षा और मनोरजन की सस्थाएं भी फासिस्टोके हाथोमें केन्द्रित थीं। नाजी सिद्धान्तवादी फ्रेंज शानवेशर (Franz Schanwecher) ने लिखा था। "राष्ट्रकी ईश्वरके साथ प्रत्यक्ष और बहुत घनिष्ठ एकता है . . . जर्मनी ईश्वरका राज्य है।" सर्वाधिकारवादका लक्ष्य राज्य और समाजके बीचके मौलिक विभेदको मिटाना और राज्यको सर्व-शक्तिमान बनाना है।

सर्वाधिकारवाद विभिन्न देशोमें विभिन्न रूप धारण करता है। इसने रूस में साम्यवाद, इटली में फासिस्टवाद और जर्मनी में नाजीवादका रूप धारण किया। आग्ल-सैक्सनी देशोंमें भी जहा वैयक्तिक स्वाधीनताके प्रति प्रेम बहुत गहरा है, राज्यका कार्य-क्षेत्र बढ रहा है। इसका परिणाम एक नये प्रकारका सर्वाधिकारवाद हो सकता है जिसे लोकतत्रीय सर्वाधिकारवाद (democratic totalitarianism)

कहा जा सकता है। अमेरिका में "सांवैधानिक तानाशाही" (constitutional dictatorship) का उदय सम्भव है। ग्रेट ब्रिटेन के बारेमें लन्दन के एक दैनिक समाचार पत्रनें विनोदमें लिखा है: "भले ही हमारा देश सबसे अच्छा शासित न हो, भले ही हमारा देश सबसे बुरा शासित भी न हो, पर ईश्वर की सौगन्ध हमारा देश सबसे अधिक शासित अवश्य है।"

यह मानना गलत है कि राज्यका सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त आरम्भमें ही पूर्ण विकसित रूपमें प्रतिपादित किया गया था जिसकी प्रेरणासे आधुनिक सर्वाधिकारवादी आन्दोलन हुए। तथ्य यह है कि समय-समय पर हुए आन्दोलनोंसे तथा जीवनकी वास्तविक परिस्थितियोंसे सर्वाधिकारवादी सिद्धान्तका विकास हुआ। यह एक ऐसा उदाहरण है जिसमें तथ्योंसे सिद्धान्त बना है। तथ्योंने सिद्धान्तका अनुकरण नहीं किया है। यह बात फासिस्टवाद और नाजीवादके बारेमें विशेष तौर पर सही है। ये दोनों ही तत्वतः बुद्धि-विरोधी (anti-intellectual) आन्दोलन थे। प्रथम विश्व-युद्धके बादके वर्षोंकी इटली और जर्मनी की विशेष आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंकी पृष्ठभूमिमें ही इन्हें ठीक प्रकारसे समझा जा सकता है।

२. सर्वाधिकारवादी राज्यकी विशेषताएं (Features of the Totalitarian State)

(१) सर्वाधिकारवादी राज्यमें बुद्धि-विवेकका तिरस्कार किया जाता है और स्वाभाविक प्रवृत्तियों (instincts) और अन्तःप्रेरणाओं (impulses) को बहुत महत्त्व दिया जाता है। फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी में यह बात विशेष रूपसे सही थी। इन राज्यों में जिस राज्य-सिद्धान्तका विकास किया गया वह बुद्धि-विरोधी था। स्वाभाविक प्रवृत्ति और इच्छाको बुद्धि-विवेकसे अधिक महत्त्व दिया गया। सारे ही पश्चिमी समाजमें मनुष्यको परमात्माका प्रतिबिम्ब माननेकी धारणा समाप्त होती जा रही है।

(२) सर्वाधिकारवादी राज्यका स्वरूप तानाशाही (dictatorial) होता है। यह उदारवाद और संसदीय शासनका विरोधी है।[1] यह एक व्यक्ति या एक पार्टीके हाथोंमें सर्वोच्च-सत्ता सौंप देता है। रूस की तानाशाही वामपंथी (leftist) ताना-

[1] नाजीदलका नारा यह था: 'विधिके सम्मुख व्यक्ति नहीं, राष्ट्र सर्वप्रधान है।' 'उदारवाद जीवनका वह दर्शन है जिसे अब जर्मन युवक घृणा तथा थोथकी और हेय दृष्टिसे देखता है क्योंकि दूसरा कोई भी जीवन-दर्शन इससे अधिक घृणास्पद और उसके स्वयं अपने जीवन-दर्शनसे इतना अधिक विरुद्ध नहीं है। आज दिन जर्मनी का युवक उदारवादीको अपना शत्रु मानता है।'

—वोल्कर फ्रॉन डेर वर, १९३४

शाही हैं और इटली और जर्मनी की तानाशाही दक्षिणपक्षी (rightist) तानाशाही थी। रूस की तानाशाही एक पार्टी[1] की तानाशाही है। पर इटली और जर्मनी की तानाशाही एक व्यक्तिकी तानाशाही थी। फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी दोनों में एक व्यक्तिके नेतृत्वको बिना किसी तर्क-वितर्कके माना जाता था।

ससदीय लोकतत्र सर्वाधिकारी राज्यके लिए अभिशाप है। इसे मूर्ख, भ्रष्ट और सुस्त बतलाया जाता है। ससदोको वातूनियोका बाजार, कुछ कर पानेमें असमर्थ, और सकटके समय एकदम असहाय बनाकर उनका तिरस्कार किया जाता है। एक फासिस्टवादीके कथनानुसार लोकतत्र एक सडती हुई लाश है। सर्वाधिकारवाद प्रत्यक्ष कार्रवाईमें विश्वास करता है। फिर भी सर्वाधिकारवाद शुद्ध एकतत्रवाद (autocracy) नही है। सर्वाधिकारवादमें अभिजात तत्र (aristocracy) के इस सिद्धान्तको कि शासनकी बागडोर कुछ विशिष्ट लोगोके हाथोंमें हो, लोकतत्रके इस सिद्धान्तके साथ मिलाया गया है कि शासक वर्गका चुनाव विस्तृत आधार पर किया जाय।

(३) सर्वाधिकारवादी राज्य वैयक्तिक स्वाधीनताको कुचल देता है। साम्यवाद वैयक्तिक स्वाधीनताको मध्यवर्गीय (bourgeois) धारणा मानता है। समय समय पर राजनीतिक विरोधियो और सेनानायकोका हटाया जाना इस बातका प्रमाण है। फासिस्टवाद और नाजीवाद जन साधारणमें कुछ भी विश्वास नही करते। वे वैयक्तिक स्वाधीनताकी धारणाको पुराने जमानेकी दकियानूसी, अविवेकपूर्ण तथा असभ्य धारणा मानते हैं।

सर्वाधिकारवाद किसी प्रकारका राजनीतिक विरोध सहन नही करता। यह एक पार्टीका शासन होता है। केवल पार्टीके भीतर ही आलोचना करनेकी छूट रहती है। आलोचनाका उद्देश्य शासन यत्रमें सुधार करना होना चाहिए, उसे उखाड़ फेंकना नही। सर्वाधिकारवादी राज्यमें सोचने-समझने, भाषण देने और लिखनेकी स्वतत्रता नही होती। समाचार पत्रो पर, पुस्तकोके प्रकाशन पर, रेडियो, चलचित्र उद्योग, थियेटर, सगीत और कला पर बहुत बडा नियत्रण रखा जाता है। सभा करने या सघ बनानेकी स्वतत्रता नही होती।[2] फासिस्ट इटली में हडताल करनेकी मनाही थी।

---

[1] सन् १९५३ मे स्तालिन की मृत्युके बाद आजके रूस में यह बात और भी सत्य है। स्तालिन के व्यक्ति-मूलक अधिनायकत्वके स्थान पर सामूहिक नेतृत्व कायम किया जा रहा है, यद्यपि ख्रुश्चेव एक तानाशाह होते जा रहे हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वियोसे छुटकारा पाकर तथा उन्हे पीछे ढकेलकर ख्रुश्चेव १९५८ में प्रधान मत्री बन गये। तबसे उन्हे अर्ध-स्तालिनवादी कहा जाता है।

[2] "व्यक्तिकी स्वाधीनता जैसी कोई चीज नही होती। स्वाधीनता जाति या राष्ट्रकी होती है, क्योकि ये ही वे पार्थिक और ऐतिहासिक वास्तविकताएं हैं जिनके द्वारा व्यक्तिके जीवनका अस्तित्व कायम रहता है।"—(डा० ऑटो डीट्रिच, १९३७)

इटली और जर्मनी में प्रोफेसरों और स्कूल मास्टरोंकी बार-बार जाँच-पड़ताल की जाती थी। स्कूलोंका उपयोग राजनीतिक प्रचारके लिए किया जाता था। जनता के सम्पूर्ण जीवन पर राज्यका नियंत्रण रहता था। प्रशासन सेवा (civil service), न्यायपालिका, सेना और विश्वविद्यालयने 'राष्ट्र विरोधी तत्वों' को निकाल दिया गया था। जर्मनी में विश्वविद्यालयके अध्यक्षोंको सरकारके संस्कृति-विभागके मंत्री नियुक्त किया करते थे। समाचार पत्रोंको शासनकी आलोचना करनेकी इजाजत नहीं थी। इटली के प्रमुख मेधावियों (intellectuals) की या तो हत्या कर दी गयी थी, या उन्हें जेलोंमें बन्द कर दिया गया था या फिर देशसे निकाल दिया गया था। १९२४ में इटली में मेटियोटी (Matteotti) का रहस्यपूर्ण ढंगसे लोप हो जाना और जर्मनी में १९३४ में रोएम (Roehm) और उनके दलको मौतके घाट उतारा जाना सर्वविदित है और उन पर टीका टिप्पणी करनेकी आवश्यकता नहीं है।

फासिस्टवाद और नाजीवाद दोनों ने घोर प्रचार किया और जनताको प्रभावित करनेके लिए सभी सम्भव मनोवैज्ञानिक साधनोंको अपनाया। उन्होंने जनताको उत्तेजित करनेके लिए सैनिक प्रदर्शनों, कवायदों और भाषण कलाका उपयोग किया। जर्मनी में राजनीतिक विरोधियोंको जेलों और बन्दी शिविरोंका रास्ता दिखाया गया। नाजियोंके शासनारूढ़ होनेके कुछ महीनोंके भीतर ही पचास हजारसे अस्सी हजार राजनीतिक कैदियोंको बन्दी शिविरोंमें ठूंस दिया गया। हिटलर (Hitler) का कहना था कि प्रचार कार्यमें अच्छे लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए बुरे साधनोंका अपनाया जाना भी उचित है।

सर्वाधिकारवादी राज्यमें समाचार पत्रोंको आँख बन्दकर सरकारका पूरा-पूरा समर्थन करना पड़ता था। डॉ॰ गोबेल्स (Dr. Goebbels) का कहना था कि समाचार पत्रोंको पियानोंका बाजा बन जाना चाहिए जिनसे सरकारी प्रचार विभाग जब जैसा चाहे तब वैसा स्वर निकाल सके। देशमें केवल एक ही मत हो सकता था और समूचे राष्ट्रको एक होकर सोचना पड़ता था। रेडियो पर होनेवाले भाषण सैनिक ढंगके युद्धकालीन जोशीले भाषण होते थे। युद्धकी तैयारी ही इन भाषणोंका एकमात्र विषय होता था। युद्धकी हालतमें शत्रुका प्रचार सुनना इतना भयंकर अपराध माना जाता था कि मौत तककी सजा दी जा सकती थी। इसी प्रकार फासिस्ट इटली में सरकारी समाचार विभागका प्रधान बतलाता था कि कौन-सा समाचार

'स्वेच्छासे चुनने किसीको स्वतंत्रता न देना हमारे समस्त भावी जीवनके लिए बहुत आवश्यक है, और इस पर जोर दिया ही जाना चाहिए, भले ही लाखों लोग वैयक्तिक स्वतंत्रता पर लगनेवाली इस रोकको हानिप्रद समझें।'—(रोजेनबर्ग)

'वे सभी व्यक्ति विधिके समक्ष समान समझे जायंगे जो राष्ट्रीय उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक हैं और सरकारका समर्थन करनेसे इन्कार नहीं करते'। (हिटलर, १९३३)

प्रकाशित किया जाय और कौन-सा दबा दिया जाय। ऐसी परिस्थितियोंमें इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जनता ने समाचार पत्रोंको पढ़ना ही छोड़ दिया था।

सर्वाधिकारवादी राज्यमें व्यक्ति अपने नेता और नेता वर्गकी अधिकार सत्ताके पूर्ण-रूपेण अधीन होता है। जब कोई व्यक्ति फासिस्ट पार्टीमें शामिल होता था तब वह यह शपथ लेता था—"परमेश्वर और इटली के नाम पर मैं शपथ लेता हूं कि मैं ड्यूस (मुसोलिनी) के आदेशोंका पालन बिना किसी प्रकारके तर्क-वितर्कके किया करूंगा और अपनी समूची शक्तिसे तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना रक्त देकर भी फासिस्ट क्रान्तिका लक्ष्य प्राप्त करूंगा।" अधिकार सत्ता, अनुशासन, और अधीनता फासिस्ट पार्टीके मूल मंत्र थे। देशके युवक संगठनके समक्ष मुसोलिनी ने यह आदर्श रखा था—'विश्वास करो, आज्ञा मानो, लड़ो।'

(४) सर्वाधिकारवाद राष्ट्रको अत्यधिक गौरव प्रदान करता है। वह राज्यको एक शक्ति-व्यवस्था (power system) मानता है। संकीर्ण राष्ट्रीयता, अन्ध देश प्रेम (chauvinism), आक्रमण मूलक युद्ध और साम्राज्यवादी विस्तार फासिस्टवाद और नाजीवाद दोनोंकी कुछ मौलिक विशेषताएं थीं। रूसी साम्यवाद भी राष्ट्रीयतावादी और सैन्यवादी हो गया है।

फासिस्टवादके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायरोंका स्वप्न है। शान्तिप्रियता "बलिदानका अवसर आ जाने पर भीरुता है।" फासिस्टवादी राष्ट्रीयतावादी भावनाओंका दुरुपयोग करते हैं। वे समाजवादियों और साम्यवादियोंके अन्तर्राष्ट्रीयतावादको बहुत बढ़ा-चढ़ा कर तथा तोड़-मरोड़ कर चित्रित करते हैं। वे समाजवादियों पर यह ताना मारते हैं कि समाजवादी अपने देशको छोड़ कर अन्य सभी देशोंके हितचिन्तक होते हैं।

फासिस्टवादी इटली की शिक्षा प्रणाली अधिकतम अन्ध-देश प्रेम पूर्ण थी। स्कूलोंका संचालन सैनिक अनुशासनके ढंग पर होता था। शक्ति और हिंसाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती थी। विचारककी अपेक्षा क्रियाशील व्यक्तिको अधिक महत्व दिया जाता था।

इटली और जर्मनी दोनों ही कच्चा माल पानेके लिए, अपनी बनायी हुई चीजों की बिक्रीके लिए तथा अपनी 'अधिकार-लिप्सा' को सन्तुष्ट करनेके लिए उपनिवेश चाहते थे। मुसोलिनी ने कहा था, साम्राज्यवाद जीवनका अनन्त और कभी न बदलनेवाला नियम है। · · · हम चार करोड़ व्यक्ति अपने संकीर्ण पर अर्चनीय प्रायद्वीपमें न जानें किस प्रकार गुजर कर रहे हैं। मुसोलिनी का कहना था कि इटली का विस्तार इटली के लिए जीवन और मरणका प्रश्न है। इटली का "या तो विस्तार होगा या विनाश होगा।"

मुसोलिनी और हिटलर दोनों ही युद्धकी आवश्यकताका खुले-आम प्रचार करते थे। पौरुष पूर्ण गुणोंके विकासके लिए वे दोनों युद्धको जरूरी बतलाते थे। फासिस्टवादी नीतिके परिणामस्वरूप युद्ध अनिवार्य था। हिटलर विजयी तलवार

की शक्तिमें विश्वास करता था। उसने लार्ड बर्कनहेड (Lord Birkenhead) के इस कथनकी सच्चाई सिद्धकी कि संसार उन्हींकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उन्हींको पुरस्कार देता है जिनकी तलवारकी धार तेज होती है और जिनके दिल मजबूत होते हैं। रोएम (Roehm) ने कहा था: "एक सैनिक के दृष्टिकोणसे शान्तिवाद सैद्धान्तिक कायरता है। कायरता कोई दर्शन नहीं है; बल्कि यह चरित्र का दोष है।" सर्वाधिकारवादी देश सैनिकवादी होते हैं और भूखों रहकर भी शस्त्रीकरण पर विशाल धन व्यय करते हैं।

हिटलर की महत्वाकांक्षा न केवल उन प्रदेशोंको फिरसे छीन लेनेकी थी जिन्हें जर्मनीने वारसाईकी सन्धिके परिणामस्वरूप खो दिया था, बल्कि वह उन सब प्रदेशोंको भी जर्मनी में मिला लेना चाहता था जिनमें पर्याप्त जर्मन अल्पसंख्यक रहते थे। म्यूनिक समझौते (१९३८) के बादकी घटनाओंने यह स्पष्ट कर दिया था कि हिटलर केन्द्रीय और पूर्वी योरोप पर मुनरो-सिद्धान्त (Monroe doctrine)[1] जैसी कोई व्यवस्था लागू किये बिना सन्तुष्ट न होगा। पर युद्धमें रूस के हाथों बार-बार पराजित होने के कारण उसके इस स्वप्नका पूरा होना असम्भव हो गया।

(५) सर्वाधिकारी राज्यमें किसी अन्य राजनीतिक सिद्धान्त या आदर्शकी गुंजाइश नहीं होती। यह उदारवाद और मानवतावादमें विश्वास नहीं करता। जर्मनी में जातीय द्वेष और घृणाकी भावनाओंको बहुत उभारा गया था। जर्मनी का विश्वास था कि नार्डिक जाति सब जातियोंमें सबसे अच्छी है। पर नार्डिक जातिकी यह जातीय श्रेष्ठता विज्ञानसे सभी प्रकार प्रमाणित नहीं होती। यद्यपि आर्योंमें कम ही जर्मन नार्डिक जातिके हैं पर शुद्ध आर्य जातिका विकास ही नाजीवादका लक्ष्य था। नाजियोंने अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपनी जातिकी शुद्धता बनाये रखनेका प्रयत्न किया था।

सर्वाधिकारवादी राज्य अपनेको आर्थिक तौर पर स्वावलम्बी बनानेका प्रयत्न करता है। इटली और जर्मनी दोनोंकी आर्थिक नीति यह थी कि युद्ध सङ्कालमें काम आनेवाले पदार्थोंके लिए उन्हें विदेशों पर यथासम्भव कमसे कम निर्भर रहना पड़े। इसी नीतिके अनुसार जर्मनी ने नकली ऊन, रूई और रबड़ काफी मात्रामें पैदा की। अपने तैयार मालकी बिक्री बढ़ानेके लिए उसने एक राष्ट्रके रूपमें विदेशी वाणिज्य और व्यापारके क्षेत्रमें प्रवेश किया।

(६) सर्वाधिकारवादी राज्य धर्मका प्रतिद्वन्द्वी हो गया। मार्क्सवादने तो

---

[1] अमेरिका के राष्ट्रपति मुनरो (१८२३) के नामसे प्रसिद्ध, इस मुनरो सिद्धान्त का आशय यह है कि कोई भी योरोपीय देश अमेरिकी महाद्वीपके राजनीतिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया करे। इसी प्रकार हिटलर भी चाहते थे कि कोई भी बाहरी देश केन्द्रीय और पूर्वी योरोपके राजनीतिक मामलोंमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप न किया करे।

आरम्भमे ही धर्म पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, पर फासिस्टवाद और नाजीवादने तो धर्मको सर्वाधिकारवादी राज्यके उद्देश्यकी सिद्धिका साधन बना लिया। नाजीवादका तो खासकर यह आदेश था कि लोग जो भगवान्को अर्पण करना चाहते है वह शासक को दें। नाजीवाद एक संकीर्ण, बहिष्कार मूलक (exclusive) और गैर-ईसाई-ईसाई-धर्म (un-Christian Christianity) स्थापित करना चाहता था जिसे नाडिक ईसाई-धर्म कहा जाता था। बाइबिलकी, ईसा मसीह के उपदेशोंकी तथा ईसाई परम्पराओंकी वे बातें, जो नाडिक विचारधाराके अनुरूप नही थी निकाल बाहर की गयी। हिटलर को नया त्राता (saviour) माना जाता था। उन्हें मसीहा, और धरती पर भगवान्का प्रतिनिधि समझा जाता था। सर्वाधिकारवादी राज्य सर्वाधिकार-वादी धर्मका शत्रु था। जे० ए० स्पेण्डर (J. A. Spender) ने लिखा था: "रूस ने धर्मको समाप्त करनेकी कोशिश की है, मुसोलिनी ने उसे निष्क्रिय और निष्प्राण बनानेकी चेष्टाकी पर हिटलर ने इसे अपने अधीन बनानेका यत्न किया।"[१] स्पेण्डर के उक्त कथनमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि फ्राको ने धर्मका शोषण किया।

(७) तीनो तानाशाही राज्योंमें सर्वाधिकारवाद जन आन्दोलन बन गया। स्वतन्त्र मतदानके अभावमें यह कह सकना कठिन है कि सर्वाधिकारवादको जनताका समर्थन कहा तक प्राप्त है। आरम्भमें तो सर्वाधिकारवादी आदर्श और तानाशाही तरीके कुछ थोड़ेसे लोगो तक ही सीमित थे और बहुतसे लोग इनकी खिल्ली भी उड़ाते थे। पर दृढ निश्चय, सकल्प और लक्ष्यके बल पर सुसगठित और पूर्णरूपेण अनुशासित स्पष्ट राजनीतिक और राष्ट्रीय लक्ष्य रखनेवाले मुट्ठी भर सदस्योंका दल अपनेको देशका भाग्य विधाता बनानेमें सफल हुआ। यही नही, उन्होंने जनताका पूरा-पूरा समर्थन भी प्राप्त कर लिया। जनताका समर्थन प्राप्त करनेमें, विशेषकर इटली और जर्मनी में, जन मनोविज्ञान, प्रत्यक्ष कार्रवाई और आतकवादने बड़ा काम किया। रूस में, खाने पीनेकी अत्यधिक सुख-सुविधाके वादोंने जनताको बोल्शेविक आन्दोलनका समर्थक बना दिया। जर्मनी और इटली में घृणा और प्रतिहिंसाकी भावनाका, साम्यवादके हौवेका, तथा विस्तृत साम्राज्य विजयके प्रलोभनका उपयोग जन समर्थन प्राप्त करनेके लिए किया गया। जनताको समझाया गया कि विस्तृत साम्राज्यमे उनके अभाव दूर हो जायंगे और उन्हें विस्तार करनेका पर्याप्त अवसर मिल जायगा। जनताके विवेकको जाग्रत करनेके बजाय उसकी ओछी भावनाओंको उभारा गया। फलत. जनताने राज्यकी आज्ञाओंका पालन आख मीचकर मशीनकी

तरह किया। उन्हें सैनिक शिक्षा इतनी अच्छी तरह दी गयी कि वे अन्धी, विवेकहीन प्रवृत्तिके वशीभूत होकर दूसरी जातियोंके प्रदेशोंको जीतनेके लिए युद्धके मैदानमें टिड्डी दलकी तरह पिल पड़ते थे।

३. सर्वाधिकारवादकी सफलता
(What Totalitarianism Has Done)

सर्वाधिकारवादके उद्देश्यों और उसकी नीतियोंसे हम चाहे कितना ही असहमत क्यों न हों, पर यह बात माननेमें इन्कार नहीं किया जा सकता कि साम्यवाद, फासिस्ट-वाद और नाजीवादने अपने-अपने देशकी जनतामें अपने लक्ष्योंके प्रति इतनी अधिक निष्ठा पैदाकी कि लक्ष्योंकी प्राप्ति ही लोगोंके जीवनका एकमात्र उद्देश्य हो गया और वे अपनी जान देकर भी लक्ष्य प्राप्त करनेको तैयार हो गये। सर्वाधिकारवादने जनता को एक सूत्रमें बाध कर राष्ट्रीय एकताकी वृद्धि की।

नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली में सर्वाधिकारवादने जनताका कुछ कल्याण अवश्य किया पर इसके बदलेमें जनताको अपनी स्वाधीनता खोनी पड़ी। इस कल्याण के लिए लौह अनुशासन, सैनिक शक्ति और युद्धका सहारा लेना पड़ा। सर्वाधिकार-वादी शासनमें इन देशोंकी जो कुछ समृद्धि हुई वह थोड़े ही समय तक रही क्योंकि इसका आधार ही गलत था।

यद्यपि इन देशोंमें सर्वाधिकारवाद पराजित हो चुका है, पर इस बातकी गारण्टी नहीं है कि वह एक बार फिर अपना सिर न उठायेगा। जर्मन जैसी समझदार और ज्ञानी जातिने किस प्रकार अपनेको सर्वाधिकारवादके हाथों समर्पित कर दिया, यह बहुत समय तक एक रहस्य ही बना रहेगा। सर्वाधिकारवादकी सफलतासे यह पता चलता है कि मनुष्यमें नेतृत्व और अधिकार सत्ताका अनुगमन करनेकी तथा कार्य करनेकी उत्कट इच्छा होती है। इस इच्छाको सही मार्ग पर बनाये रखनेके लिए यह जरूरी है कि इस इच्छाके साथ ही साथ लोगोंमें स्वावलम्बी बनने, अपने पैरों पर स्वय खड़े होने और स्वय सोचने-विचारनेकी भी इच्छा हो।

४. सर्वाधिकारवादका भविष्य (What of the Future?)

सर्वाधिकारवादी राज्योंने जनताका जो कुछ कल्याण किया है वह उस मूल्यके सामने कुछ भी नहीं है जो जनताको उस कल्याणके लिए चुकाना पड़ा है। जैसा कि ए० डी० लिण्डसे (A. D. Lindsay)ने कहा है, "सर्वाधिकारवादी सरकारके साथ लोक-तंत्रका मौलिक संघर्ष यह नहीं है कि यह सरकार जनता द्वारा चुनी न जाकर ताना-शाही तरीकेसे बनती है और अपनी शक्तिसे जनताको अपने वशमें रखती है। संघर्ष इस बातका है कि सर्वाधिकारवादी राज्य अपना लक्ष्य उचित और अनुचितका

विचार किये बिना बनाता है और उसे गलत तरीकोंसे येन केन प्रकारेण प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। सर्वाधिकारवादी राज्यका कहना है कि व्यक्तिका काम केवल राज्यकी सेवा करना, उसकी शक्ति बढ़ाना और उसके गौरव-गीत गाना है। इसके विपरीत लोकतंत्रवादी कहता है कि राज्यका एकमात्र कर्तव्य यह है कि वह समाज की सेवा करे और उसके स्वतंत्र जीवनका उत्थान करे (५२ · ७-९)।"

सर्वाधिकारवादका परिणाम वैयक्तिक स्वाधीनताका अन्त, मानव व्यक्तित्वका दमन, देशके भीतर हिंसाका उपयोग और विदेशों पर लज्जाहीन आक्रमण हुआ है। यही नहीं, सर्वाधिकारवादके कारण मानव स्वभावका पशवीकरण और पूरी जातिका सैन्यीकरण भी हुआ है। वारसाई सन्धिके अन्याय, जो तानाशाहोंकी सामरिक और आक्रमण-मूलक नीतियोंके लिए वरदान साबित हुए तथा वर्तमान समयमें होनेवाले अन्य अन्याय स्थायी नहीं हो सकते।

सर्वाधिकारवादने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपनी स्वाधीनता कायम रखनेके लिए हमें हमेशा और हर प्रकारसे सावधान रहना चाहिए। वैयक्तिक स्वाधीनता, समानता, बन्धुत्व और मानवतावादके प्रति केवल मौखिक सहानुभूति ही काफी नहीं है। हमें इन आदर्शोंके लिए बराबर प्रयत्न करते रहना होगा। आधुनिक तानाशाहियोंके उदय और विस्तारने यह साबित कर दिया है कि तानाशाहीका मूल कारण भय और अरक्षाकी भावना है। मध्य वर्गके भयभीत होने पर ही फासिस्टवादका उदय होता है।

सर्वाधिकारवादकी इतनी सफलताका मुख्य कारण यह है कि इसने इस अर्ध सत्यसे पूरा-पूरा लाभ उठाया कि मनुष्य मूलत. अविवेकी होता है। मनुष्यकी प्रवृत्तियों, भावनाओं, और राग-द्वेषोंको ठीकसे समझ कर और इन भावनाओंका कुशल उपयोग करके ही सर्वाधिकारवाद शक्तिशाली बना। इसने यह साफ-साफ सिद्ध कर दिया है कि हर राजनीतिज्ञ और प्रशासकके लिए वर्गगत मनोविज्ञानका गूढ ज्ञान और प्रचार कलामें क्षमता अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे समयमें जब समाज और संस्कृति दिन प्रतिदिन राजनीतिसे अधिकाधिक ओत-प्रोत होती जा रही है, सर्वाधिकारवाद हमें बताता है कि राजनीतिक शक्तियोंका वास्तविक अध्ययन बहुत आवश्यक है। सर्वाधिकारवाद हमें यह भी बताता है कि हर प्रकारका जीवन दर्शन अच्छा होता है, यदि लोगोंमें उसके प्रति हार्दिक लगन हो और वे इसके लिए सब कुछ करने और मरनेको तैयार हों।

सर्वाधिकारवादकी एक मौलिक कमजोरी यह है कि यद्यपि यह मनुष्यके सामूहिक स्वभाव (gregarious nature) को अच्छी तरह समझता है पर वह यह नहीं समझता कि हर मनुष्यमें एकान्तचिन्तन और आत्मपरीक्षणकी भी लालसा रहती है।

यदि लोकतंत्रको सफल होना है तो तानाशाहीसे केवल युद्ध करते रहनेसे ही उसे कोई लाभ न होगा। लोकतंत्रको केवल एक धारणा बने रहनेके बजाय एक जीता जागता तथ्य बनना होगा, उसे अपनेको वर्गगत आधिपत्य, आर्थिक अन्याय और

साम्राज्यवादी शोषणसे मुक्त करना होगा। उसे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रको प्रभावित करना होगा और स्वाधीनता तथा समानताके उन सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठा करनी होगी जो ऊपरसे देखनेमें एक दूसरेके विरोधी मालूम होते हैं।

रूस में सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism in Russia)

रूस में सर्वाधिकारवादका उदय (Emergence of Totalitarianism in Russia).

इटली और जर्मनी के सर्वाधिकारवादकी तुलनामें रूसी सर्वाधिकारवादका उदय भिन्न प्रकारसे हुआ। रूसी सर्वाधिकारवादका एक निश्चित बौद्धिक आधार था। पहले साम्यवादके विशिष्ट सिद्धान्तको शास्त्रीय रूपमें प्रतिष्ठित किया गया और फिर उसे व्यावहारिक रूप दिया गया। जारशाही रूस निरंकुश एकतन्त्र शासन वाला देश था, यद्यपि उस समय संसद (जिसको Duma कहते थे) आदि भी थीं जो लोकतन्त्रीय स्वांग बनाये हुए थीं। उदारवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलनोंको पूरी तरह कुचल दिया गया था। मध्यवर्ग वर्गमें लोकतन्त्रीय संगठनोंको पनपने नहीं दिया गया। किसान अपढ़, अज्ञानी, अन्ध-विश्वासी और दरिद्र थे। धार्मिक सत्ता (church) का पतन हो रहा था और उसने राज्यसे अपवित्र गठ-बन्धन कर रखा था। शेष योरोप की तुलनामें रूस बहुत पिछड़ा था।

उक्त सब कारणोंसे देश क्रान्तिकारी परिवर्तनके लिए बिल्कुल तैयार था। उस समय रूस में दो पार्टियां थीं। पहली बोल्शेविक और दूसरी मेनशेविक। बोल्शेविक बहुमतमें थे। प्रथम महायुद्धमें रूस का पतन हो जानेसे बोल्शेविकोंको अपने सिद्धान्तको कार्य रूपमें परिणत करनेका मौका मिल गया। बोल्शेविक पार्टीके नेता और विचारक लेनिन थे। जार और उनके परिवारको फांसी दे दी गयी। पुरानी व्यवस्थाको समाप्त कर दिया गया। कमजोर लोकतन्त्रीय संगठन दबा दिये गये। किसानोंसे जमीन देनेका वादा किया गया। मजदूर और सैनिक समितियोंको सारी शक्ति सौंप दी गयी। बोल्शेविकवादको साम्यवाद कहा जाने लगा। इसने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। यह सफलता इसलिए मिली 'क्योंकि राज्य दुर्बल था, उद्योगधन्धे पिछड़े थे, लोकतन्त्रीय परम्पराओंका अभाव था। लेनिन और ट्रॉट्स्की की प्रतिभा भी इस सफलताका बहुत बड़ा कारण थी। जर्मनी और मित्रराष्ट्रोंके हस्तक्षेपने बोल्शेविकोंको और भी मौका मिल गया। उन्होंने राष्ट्रीयताका सबल और आकर्षक नारा लगाकर अपनी सफलता और भी सुदृढ़ कर ली (१२ : २४१-३)।'

रूसी जनताके जीवनमें 'युद्धग्रस्त साम्यवाद' की अवधि (१९१८ से लेकर १९२१ तक) में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इन चार वर्षोंमें सभी उद्योगोंका या तो राष्ट्रीयकरण कर दिया गया या उन्हें स्थानीय शासनके नियन्त्रणमें रख दिया गया। निजी

व्यापार पर रोक लगा दी गयी। किसान अपनी उपजका केवल उतना अंश अपने पास रख सकते थे जितना उनके निजी उपभोगके लिए आवश्यक था। उत्पादनमें तेजीसे कमी हुई और लाखों व्यक्ति तबाह हो गये। इन कठिनाइयोंके अतिरिक्त रूसी सरकारको एक और कठिनाईसे गुजरना पड़ा। उसे 'श्वेत दल' (Whites) की क्रान्ति-विरोधी सेनाओंसे निर्दय युद्ध करना पड़ा। १९२१ तक रूस-करीब-करीब तबाह हो चुका था। अतः १९२१ में सोवियत क्रान्तिके भाग्यविधाता लेनिन ने बड़ी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमानीसे काम लेकर नयी आर्थिक नीति लागू की। इस नीतिके अन्तर्गत पूंजीवादको अनेक सुविधाएं दी गयीं। लेनिन का यह कार्य उस युद्ध-कौशलके समान था जब युद्ध-रत सेना आगे बढ़ने के पूर्व कुछ समयके लिए स्वतः पीछे हट जाती है। लेनिन की इस नयी आर्थिक नीतिके फलस्वरूप सरकारको सांस लेनेकी फुर्सत मिल गयी; इसकी बहुत आवश्यकता थी। सरकारने अपनी आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ बना ली।

प्रयोगात्मक साम्यवादकी इस प्रारम्भिक अवस्थासे अनेक रूसी नेताओंका निश्चित मत हो गया कि जिस विश्व-क्रान्ति पर उन्होंने अपनी आशाएं केन्द्रित कर रखी थीं वह करीब-करीब असम्भव है। १९२० तक यह स्पष्ट हो गया कि अधिक प्रगतिशील और औद्योगिक देशोंके समाजवादी आन्दोलन, व्यवस्थित प्रगति और राष्ट्रीय राज्यका आदर्श त्याग कर विश्व-क्रान्ति और विश्व-व्यापी साम्यवादका आदर्श अपनाने को तैयार न थे। इसका परिणाम यह हुआ कि रूस में साम्यवाद क्रमशः राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण करता गया और अन्य देशोंकी भांति रूस का विकास भी एक राष्ट्रीय राज्यके रूप में होता रहा।

१९२१ के बादसे अब तक रूसने गॉसप्लान (Gosplan), प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९२८-३२) और बादकी अन्य योजनाओं द्वारा साम्यवादकी दिशामें बहुत प्रगति की है। बूर्ज्वा (मध्य वर्ग) और समृद्ध किसानोंको जिन्हें कुलक (kulaks) कहते थे, प्रायः समाप्त कर दिया गया। उद्योगोंका राष्ट्रीयकरण और खेतीका सामूहीकरण तेजीसे होता गया। प्रारम्भिक वर्षोंमें, भारी उद्योग-धन्धोंके विकास पर अधिक जोर दिया गया। विदेशोंसे मशीनें बड़ी मात्रा में मंगायी गयी। देशकी समूची श्रम शक्तिका उपयोग देशके औद्योगिक जीवन का निर्माण करनेमें किया गया। यहां तक कि बहुत वर्षों तक खाद्यान्न, वस्त्र, जूतों और मकानोंकी कमी रही। लोगोंको अपना दैनिक राशन पानेके लिए लम्बी कतारोंमें खड़ा होना पड़ता था। रूस के बड़े-बड़े नगरोंमें तागा, सुई और दर्जियोंके अगुश्ताने जैसी साधारण वस्तुएं भी नहीं मिलती थीं। १९३२-३३ में रूस के ग्रामीण क्षेत्रोंमें भयानक अकाल पड़ा। इस अकालमें लगभग ४० लाख व्यक्ति मर गये। इस अकालकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी सरकार पर थी क्योंकि उसने समृद्ध किसानों (kulaks) के विरुद्ध निर्मम युद्ध छेड़ रखा था और इसके कारण इन किसानोंने सरकारसे सहयोग करनेसे इन्कार कर दिया था।

तबसे हालत बहुत सुधर गयी है। वेब और उनके बादके अन्य आलोचकोंका कहना

हैं कि सोवियत साम्यवाद एक नयी सभ्यता है। साम्यवादी आदर्शकी प्राप्तिके लिए जिस निर्मम कठोरता और आतंकवादका उपयोग किया गया था, वेब उसकी कोई सफाई नहीं देते। पर उनका कहना है कि "इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि १९१७ से रूसी जनताका दूसरा जन्म हुआ है।" द्वितीय विश्व युद्धके आरम्भ तक जहां एक ओर ससारके अनेक देश बेकारीके बोझमें पिसे जा रहे थे, वहां रूस में बेकारीकी कोई समस्या ही नहीं थी। १९३८ में व्यक्तिवादी व्यवस्था की तुलनामें सामूहिक खेतीमें चौगुना उत्पादन हुआ।[1] किसानोंकी वैयक्तिक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करनेके लिए उन्हें अपने निजी मकान, उद्यान, कुछ सुअर, गायें और मुर्गियां रखनेकी अनुमति दी गयी। गेहूं पैदा करने वाले खेतों का सकोपण या एकीकरण कर दिया गया है।

रूस का बहुत अधिक औद्योगीकरण हो चुका है। उत्पादन और वितरणकी योजना एक केन्द्रित योजनाके अनुसार तैयार की जाती है। और फिर यह योजना फैक्ट्री-सभाओं और केन्द्रीय समितियों की शृंखला द्वारा कार्यान्वित की जाती है। किन-किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और उनका वितरण कैसे किया जाय– यह निश्चय करनेमें साधारण मजदूरका भी हाथ रहता है। योजना इतनी सावधानी और सतर्कतासे बनायी जाती है कि किसी प्रकार की बर्बादी या तो बिल्कुल नहीं होती या बहुत ही कम होती है। विदेशी व्यापारका सचालन इस प्रकारसे किया जाता है कि बाहरी देशोंकी मुद्रास्फीति (inflation) या मुद्रापकर्ष (deflation) का सोवियत अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पडता। जितनी रकमका माल बाहरसे मगाया जाता है उतनी ही रकम का माल रूस से बाहर भेजा जाता है। इस प्रकार आयातका मूल्य निर्यात द्वारा चुका दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्तिको उदार 'ट्रेड-यूनियन वेतन' (Trade-Union Wage) मिलता है। यह सही है कि रूस में भी वेतनो और स्तरोंमें असमानता है। पर उतनी नहीं जितनी पूंजीवादी देशोंमें। उद्योगों में भी खेल-कूद की भावनासे काम लिया जाता है। जिस प्रकार खेल-कूदमें सम्मान और आनन्द पानेके लिए परिश्रम किया जाता है, ठीक उसी प्रकार बहुतसे उत्साही मजदूर सम्मान और आनन्द पानेके लिए श्रम करते हैं। मुनाफेकी भावना समाप्त कर दी गयी है। पूंजीवाद हमेशाके लिए विदा कर दिया गया है।

सोवियत रूस में ऐसे भी उत्पादक हैं जो मालिक होते हैं। पर किसीको मुनाफा कमानेके लिए मजदूरी पर काम लेने की इजाजत नहीं है। पर हालके पर्यवेक्षकोंका

---

[1] रूस में 'सामाजिक उपयोगके लिए व्यवस्थित उत्पादन होता है' (वेब)। हाल ही में एक अधिकारीके कथनानुसार सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्थामें १९२७ और १९३८ के बीच रूसी लोगोंने अपना औद्योगिक उत्पादन ८००' प्रतिशत बढ़ा लिया जबकि ब्रिटेन, फ्रास, और अमेरिका वैयक्तिक स्वामित्वकी व्यवस्थामें केवल पचास प्रतिशत ही वृद्धि कर सके।

युद्धमे विजय पाने वाले और पराजित होने वाले दोनों ही, युद्धमें अच्छी तरह ऊब चुके थे। शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रके लिए जनता में सच्चा उत्साह था। पर समाजके भविष्यका निर्माण करनेके लिए वारसाईमें जो राजनीतिज्ञ एकत्र हुए थे वे इस योग्य न थे कि अपने कार्यको ठीक प्रकार कर सकते। सम्प्रभुराष्ट्र राज्यके जर्जर सिद्धान्त को 'राष्ट्रोंका आत्म-निर्णय' कहकर भावी व्यवस्थाओंका आधार बना दिया गया(The outworn doctrine of the sovereign nation State in the form of 'the self-determination of nations' was made the basis of future arrangements.)। फलत. कई ऐसे छोटे-छोटे राज्यो का निर्माण हुआ जो अपने पैरों पर खडे होनेमें असमर्थ थे। योरोपीय सघका सही अर्थोमें निर्माण करनेके बजाय राष्ट्रसघ (League of Nations) का निर्माण किया गया। बडे राष्ट्रोने राष्ट्रसघका उपयोग अपना मतलब निकालनेके लिए किया। ममशासन-प्रणाली (mandatory system) के नाम पर विजयी राष्ट्रोंको उपनिवेश सौंप दिये गये। पराजित राष्ट्रों पर भारी जुर्माने ठोके गये। जर्मनी को ही युद्धका एक-मात्र अपराधी ठहराया गया। वारसाई सन्धिकी 'युद्ध अपराध धारा' बहुत वर्षों तक जर्मनी की आखोमें शूलकी तरह चुभती रही। युद्धसे उत्पन्न समस्याओको हल करने के लिए कोई गम्भीर प्रयत्न नही किये गये। युद्धके बाद प्रारम्भिक वर्षोमें तो इस दिशामें ऑस्ट्रिया और जर्मनी को ऋण दिये जानेके अलावा बिल्कुल यत्न ही नही किया गया। राजनीतिक और आर्थिक समस्याओको एक दूसरे से बिल्कुल पृथक रखा गया। विश्वका वित्तीय नियंत्रण विजयी राष्ट्रोंके हाथों मे रहा। सामूहिक सुरक्षाकी व्यवस्था तो की गयी पर यह कागज पर ही रही। सामूहिक सुरक्षाका स्थान कॉसमैन के शब्दोंमें 'सामूहिक शान्तिवाद' (collective pacificism) ने ले लिया। ऐसा मालूम पडता है कि विजय ने फ्रास और ब्रिटेन की चुस्तीमें कमी कर दी। इन देशोके अनुदारवादी (conservatives) पहले की भाति प्रचण्ड साम्राज्यवादी न रह *गये और समाजवादियोंने शान्ति की क्षमता खो दी'।* (*क्रॉसमैन, २५६*)। इन देशोकी सैनिक शक्ति *अब भी पर्याप्त थी, पर वे उस समय तक इसका उपयोग नही करना चाहते थे जब तक कि यथावत् स्थिति असह्नीय न हो जाय।* अनुशास्ति व्यवस्थाका पाखण्ड रचा गया (The myth of sanctions was invented) पर उसका उपयोग केवल एक ही बार अबीसीनिया युद्धके दौरान १९३५-३६ में किया गया। और उस समय भी इसका उपयोग करनेवालो ने ही इसे विफल कर दिया। इन सब बातोंके फलस्वरूप लोकतंत्रीय निष्ठाको भारी धक्का लगा। दूसरी ओर, युद्धके एकदम बादके वर्षोमें खास तौर पर, साम्यवादका हौवा विश्व शान्ति करा देनेकी धमकी दे रहा था। युद्धोपरान्त योरोपीय स्थितिकी इस पृष्ठ भूमिमें ही इटली के फासिस्टवाद और जर्मनी के नाजीवादको ठीक प्रकारसे समझा जा सकता है।

१. इटली में फ़ासिस्टवादका उदय (The Emergence of Fascism in Italy). 'फासिस्टवाद' (fascism) शब्दकी उत्पत्ति 'fascio' शब्दसे हुई है जिसका

मतलब है लकड़ीका एक गट्ठा जो अनुशासन, एकता और शक्तिका प्रतीक है। युद्धके दौरानमें इसका मतलब उन सब लोगोंसे था जिन्होंने अपनेको एक सूत्रमें बांध लिया था और इटली के लिए जीने और मरनेको तैयार थे। सर्वप्रथम 'fascio' नामक संस्थाकी स्थापना मुसोलिनीके नेतृत्वमें मिलान नामक शहर में १९१५ में हुई थी। इसके बाद १९१९ में साम्यवाद का मुकाबला करने के लिए संस्थाका पुनर्निर्माण किया गया। सन् १९१९ के संसदीय चुनावमें फासिस्टोंको एक भी सीट नहीं मिली। मुसोलिनी स्वयं मिलानसे खड़े हुए थे और बुरी तरह हारे थे। उस समय मुसोलिनीके बारे में कहा गया था कि "यह एक मुर्दा है जो शीघ्र ही दफना दिया जायगा।" पर 'मुर्दा' जी उठा और तीन सालके भीतर ही इटली में फासिस्टवादी सरकारकी स्थापना हो गयी।

इटली की कुछ घटनाओंने फासिस्टवादके इस आश्चर्यजनक उत्थानमें बड़ी सहायता पहुंचायी। युद्धके बाद इटली में उदारवादी सरकार शासनारूढ थी। यह सरकार बहुत कमजोर थी। इस सरकारके विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि पेरिस शान्ति सम्मेलनमें यह इटली का पूर्णरूपेण हित साधन करनेमें विफल रही है। विजयी राष्ट्र होने पर भी इटली को कोई महत्वपूर्ण क्षेत्र नहीं मिला। स्मर्ना या अन्य कोई भी प्रदेश न मिलनेसे इटली को घोर निराशा हुई। आंग्ल-सैक्सन देशोंके बढ़ते हुए भारी ऋणों ने आगमें ईंधन का काम किया। इटली में एकके बाद एक करके अनेक हड़तालें हुईं। फलतः देशका आर्थिक जीवन बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गया। समाजवादी क्रान्तिकी तैयारी कर रहे थे। संसदमें भी सरकारके कार्योंमें बाधाएं पैदाकी जा रही थीं। इन सब बातोंके बावजूद इटली की तात्कालीन सरकार कड़ा कदम उठानेसे डरती रही और हाथ पर हाथ धरे बैठी रही।

इटली की इस दयनीय स्थिति में मुसोलिनी ने रंगमंच पर पदार्पण किया। वह सम्पूर्ण इटली को एक सूत्रमें बांधकर देशमें शान्ति, व्यवस्था और अनुशासन कायम कर एक शक्तिशाली सरकार स्थापित करना चाहते थे। मुसोलिनी अपने जीवनके आरम्भमें अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादमें विश्वास करने वाले क्रान्तिकारी विचारोंके व्यक्ति थे। पर प्रथम विश्व युद्धके दौरानमें उनके विचारोंमें एकदम परिवर्तन हो गया और उन्होंने सेनामें भर्ती होकर दो वर्ष तक अपने देशके लिए युद्ध किया। देशभक्तिकी आग उनके हृदयमें जोरोंसे धधक रही थी। वह इटली को प्रथम श्रेणीकी योरोपीय शक्ति बना देना चाहते थे। उनका कहना था कि उदार लोकतन्त्रका भार ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ऐसे अमीर देश ही उठा सकते हैं, इटली जैसे गरीब देश नहीं। उनका कहना था कि इटली को इस समय सबसे बड़ी जरूरत नेतृत्व की और अनुशासन की है। इटली की जनता दो कारणोंसे लोकतन्त्रके एकदम विरुद्ध थी। पहला कारण तो यह था कि इटली में लोकतन्त्र अपनेको प्रभावहीन सिद्ध कर चुका था। और दूसरा कारण यह था कि शान्ति सम्मेलन में और उसके बादके वर्षोंमें इटली को पश्चिमी लोकतन्त्र के हाथों हानि उठानी पड़ी थी। इटली की जनताका लोकतन्त्रमें विश्वास हो

उठा ही, साथ ही वह राष्ट्रसंघ में भी अविश्वास करने लगी और वह ब्रिटेन और फ्रांस के गठ-बन्धनको नष्ट करनेको बेचैन हो उठी। मुसोलिनी इस गहरे असन्तोषकी भावनाके मूर्तरूप थे (All this surging discontent found an embodiment in Mussolini)।

अपने जीवनके आरम्भमें मुसोलिनी पर सोरेल की श्रमिक संघवादी शिक्षाओं का बहुत प्रभाव पड़ा था। आम हड़ताल में तथा वर्गयुद्धमें उनका पक्का विश्वास था पर युद्धके बाद की इटली की हालत ने उन्हें सोरेल की शिक्षाओंको त्यागनेके लिए बाध्य किया यद्यपि सामान्य श्रमिक संघवादी विचारधारामें, विशेषकर सीधी कार्रवाईमें उनका विश्वास बना रहा। पहली अगस्त १९२२ को आम हड़तालकी घोषणा की गयी। यह घोषणा फासिस्टवादियोंके लिए वरदान साबित हुई। फासिस्टवादियोंने मौलिक सेवाओंको चालू रखनेका भार अपने ऊपर लेकर हड़तालको २४ घण्टेके अन्दर समाप्त कर दिया। अपने इस कार्यसे फासिस्टवादियोंने जनताके एक बहुत बड़े अंशकी कृतज्ञता प्राप्तकी और उसके विश्वास पात्र हो गये।

तत्कालीन इटली की सरकार जनताकी दृष्टिमें और भी नीचे गिरती गयी। अन्तमें २८ अक्तूबर, १९२२ को मुसोलिनी ने अपने अनुयायियोंके साथ रोम पर धावा बोलकर सार्वजनिक कार्यालयों, रेलों, डाक और तारघरों आदि पर अधिकार कर लिया। यह सब शान्तिपूर्ण ढगसे ही हुआ। सरकारके पास इस्तीफा दे देनेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया। एक दिन बाद इटली के राजाने मुसोलिनी को मंत्रिमण्डल बनानेके लिए आमंत्रित किया। मुसोलिनी ने फौरन ३० अक्तूबर, १९२२ को अपना मंत्रिमण्डल बनाया। उसके बाद मुसोलिनी २४ जुलाई, १९४३ तक इटली के एकछत्र शासक रहे और फिर उनका पतन हो गया।

आन्दोलनके प्रारम्भिक दिनोंमें जब मुसोलिनी राज्य सत्ताकी ओर अपने कदम बढ़ा रहे थे, उनके पास कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था और उन्होंने एक बारसे अधिक अपनी स्थिति बदली। उन्होंने घोषणाकी कि इटली को 'कार्यक्रम' नहीं 'कार्य' चाहिए। उनके शुरूके मंत्रिमण्डलोंमें विभिन्न दलोंके लोग थे। १९२६ के बाद ही इटली की सरकार पूरी तरहसे फासिस्टवादी और तानाशाही बनी। उसी वर्ष नवम्बर में फासिस्ट दलके अतिरिक्त शेष सभी राजनीतिक दल दबा दिये गये और समाचारपत्रोंका मुंह बन्द कर दिया गया। कई एक कानून पास करके मंत्रिमण्डल को संसदके प्रति उत्तरदायी होनेसे बरी कर दिया गया। मुसोलिनी सरकारके 'प्रधान' बन गये। वह केवल राजा ही के प्रति उत्तरदायी रहे। उन्हें ऐसे आदेश जारी करने का अधिकार हो गया जो विधियोंके समान ही शक्तिमान थे। मंत्रिगण उनके सहयोगी न रहकर उनके अधीन हो गये। मुसोलिनी 'ड्यूस' कहे जाने लगे। ड्यूस शब्दका मतलब है 'नेता'।

१९२८ में पुरानी प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) को समाप्त कर उसके स्थान पर एक नये सदनकी स्थापनाकी गयी जिसे 'Corporative Parliament'

इसमें चार सौ सदस्य थे। ये सदस्य आबादी या क्षेत्रका प्रतिनिधित्व न करके आर्थिक हितोंका प्रतिनिधित्व करते थे। इस सदनकी सदस्यता की व्यवस्था फासिस्ट दलकी महासमिति (grand council of fascism) करती थी जो राष्ट्रीय राज्यकी भी महासमिति थी। सदनको पहलकदमी (initiative) का कोई अधिकार नहीं दिया गया था। वह केवल प्रधान द्वारा दिये गये सुझावों पर ही अपनी राय दे सकता था, पर उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता था। फासिस्ट दलका प्रधान फासिस्ट सरकारका प्रधान होता था।

संसदके ऊपरी सदन, सिनेटमें राजवंशके राजकुमार और वे जीवन सदस्य होते थे जिन्हें प्रधान मंत्रीकी सलाहसे राजा नियुक्त करता था। आजीवन सदस्योंकी संख्या सीमित नहीं थी। सिनेट निचले सदन द्वारा भेजे गये विधेयकों पर विवाद करती थी, उनमें सुधार कर सकती थी और उन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर सकती थी। सिनेट द्वारा संशोधित या अस्वीकृत विधेयक निचले सदनको पुनः विचार करनेके लिए भेज दिये जाते थे।

फ़ासिस्टवादकी विचारधारा
(The Ideology of Fascism)

इटली में इक्कीस वर्ष तक निरंकुश राज्य करने पर भी फासिस्टवादका कोई सुविचारित सिद्धान्त नहीं था। प्रथम विश्व युद्धके समाप्त होने पर इटली में जो वास्तविक परिस्थितियां थीं उन्हीं परिस्थितियोंकी उपज फासिस्टवाद है। यह राष्ट्रको कार्य करनेकी शिक्षा देता है। उसका प्रधान मंत्र शक्ति और सजीवता है। फासिस्टवाद, व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद, उदारवाद और संसदात्मक प्रजातंत्र का विरोधी है। फासिस्टवाद वर्ग-युद्ध और सर्वहारावर्गकी तानाशाही पर आधारित साम्यवादका विशेष तौर पर विरोधी है। पर साम्यवादका तो अपना एक दर्शन है जो प्रमाणों द्वारा तर्कपूर्ण ढंगसे व्यवस्थित और सिद्ध किया गया है और जिसका विचारपूर्ण मूल्यांकन किया गया है। भले ही अपनायी गयी पद्धतिका आधार एक बौद्धिक उलझन ही हो। इसके विपरीत फासिस्टवादका दर्शन कार्य-साधक रहा है। इसका प्रधान लक्ष्य रहा है काम निकालना, किये हुए कार्योंका औचित्य सिद्ध करना और आनेवाली परिस्थितियोंका सामना करना और इसके लिए वह अपने विचारोंमें समय-समय पर परिस्थितियोंके अनुसार रद्दोबदल करता रहा है। फासिस्टवाद मूलतः तर्कहीन है। उसमें प्रेरणा अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित कपोल कल्पना ही मिलती है। फासिस्टवाद इच्छा और विश्वासके कारण ही सत्य है। (सिवाइन)।

फासिस्टवाद सक्रिय और शक्तिशाली राज्यका समर्थन करता है। मुसोलिनी ने लिखा था कि फासिस्टवाद एक धार्मिक धारणा है। इस धारणाके अनुसार

अपना भाग्य जोडकर जर्मनी का साथ दिया और फ्रास का पतन आसान कर दिया।

फासिस्टवाद अन्तर्राष्ट्रीयतावादका शत्रु है। उसका कहना है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायरोंका स्वप्न है।' मुसोलिनी के कथनानुसार 'साम्राज्यवाद जीवनकी पुरानी और कभी न बदलने वाली विधि है।' एक बार उन्होने लिखा था कि हम चार करोड व्यक्ति अपने सकरे पर अर्च्चनीय (adorable) प्रायद्वीपमें न जाने किस प्रकार गुजर कर रहे हैं और इस अर्च्चनीय प्रायद्वीपके इन चार करोड़ व्यक्तियोंको हाथ-पैर फैलानेका अवसर देनेके लिए, १९३६ में जराले बहानेको लेकर एक बर्बर युद्धके बाद अबीसीनिया को इटली में मिला लिया गया। मुसोलिनी का कहना था कि 'इटली का विस्तार उसके लिए जीवन और मरणका प्रश्न है।' इटली का विस्तार होना ही चाहिए अन्यथा उसका विनाश हो जायगा।

सरकारकी आन्तरिक कठिनाइयोंसे लोगोंका ध्यान हटानेके लिए इटली ने युद्ध का सहारा लिया। फासिस्टवादने जानबूझ कर देशमें ऐसी नीति अपनायी कि जिसका परिणाम दूसरे देशोंके साथ युद्धके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता था। वह न तो विश्व शान्तिको सम्भव ही मानता था और न उसे उपयोगी ही समझता था।

फासिस्ट विचारधारा पर लिखते हुए हैलोवेल (Hallowell) कहते हैं कि फासिस्टवाद वैयक्तिक स्वाधीनता और समानताकी धारणाओंको अस्वीकार करता है। फासिस्टवाद का कहना है कि व्यक्तिका अस्तित्व राज्यके लिए है। मुसोलिनी ने राज्यको स्वय अपने आपमें एक आत्मिक और नैतिक शक्ति बतलाया है।

फासिस्टवाद प्रेरणा और स्वाभाविक प्रवृत्ति (instinct) से काम करता है, विवेकसे नही। वह समस्त मूल्य महत्वको आपेक्षिक ही मानता है। अपने आपमें किमीका कुछ मूल्य महत्त्व नही है। सत्य वही है जिसे तानाशाह सत्य कह दे। अधिकार वही है जिसे तानाशाह अधिकार मान ले। यदि नाजीवाद जातिकी कल्पित गौरव-गाथा गाता है तो फासिस्टवाद राष्ट्र की दुहाई देता है। दोनो ही के मूलमें प्रतिकार (vengeance) की भावना है।

आज दिन भारत की कुछ राजनीतिक पार्टियोंमें भी फासिस्ट प्रवृत्तिया पायी जाती हैं।

फ़ासिस्टवाद की सफलताएं (Achievements of Fascism).

मुसोलिनी और उनके अनुयायियोंने सत्तारूढ होनेके बाद कुछ वर्षों तक अपने देशके लिए निस्सन्देह बहुत कुछ किया। उन्होंने देशकी वित्तीय स्थिति ठीक की। राष्ट्रीय जीवनके प्रत्येक पक्षकी कमजोरिया दूर करनेके लिए उसे फिर से सगठित किया गया। कृषिकी उन्नति की गयी। सुदृढ आधार पर उद्योगोंकी स्थापना की गयी। दलदलोंको साफ किया गया और जहा पहले मच्छर भनभनाते थे वहा एक नया

शहर बसाया गया। यातायातके साधनोंका इतना विकास किया गया कि उनका स्वरूप ही बदल गया। सुन्दर आकारकी आकर्षक इमारतें बनायी गयीं।

पर बादके वर्षोंकी कहानी बिल्कुल भिन्न है। एक ओर वस्तुओंका मूल्य बढना गया और दूसरी ओर वेतन तथा मजदूरी जानबूझ कर घटायी गयी। औद्योगिक मजदूरोंकी अपेक्षा जमींदारों और किसानोंकी भलाईके लिए अधिक प्रयत्न किये गये। अबीसीनिया युद्धके पहले बेकारीकी समस्या गम्भीर हो गयी थी और बेकारी दूर करनेके लिए सैनिक तैयारियां आरम्भ की गयीं। जनताका जीवन स्तर गिर गया। इटली वालोंका अपौष्टिक भोजन फासिस्ट कालमें और भी निकृष्ट हो गया। बड़े पूंजीपतियोंकी अपेक्षा छोटे व्यापारियोंको अधिक हानि पहुंची। पूंजीवादकी भांति फासिस्टवादमें भी व्यापारमें मन्दी और तेजीका क्रम चला और मन्दीका जमाना लौट-लौट कर आता रहा। जैसा सेबाइन लिखते हैं: "आत्मबलिदान, आज्ञा-पालन और राष्ट्रीय युद्धमें प्राण अर्पण करनेके आदर्शोंकी शिक्षा उनके सैनिक महत्त्वके कारण नहीं दी जाती थी। जनतासे हमेशा यह कहा गया कि वर्तमान बलिदानके बदले उसे भविष्यमें आर्थिक लाभ होगा। और यह लाभ उन्हींको होगा जो सबसे अधिक बलिदान करेंगे। धर्मान्धिता अथवा कुटिल स्वार्थ सीधे-सीधे लोगोंको लाभका प्रलोभन देता है। पर भविष्यका यह फासिस्टवादी स्वप्न भावनात्मक है (१२ : ७७४-५)।

निगमित राज्य (The Corporative State.) फासिस्टवाद का दावा है कि आर्थिक क्षेत्रमें उसकी सबसे अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण देन निगमित राज्य है। फासिस्टवाद बड़े गर्वसे कहता है कि निगमित राज्य न तो पूंजीवाद है और न समाजवाद। यह नवीन और उच्च कोटिकी व्यवस्था है। मुसोलिनी के शब्दोंमें निगमवाद (Corporatism), समाजवाद और उदारवाद दोनोंसे ही ऊंचा है। इसने एक नयी व्यवस्थाको जन्म दिया है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि उनके समस्त कार्योंमें से निगमित राज्यका निर्माण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मौलिक कार्य है या दूसरे शब्दोंमें सबसे अधिक क्रान्तिकारी कार्य है। यद्यपि हम फासिस्टवादके इस लम्बे-चौड़े दावेको माननेके लिए तैयार नहीं हैं पर हम यह विश्वास करने को तैयार हैं कि निगमित राज्यमें तो नहीं पर निगमित समाजकी धारणामें अवश्य हमें आधुनिक राज्यके पुनर्गठनका आधार मिल सकता है।

फासिस्टवादी निगमित राज्यकी धारणामें मध्यकालीन श्रेणीवाद (guild) और आधुनिक श्रमिक संघवाद (*Syndicalism*) दोनों ही का मेल है। कुमारी विल्किनसन (Miss Wilkinson) का यह कथन सही है कि फासिस्टवाद कोरी पूंजीवादी प्रतिक्रिया ही नहीं है। इसमें अनेक समाजवादी तत्त्व भी हैं। जैसा कि एक अन्य लेखकने कहा है, फासिस्ट समाजवादी और पूंजीवादी दोनों ही हैं। क्योंकि उनमें पूंजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रवृत्तियां यथार्थ रूपमें पायी जाती हैं।

फासिस्टवाद वर्तमान पूंजीवादकी आलोचना करते हुए कहता है कि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्थामें मालिक और मजदूर दो परस्पर विरोधी दलोंमें संगठित रहते

है और सामान्य जनहित की अवहेलनाकी जाती है। फासिस्टवाद मजदूरों, मालिकों और उपभोक्ताओ इन तीनोंके हितोंकी रक्षा समानरूपसे करनेका प्रयत्न करता है। राष्ट्रीय उत्पादनमें वृद्धि और सार्वजनिक कल्याणकी सिद्धि फासिस्टवादके मुख्य लक्ष्य हैं। फासिस्टवादका दावा है कि मजदूर, मालिक और उपभोक्ता तीनों ही समाजके अंग हैं और इसलिए तीनो ही के हित एक दूसरेसे बंधे हुए हैं।

सिद्धान्त रूपमें यह सब चाहे सत्य भी हो पर असली प्रश्न तो यह है कि फासिस्ट-वादी राज्य अपने इस उद्देश्यको कहा तक पूरा कर पाया है। इटली के निगमित राज्य होते हुए भी १९३४ तक देशमें एक भी निगम नही था यद्यपि मन्त्रिमण्डलमें निगम विभाग कई वर्षोंसे था। ५ फरवरी, १९३४ की विधि द्वारा ही सरकारी तौर पर निगमोंकी स्थापनाकी गयी।

इटली के निगमति राज्यके सगठनसे यह स्पष्ट है कि राज्य और फासिस्टदल को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसका कारण यह मान लेना है कि राज्य और फासिस्ट दल उपभोक्ताओंके हितोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। पर यह दावा आसानी से सिद्ध नही किया जा सकता कि मालिको और मजदूरोंकी अलग-अलग समान्तर सस्थाएं होती हैं। राज्य और फासिस्ट-दल मालिक और मजदूर के बीच पच और संयोजकका काम करता है। निगमो को मान्यता प्रदान करनेके लिए सरकारने कुछ शर्तें निश्चित कर दी हैं। जो संस्थाएं इन नियमोंको पूरा नही करती उनकी कोई वैधिक स्थिति नही होती। कच्चे मालसे लेकर तैयार माल तक उत्पादनका सारा काम निगमके अधीन होता है। प्रत्येक निगमका नियत्रण एक समिति करती है जिसका अध्यक्ष मन्त्रिमण्डलका कोई सदस्य, राज्यका उपसचिव या फासिस्टदलका मत्री होता है।

निगमित राज्यका संगठन असाधारण तौर पर जटिल होता है। विभागोंमें कामोका बटवारा इस प्रकार किया जाता है कि एक ही काम एक से अधिक विभाग किया करते है। १९२५ में इटली में २२ निगम और ९ राष्ट्रीय संघ थे। राष्ट्रीय सघोकी सख्या बादमें तेरह हो गयी थी। राष्ट्रीय सघोका संगठन मालिकों और मजदूरोके यथाक्रम सम्बन्धके आधार पर और निगमोंका सगठन समान आधार पर होता है।

निगमित सस्थानोके अधिकार अधिकतर परामर्शमूलक हैं। वे सस्थान मजदूरोंके झगडोंका निपटारा करते हैं, सामूहिक श्रम सविदाओं को पूरा करते हैं, शिक्षा और समाज सम्बन्धी कार्य करते हैं और राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाते हैं। वे ही वेतन, कामके घण्टे, उत्पादन और वितरण निर्धारित करते हैं। शिक्षार्थी मजदूरोंका नियंत्रण भी वे ही करते हैं।

निगमित राज्यका दावा है कि उसकी योजनाका आधार व्यक्तिवादी न होकर सामूहिक है, पर असलियत यह नहीं है। उत्पादन अब भी व्यक्तिगत उद्योग पर निर्भर करता है। व्यक्तिगत उत्साह (initiative) और व्यक्तिगत सम्पत्तिका अन्त नही किया गया है। मुसोलिनी के कथनानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव व्यक्तित्वको

पूर्णता प्रदान करती हैं। यह एक अधिकार है; और अगर यह अधिकार है तो एक कर्तव्य भी है। निगमित राज्यके कटु आलोचक जॉन स्ट्रैची का कहना है कि फासिस्ट-वादी योजना पूंजीपतियोंकी सहमतिसे बनती है और इसे बनाते समय इस बातको महत्त्व दिया जाता है कि योजना ऐसी हो जिसमें सबसे कम अड़चनें आवें।

देश भरके मजदूर-संघों और मालिकोंके संगठनोंको समाप्त कर उनके स्थान पर निगमोंकी स्थापना की गयी। ये निगम पूरी तरहसे राज्य पर आश्रित थे। निगमोंमें मजदूरों और मालिकोंको समान प्रतिनिधित्व दिया गया था। पर जैसा सेबाइन कहते हैं: "यह मानना भूल होगी कि समान प्रतिनिधित्वका अर्थ समान अधिकार या मंत्रिमण्डल तक समान पहुंच थी। यह मानना भी गलत है कि निगमके माध्यमसे ही प्रभाव डाला जाता था या काम करवाया जाता था।" हड़ताल या तालाबन्दी पर वैधिक रोक लगा दी गयी थी। हड़ताल करने वालोंको सात वर्ष तककी कैदकी सजा दी जा सकती थी। यदि तीनसे अधिक मजदूर एक साथ हड़ताल करते थे तो उन्हें दण्ड देनेका अधिकार विशेष मजदूर अदालतोंको दे दिया गया था। मालिको और मजदूरोंके झगड़ोंको मजदूर अदालतें राष्ट्रके हितोंको ध्यानमें रखते हुए निपटाती थीं। ये अदालतें स्वयं अपनी ओरसे झगड़ोंमें हस्तक्षेप कर सकती थीं। वे इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती थीं कि झगड़ोंसे सम्बन्धित कोई पक्ष आकर उनका दरवाजा खटखटाये। जॉन स्ट्रैची का कहना है कि ऐसा मालूम होता है कि इस व्यवस्था द्वारा इटली के पुराने 'कॉम्बिनेशन कानून' (Combination Act) को पुनः लागू कर दिया गया। मजदूरोंके लिए मजदूर अधिकार पत्रकी घोषणा कर उन्हें कुछ अधिकार दिये गये। इन अधिकारोंमें सवेतन छुट्टियां, नाम-मात्रके खर्च पर डाक्टरी सहायता, विभिन्न प्रकारके मुआवजे, बुढ़ापे और मृत्यु सम्बन्धी बीमाके अधिकार प्रमुख थे। जोड ने इस अधिकार पत्रको 'मजदूरोंका महाधिकार पत्र' (Magna Carta of Labour) कहा था और इसका स्वागत किया था।

हड़तालोंके साथ ही सट्टेबाजी और अत्यधिक मुनाफे पर भी वैधिक रोक लगा दी गयी थी। १९३० और १९३३ में सरकारी आज्ञाओं द्वारा चीजोंके दाम कम कर दिये गये थे। मालिक अपनी मनमानी नहीं कर सकते थे।

निगमित राज्यने उत्पादन तो अवश्य बढ़ाया पर वह वास्तविक वेतनोंमें कोई खास सुधार नहीं कर सका। १९२६-२७ के बाद इटली के बैंकों पर नियंत्रण कर लिया गया। बैंक ऑफ इटली ही समस्त ऋणका नियमन करता था। सरकारकी स्वीकृतिके बिना कोई नया बैंक नहीं खोला जा सकता था। लोहा आदि कुछ उद्योगों को एकमें मिला दिया गया। जहाज उद्योग आदि कुछ उद्योगोंको सरकारी सहायता दी गयी।

इस सम्पूर्ण योजनाका उद्देश्य इटली और जर्मनी दोनों ही में साम्राज्यवादी विस्तार और युद्ध था। उद्योग धन्धे ही नहीं, खेती भी बहुत कुछ सरकारी सैनिक नियंत्रणके अधीन थी। सारा संगठन सैनिक आधार पर ही किया गया था। क्रमबद्ध

अधिकारियोंकी शृंखला नेतृत्वकी एकता तथा अनुशासन इस संगठनके मूल सिद्धान्त थे। सारा संगठन शतप्रतिशत फासिस्ट दल पर निर्भर करता था। फासिस्ट दल आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक शासन दोनोंका ही एक समान मुख्य आधार और स्तम्भ था।

यद्यपि हम उन सब कार्योंका समर्थन नहीं करते जो इटली में निगमित राज्यके नाम पर किये गये, पर निगमित समाजका विचार एक ऐसा विचार है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसा कि रेवरेण्ड पी० कार्टी ने कहा है: समाजका सार्वजनिक कल्याण, राज्यके अधिकार और व्यक्तियोंके अधिकार इन तीनोंका एकसा सम्मान और विकास होना चाहिए। इटली के निगमित राज्यके साथ खराबी यह थी कि इसका संगठन ही युद्धके लिए किया गया था। हमें आवश्यकता एक ऐसे निगमित समाजकी है जिसका संगठन शान्तिके लिए हो। निगमोंका निर्माण राज्य द्वारा न होकर स्वतंत्र व्यक्तियो द्वारा हो। व्यक्ति राज्यकी सहमतिसे अपना संगठन करें। निगमित राज्य और निगमित समाजमें यही मुख्य अन्तर है। निगमका कार्य-क्षेत्र आर्थिक और सामाजिक होता है राजनीतिक नहीं; अतः इसे राजनीतिक दलके नियंत्रणसे मुक्त होना चाहिए। इटली और जर्मनी दोनोंमें मजदूरों और मालिकोंके पृथक्-पृथक् संगठनोंको समाप्त कर दिया गया था। होना यह चाहिए कि इन दोनोंको निगमित समाजका अभिन्न अंग बना दिया जाय।

प्रो० कार्टी आगे कहते हैं कि निगमित समाजमें निश्चित समुदायके स्थायी हितोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले प्रत्येक निगमको सार्वजनिक विधि द्वारा मान्यता प्रदानकी जाती है और विधि द्वारा ही उसका नियंत्रण किया जाता है। अधिकार पत्र द्वारा दिये गये अधिकारोंकी सीमाके भीतर निगमका प्रशासन लोकतंत्रीय आधार पर होता है। निगम अपने सदस्योंके प्रति विधायिका, कार्यकारिणी, और न्याय-पालिका सम्बन्धी तीनों प्रकारके कर्त्तव्योंको पूरा करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्यकी सम्प्रभुता समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ केवल इतना है कि राज्य द्वारा दिये गये अधिकारोंकी सीमाके भीतर और सामान्य सार्वजनिक कल्याणके अनुकूल निगमको स्वशासनका अधिकार प्राप्त रहता है (११: १५४)। मजदूरोंको समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। 'अच्छी तरह विचार-विमर्श करनेके बाद निगम एक ऐसी नियमावली तैयार करता है जो सारे व्यावसायिक समुदाय पर एक निश्चित अवधि तक लागू रहती है (११: १५५)।' यह नियमावली राज्य द्वारा स्वीकृत हो जाने पर ही लागू होती है। राज्य नियमावलीको स्वीकार करनेके पूर्व सामान्य सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे जाचता है। राज्य विभिन्न नियमावलियोंको समन्वित करके एक मानव अर्थ व्यवस्था तैयार करता है।

यह नियमावली सम्बन्धित व्यावसायिक समुदायकी आर्थिक कार्रवाइयोंका नियमन करती है। नियमावली ही निश्चित करती है कि कौन वस्तु कितनी और किस प्रकार तैयार की जाय—उसका व्यापार कैसे किया जाय और नियमावली

(Code) ही वस्तुओंका कोटा निश्चित करती है। तैयार मालका मूल्य, यातायात कर और सम्बन्धित व्यावसायिक समुदायोंके साथ होनेवाले सौदोंका तथा तैयार मालके विज्ञापनों और बाजारोंका नियंत्रण भी नियमावली द्वारा ही किया जाता है (११ : १५५)। इसके अतिरिक्त नियमावली व्यवसायके भीतर सामाजिक व आर्थिक सम्बन्धोंका नियंत्रण करती है। वेतन, कामके घण्टे और परिस्थितियाँ, मुआवजा, सवेतन छुट्टी, पारिवारिक भत्ते, लाभ और विभिन्न प्रकारके बीमोंमें प्रबन्धकोंके भाग आदिका नियंत्रण भी नियमावली द्वारा ही होता है (११ · १५५)।

देशमें इस प्रकारके निगमोंकी स्थापना हो जाने पर जनताके आर्थिक और व्यावसायिक हितोंकी देखभाल ये निगम ही करते है। राज्य आर्थिक और व्यावसायिक समस्याओंसे निश्चिन्त होकर अपना सारा समय राजनीतिक और सैनिक कार्योंमें लगाता है। प्रत्येक निगमके उद्देश्य, कार्य-प्रणाली और अधिकार पर विस्तृत प्रकाश डालना कठिन है। निगमका उद्देश्य तो यह हो सकता है कि अधिकसे अधिक उत्पादन हो, वेतनके अनुकूल वस्तुओंके दाम रहें, प्रतियोगिता समाप्त हो, राष्ट्रीय शक्ति अधिकसे अधिक बढ़े, और अधिकसे अधिक सामाजिक शान्तिकी स्थापना हो। उद्देश्य चाहे जो कुछ हो, और यह देश और कालके अनुसार भिन्न होगा ही, 'विवेकपूर्ण और व्यावहारिक मानव उद्देश्यकी सिद्धि ही मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।'

जर्मनी का नाज़ीवाद (Nazism in Germany)

१. नाज़ीवाद का उदय (The Emergence of Nazism).

जर्मनी में नाज़ीवादका उदय जिन परिस्थितियोंमें हुआ था वे अनेक बातोंमें उन परिस्थितियोंसे मिलती-जुलती थीं जिनमें इटली में फासिस्टवादका उदय हुआ था। पर जर्मनी और इटली की परिस्थितियोंमें कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर भी थे।

१९१८ में जर्मनी विश्व युद्धमें पराजित हो चुका था और उसकी आँखें खुल चुकी थीं। इससे पूर्व जनताको विश्वास दिलाया गया था कि जर्मनी की सेना अजेय है, पर जब जर्मनी की इस तथाकथित 'अजेय' सेनाको मित्रराष्ट्रोंकी सेनाके आगे घुटने टेक देने पड़े तब देश भरमें व्याकुलता छा गयी। युद्धके अन्तमें हुई वारसाइकी सन्धिको जर्मनी की जनताने कभी पसन्द नहीं किया। शीघ्र ही इसे विजेताओं द्वारा जबर्दस्ती लादी गयी शान्ति कहा जाने लगा। सन्धिकी अनेक बातें बहुत कठोर थीं। उनका उद्देश्य जर्मनी को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें द्वितीय या तृतीय श्रेणीका राष्ट्र बना देना था। जर्मनी की सैनिक प्रतिष्ठा कम करनेके लिए निरस्त्रीकरणकी एक बहुत बड़ी योजना बनायी गयी। सन्धिके फलस्वरूप जर्मनी कई वर्षों तक अपनी हवाई सेना न रख सका। जर्मनी से क्षतिपूर्तिके रूपमें इतनी बड़ी रकमें मांगी गयीं जिनका अदा करना जर्मनी के बूतेके बाहर था। यह सही है कि बादमें ये रकमें कम

कर दी गयी—विशेषकर डाज़ (Dawes) और यंग (Young) योजनाओं द्वारा, और अन्तमें एक दिन यह भी आया कि जर्मनी ने हर्जाना देनेसे बिल्कुल इन्कार कर दिया। पर जब तक मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी से हर्जानेकी मांगकी जाती रही तब तक जर्मनी की जनताका खून खौलता रहा और नवयुवक यह समझ कर बेचैन होते रहे कि उन्हें बहुत दिनों तक मित्रराष्ट्रोंके वेतन भोगी दास बनकर रहना है।[1] राइन नदीके पश्चिमके प्रदेशका विसैन्यीकरण कर दिया गया। जर्मनी को पुन. सैनिक शक्ति न बनने देनेके लिए उस पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। क्षतिपूर्तिकी रकम अदा न होने पर सन् १९२३ में फ्रांस और बेल्जियम ने रूर पर आक्रमण कर दिया और वे कई वर्षों तक उस प्रदेश पर अधिकार किये रहे।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जर्मनी से उसके उपनिवेश छीन लिये गये। मित्रराष्ट्रों के चतुर राजनीतिज्ञोंने अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन की आंखोंमें धूल झोंक कर जर्मनी से छीने गये उपनिवेशोंको समाज्ञापित प्रदेशों (mandated territories) के रूपमें आपसमें बांट लिया। समाज्ञापित प्रणालीके नाम पर एक भारी भरकम योजना बनायी गयी। इस बात का दावा किया गया कि समाज्ञापित राष्ट्रोंका प्रधान उद्देश्य अपने संरक्षणमें आने वाले क्षेत्रोंको यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र इस योग्य बना देना है कि वह अपना शासन स्वयं कर सकें। मित्रराष्ट्रोंकी कथनी और करनी में अन्तर इतना स्पष्ट है कि उस बारेमें कुछ कहना अनावश्यक है। एक-आध अपवादको छोड़कर सारे विजेता समाज्ञापित प्रदेशोंको अपने उपनिवेश ही मान बैठे।

जर्मनी की आन्तरिक आर्थिक स्थिति दिवालिया हो चुकी थी। जर्मनी के सिक्के मार्क का मूल्य तेजीसे घटता जा रहा था और मुद्रास्फिति हो रही थी। फलतः व्यावसायिक वर्गोंका करीब-करीब विनाश हो गया। एक ओर मध्यवर्ग दरिद्र हो गया था और दूसरी ओर वे लोग अपने वैभवका प्रदर्शन कर रहे थे जो युद्धके दौरान और उसके बाद मुनाफाखोरीसे धनी बन बैठे थे। इस द्वितीय वर्गमें यहूदियोंकी संख्या कम नहीं थी। देशमें बेकारी दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी। १९३२ में ६० लाख व्यक्ति बेकार थे। देशकी नयी सीमाओंके कारण जर्मनी के भारी उद्योग बर्बाद हो गये थे। इन नयी सीमाओंने केन्द्रीय योरोप के नक्शेको ही बदल दिया। जर्मनी के कुछ प्रदेश उससे छिन गये, उसके कुछ नागरिक दूसरे देशोंमें बिखर गये।

इस दयनीय दशाके कारण जर्मनी में साम्यवादका प्रसार तेजीसे होने लगा। ऐसा मालूम पड़ता था कि जर्मनी इस तेजीसे बढ़ने वाली साम्यवादी विचारधारा और पद्धतिका शिकार हो जायगा। पश्चिमी लोकतंत्रकी परम्पराके अनुरूप जर्मनी के लिए लोकतंत्रीय संविधान बनाना ही इससे बचनेका एकमात्र उपाय था। फलतः वीमर गणतंत्र (Weimar Republic) की स्थापना हुई। पर जनताने इसे कभी पसन्द

---

[1] एक जर्मन नवयुवकने १९३२ में लिखा था: "हम एक ऐसे युवक समाजके सदस्य हैं जिसे न तो भविष्यमें कोई आशा है और न वर्तमान कालमें कोई सुख।"

नहीं किया। वीमर गणतन्त्रका संविधान पण्डिताऊ और शास्त्रीय संविधान था। इसमें जर्मनी की विशिष्ट परम्पराओं और जर्मन जनताकी प्रवृत्तियोंका बिल्कुल ध्यान नहीं रखा गया था।

एकतन्त्र निरंकुश सत्ताके बजाय, जिसके जर्मन लोग उपासक हैं, उन्हें एक राष्ट्रपति, एक अध्यक्ष, संसदके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल और मौलिक अधिकारों की एक लम्बी सूची दी गयी। एक बात और हुई कि जो लोग वीमर-संविधान बनाने के लिए जिम्मेदार थे उन पर यह आरोप भी लगाया गया कि वे विजयी मित्र राष्ट्रोंसे जर्मनी के लिए यथासम्भव अच्छीसे अच्छी शर्तें नहीं मनवा सके। राष्ट्रीय गौरवके इस अपमानका पुराने शासक वर्ग, नौकरशाही और मध्यवर्गके हृदयमें बड़ा गहरा आघात लगा। जर्मन जनताने वारसाईकी सन्धि और जर्मन गणतन्त्रको मजबूर होकर अनिवार्य बुराई ही समझा। केवल औद्योगिक मजदूरों में ही इनके प्रति उत्साह था।

वीमर-संविधानके अन्तर्गत बनने वाली विभिन्न सरकारोंको अनेक असाध्य कठिनाईयोंका सामना करना पड़ा। एक ओर जनतामें असन्तोष बढ़ रहा था और वह निरुत्साहित हो रही थी और दूसरी ओर मित्रराष्ट्र अपनी उन असम्भव शर्तोंको जर्मनी से पूरा करानेका प्रयत्न कर रहे थे जो जर्मनी पर जबरदस्ती लादी गयी थीं। १९१९ और १९३३ के बीच १२ अध्यक्षोंके नेतृत्वमें २१ मन्त्रिमण्डल बने। देशमें अनगिनत राजनीतिक पार्टियां थीं। इन पार्टियोंके उद्देश्य एक दूसरेके विरोधी थे। १९३२ में जर्मन संसद (Reichstag) का जो चुनाव हुआ उसमें ३८ राजनीतिक पार्टियोंने भाग लिया था। सामाजिक लोकतन्त्रवादी (Social Democrats) पार्टीके अनुयायियोंकी संख्या बहुत बड़ी थी। यह पार्टी यदि अपनी घोषणाओंके प्रति सच्ची होती, और देशके आर्थिक पुनर्निर्माणके लिए व्यापक रचनात्मक कार्यक्रम अपनाती तो वह देशको बचा सकती थी। पर साम्यवादके भयके कारण यह पार्टी साहसपूर्ण कदम उठानेमें डरती रही। यही नहीं; इस पार्टीने उद्योगपतियों और भूस्वामियोंसे समझौता कर लिया। फलतः राजनीतिक शक्तिके विभाजनके मामलेमें युद्धके पूर्वके जर्मनीसे युद्धके बाद का गणतन्त्रीय जर्मनी अधिक भिन्न नहीं था। जॉन स्ट्रैची का कहना है कि सामाजिक लोकतन्त्रवादियोंकी इस कायरतापूर्ण और समझौता-परस्त नीतिके कारण ही नाजियोंको राजनीतिक सत्ता हथियानेका अवसर मिला।

मित्रराष्ट्र जर्मनी को कमजोर बनाकर उसकी लोकतन्त्रवादी सरकारको अपने नियन्त्रण में रखना चाहते थे। शान्तिके प्रारम्भिक वर्षोंमें मित्रराष्ट्र क्षतिपूर्तिका एक एक पैसा जर्मनी से वसूल कर लेना चाहते थे। वारसाई सन्धिकी अन्यायपूर्ण धाराओंको हटानेके लिए दिये गये सुझावोंकी एकदम उपेक्षाकी जाती थी। जर्मन राजनीतिज्ञोंके अनेक नम्र निवेदनोंको भी तिरस्कारके साथ ठुकरा दिया गया। बाद में जर्मनी के साथ कुछ रियायतें की गयी पर वे सेतो सूख जाने पर वर्षाके समान थीं। १९३० में निश्चित समयसे पाच वर्ष पूर्व राइन प्रदेश खाली कर दिया गया। १९३२ में क्षतिपूर्तिकी मांगें समाप्त कर दी गयीं। पर इनमें से किसी भी कार्यके लिए न

तो जर्मनी की गणतंत्र सरकारको कोई शाबाशी दी गयी जिसने यह कूटनीतिक सफलता प्राप्त की थी और न जर्मनोंने रियायतें करने वाले मित्रराष्ट्रोंकी ही कोई कृतज्ञता मानी।

इस राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमिमें ही हमें नाज़ी आन्दोलनकी राजनीतिक सफलताको समझना है। इसका आरम्भ एक अत्यन्त सामान्य आन्दोलनके रूपमें हुआ जो कुल २८ व्यक्तियो तक ही सीमित था। इस आन्दोलनका जन्मदाता ताले बनानेवाला एक लोहार था जिसका नाम ऐंटन डैम्मलर था। आरम्भमें आन्दोलनका कोई निश्चित कार्यक्रम नही था। यह जर्मन सेनाओकी पराजयको अस्वीकार करता था। इसका कहना था कि जब जर्मन सेनाए विजयके निकट थी तभी विजय के एन मौके पर जर्मन सेनाओ के 'पीठ में छुरा भोका गया।' २८ प्रारम्भिक सदस्योमें से केवल ६ सदस्य सक्रिय थे। ऐडोल्फ हिटलर इस दलमें सातवें सदस्यके रूपमें शामिल किये गये। उस समय हिटलर एक बिल्कुल ही अज्ञात व्यक्ति थे। वह ऑस्ट्रिया में उत्पन्न जर्मन थे और १९१२ में जर्मनी चले आये थे। वह युद्धमें लड़े थे और घायल हुए थे। उन्हें सेवाओंके उपलक्षमें एक लोह पदक दिया गया था। सेनामें उनकी तरक्की कारपोरलके पद तक हुई थी। इसके विपरीत मुसोलिनी इटली का राष्ट्रीय नेता था। मुसोलिनी फासिस्टवादी तानाशाही स्थापित करनेके पहले भी युद्धमें महत्त्वपूर्ण कार्य कर चुके थे।

हिटलर और मुसोलिनी में एक अन्तर और था। मुसोलिनी एक प्रतिभावान विचारक तथा दर्शनशास्त्र और राजनीतिक सिद्धान्तीकरणमें रुचि रखनेवाला व्यक्ति था। पर हिटलर की शिक्षा अपूर्ण थी, यद्यपि उसमें व्यक्तिगत गुण थे। हिटलर अत्यधिक भावुक और अपनेको अत्यधिक महत्व देनेवाला व्यक्ति था। सम्भवत उसने हीगेल और ऑस्टिन चेम्बरलेनके मूल ग्रन्थोंको कभी नही पढा था। यद्यपि उसने इन दोनों विचारकोंके अनेक विचारोंको अपनी आत्मकथा (*Mein Kampf*) में स्थान दिया।

आरम्भमें नाज़ी पार्टीका नाम जर्मन मजदूर पार्टी (German Workers' Party) था। पर जीवनके दूसरे ही वर्ष यानी १९२० में इसका नाम राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मजदूर पार्टी (National Socialist German Workers' Party) रखा गया। फिर कुछ वर्षों बाद उसका नाम केवल राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी (National Socialist Party) हो गया। नाम का यह अन्तिम परिवर्तन महत्त्वपूर्ण था। क्योंकि इस नामके कारण वे बहुतसे लोग इस पार्टीमें शामिल हो गये जो अपनेको राष्ट्रीयतावादी और समाजवादी कहते थे। इस पार्टीके कार्यक्रम की मुख्य बातें जिसे आरम्भमें गॉटफ्रीड फेडर (Gottfried Feder) ने २५ परिच्छेदों में लिखकर तैयार किया था, बहुत क्रान्तिकारी थीं। उनमें से कुछ ये थीं—अनर्जित आयका उन्मूलन, युद्धकालके मुनाफोको जब्त करना, न्यासोका और भूमिका राष्ट्रीयकरण आदि। किसी ने भी आरम्भमें इस आन्दोलनको अधिक महत्व नही दिया यद्यपि यह बिल्कुल स्पष्ट था कि मित्रराष्ट्रो द्वारा किये गये जर्मनी के राष्ट्रीय अपमान के कारण ही इस आन्दोलन का जन्म हुआ था। निम्न मध्यवर्गीय जनता, सैनिक सगठनोंके सदस्य और छात्र ही

इस आन्दोलनकी ओर आकर्षित हुए। अधिकांश उद्योगपति और उच्च मध्यवर्गीय व्यक्ति इस आन्दोलनसे दूर ही रहे। जो लोग इस आन्दोलनकी ओर आकर्षित हुए भी वे उसके क्रान्तिकारी कार्यक्रमके कारण उसकी ओर उतना नहीं झुके जितना उसकी सैनिक प्रवृत्ति के कारण। घृणा और बदलेके आधार पर ही इस पार्टीकी स्थापना की गयी थी। इस पार्टीने 'अमल जर्मनी' के सभी शत्रुओंसे विशेषकर मार्क्सवादी उदार-पन्थियों, *साम्यवादियों और यहूदियोंसे लोहा लेने की ठानी थी।*

१९२३ तक आन्दोलनका विकास धीरे-धीरे हुआ। उस वर्ष हिटलर ने जनरल लुडेनडॉर्फ (General Ludendorf) के साथ म्यूनिकके धावेमें भाग लिया। धावा असफल रहा। हिटलर गिरफ्तार हो गया, उस पर मुकदमा चला और उसे पाच वर्षकी कैदकी सजा दी गयी। पर उसे आठ महीने बाद छोड दिया गया। जेलमें ही हिटलर ने अपनी आत्मकथा (*Mein Kampf*) लिखी। यह पुस्तक आगे चलकर नाजी-वादियोंकी गीता बन गयी।

इसके बाद से आन्दोलनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। दिन प्रतिदिन अधिकाधिक लोग इस आन्दोलनमें शामिल होने लगे। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यो-त्यो आन्दोलनकी शक्ति बढनी गयी। धनी वर्गोंका भय दूर करनेके लिए आन्दोलनके प्रारम्भिक कार्यक्रममें आवश्यक सुधार किये गये। उदाहरणके लिए 'बिना मुआवजेके भूमिके राज्याधिकरण' सम्बन्धी धाराकी व्याख्या कुछ इस प्रकार की गयी कि वह भूमि का सट्टा करने वाले यहूदियो पर ही लागू हो सके। सेनाके कुछ भूतपूर्व अधिकारी इस पार्टीमें शामिल हो गये। उन्होंने 'तूफानीदल (Storm Troopers)' के सगठन में सहायता दी। यह दल नाजी पार्टीका मेरुदण्ड बन गया। सैनिक प्रदर्शन, सैनिक वर्दियां, स्वस्तिक जैसे दलके चिह्न, साम्यवादियों और पुलिसके साथ मुक्केबाजी आदि जर्मन युवकोंकी लड़ाकू और स्वच्छन्द प्रवृत्तिको बहुत आकर्षक लगे। नाजी नेताओं के कुशल प्रचारने, हिटलर की बहुत अधिक जोशीले भाषण देनेकी शक्तिने, और सगठित महान् जर्मनी के नाम पर बलिदान और अनुशासनकी नाजी नेताओंकी अपीलो ने इस आन्दोलनको लोकप्रिय बनानेमें बड़ा काम किया।

जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे उद्योगपति, सम्पत्तिशाली वर्ग और नौकर-शाही अधिकाधिक रूपमें नाजी आदर्शोंके प्रति सहानुभूतिपूर्ण होने गये। उग्र राष्ट्रीयता का उन पर अधिक प्रभाव पड़ा। ऐसा विशेषकर इसलिए भी हुआ कि उन्हें इस बातका विश्वास हो गया था कि हिटलर की मशा उन क्रान्तिकारी योजनाओंको कार्यान्वित करनेकी नहीं है जिन्हें नाजी पार्टीने शुरू-शुरूमें अपने कार्यक्रममें रखा था।

नाजीवादने शुरू-शुरूमें कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की। पर १९२९ में इसने जोर पकड़ा। तत्कालीन विश्वव्यापी मन्दी और चारों ओर फैली बेकारीने इस आन्दोलनको और भी बल दिया। १९३२ में राष्ट्रपतिका चुनाव हुआ। इस चुनाव में हिटलर हिण्डेनबर्ग के विरुद्ध खड़ा हुआ। हिटलर को प्रथम मतदान (ballot) में १ करोड़ १३ लाख और दूसरे मतदानमें १ करोड़ ३४ लाख मत मिले। इसके बाद

से बराबर नाजी पार्टी विधायिकामें सबसे बड़ी पार्टी रही। यद्यपि समय-समय पर इसकी स्थिति अस्थायी तौर पर बिगड़ी भी। नाजी पार्टीको जितनी सीटें मिली थी उसकी आधीसे कुछ ही अधिक सीटें सामाजिक लोकतन्त्रवादियोको मिलीं। नवम्बर १९३२ में हिण्डेनबर्ग ने हिटलर से सयुक्त सरकार बनानेको कहा। पर हिटलरने सयुक्त सरकार बनाना अस्वीकार कर दिया। लगभग दो महीने बाद ३० जनवरी १९३३ को हिण्डेनबर्ग ने फिर हिटलर को सयुक्त सरकार बनानेके लिए आमंत्रित किया। इस बार हिटलरने निमत्रण स्वीकार कर लिया। इसके बाद से हिटलर और उसके नाजी साथियोका ही जर्मनी में बोलबाला रहा।

हिटलर की प्रथम मन्त्रिपरिषद नरम और अक्रान्तिकारी ही थी। पर नाजी पार्टीका देश पर पूरा प्रभुत्व था। इस प्रभुत्वका कारण नाजी पार्टीका अपना आन्तरिक सुदृढ सगठन और राजनीतिक व्यवस्था और पुलिस पर उसका नियन्त्रण था। ५ मार्च, १९३३ को जर्मन ससद (Reichstag) भग कर दी गयी। इसके कुछ दिन पूर्व *रहस्यमय ढगसे ससद भवनमें आग लगी थी। जिससे ससद भवन बुरी तरह जल गया* था। इस आगको साम्यवादी क्रान्तिका सकेत चिह्न ठहराया गया। इसके बाद देशमें अव्यवस्था फैल गयी। इस स्थितिमें सविधान द्वारा दिये गये नागरिको के अनेक मौलिक अधिकारोको राष्ट्रपतिने रद्द कर दिया। इसी उत्तेजनापूर्ण वातावरण में ससदका चुनाव हुआ और नाजियोको ५२ प्रतिशत सीटें मिल गयी। यह चुनाव सक्षम कानून (Enabling Act) के प्रश्न पर लडा और जीता गया था। इस कानूनने नाजी सरकारको चार सालके लिए करीब-करीब अपरिमित शक्ति दे दी।

अब नाजी पार्टीके विशेष कार्यक्रमोको कार्यान्वित किया जाने लगा। प्रशासन सेवा और न्यायपालिकासे 'अनार्यों' को निकाल बाहर किया गया। एक जन न्यायालयकी स्थापना की गयी। यह अदालत सरकारके हाथकी कठपुतली थी। समाचार पत्र, रेडियो, थियेटर, और सिनेमा—प्रचारमंत्री डा० गोयबेल्स (Dr. Goebbels) के आधीन कर दिये गये। इसी प्रकार स्कूलों और विश्वविद्यालयोंको शिक्षा मत्रीके सरक्षण में रख दिया गया। एक कानून द्वारा नाजी पार्टीको देशकी एकमात्र वैधिक पार्टी घोषित किया गया। किसी अन्य पार्टीकी स्थापना अपराध हो गया। मजदूर संघों को भग कर मजदूर वर्गको नाजियोके नियन्त्रणमें लाया गया। नवम्बर, १९३३ में ससदका निर्वाचन हुआ। इस चुनावमें नाजी पार्टीको ९२ प्रतिशत मत मिले, पर यह सफलता काफी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दबावके बिना नही मिली। पहली दिसम्बर को नाजी पार्टीको राज्यके शासन यन्त्रमें सम्मिलित कर लिया गया।

सघ प्रणाली समाप्त कर दी गयी। राज्योको जिलोंका रूप दे दिया गया। हर जिलेको हिटलर के एक निजी प्रतिनिधिके अधीन कर दिया गया। उसे वस्तुतः तानाशाही अधिकार प्राप्त थे। इसके बाद सघके इकाइयोका प्रतिनिधित्व करने वाले दूसरे सदन (Reichsrat) को भग कर दिया गया। १९३४ में हिण्डेनबर्ग के निधन के बाद हिटलर ने राष्ट्रपति और अध्यक्ष दोनोके सारे अधिकारोको अपने हाथमें कर

लिया। यही नहीं हिटलर ने कार्यपालिका और विधायिकाके सर्वोच्च अधिकारोंको भी अपनी मुट्ठी में कर लिया। वह जर्मनी में अध्यक्ष, सर्वोच्च नेता और एकछत्र शासक अर्थात् सर्वेसर्वा बन गये। संसदकी बैठकें कभी-कभी बुलाई जाती थी—कोई निर्णय करनेके लिए नहीं, हिटलर की कारगुजारियोंकी प्रशंसा करनेके लिए।

२. नाजीवादकी विचारधारा (The Ideology of Nazism).

नाजीवादकी विचारधारा बतलाना आसान नहीं है क्योंकि नाजीवाद राज्य या सरकारका कोई व्यवस्थित सिद्धान्त नहीं है। वह केवल एक आन्दोलन है जो व्यापक भावनापूर्ण आवश्यकताके कारण उठ खड़ा हुआ था। युद्धोत्तर जर्मनी की और विशेषकर हिटलर की बौद्धिक और भावनात्मक विशेष परिस्थितियोंके कारण इस आन्दोलनका उदय हुआ था। यह सही है कि नाजीवाद राजनीतिक सिद्धान्तके कुछ तत्व जर्मन जातिकी विशेषताओंके अनुरूप हैं। पर साथ ही इस सिद्धान्तके अनेक तत्वोंको युद्धके बादकी जर्मनी की परिस्थितियोंकी पृष्ठ भूमिमें ही समझा जा सकता है। हिटलर का व्यक्तित्व और जाति तथा समाजमें स्त्रियोंका स्थान जैसे प्रश्नोंके बारेमें हिटलर की विशिष्ट मनोवैज्ञानिक धारणाएं नाजी सिद्धान्तके साथ इस प्रकार घुली मिली हैं कि नाजीवादको 'हिटलरवाद' कहना अधिक ठीक होगा। नाजी आन्दोलनके आध्यात्मिक जन्मदाताओंमें जर्मनीके काण्ट, फिख्ते, हीगेल, गॉबिन्यु और एच० एस० चेम्बरलेन जैसे महान् आदर्शवादी और इटली के मुसोलिनी थे।

जर्मन परम्पराके अनुसार ही नाजीवाद राज्यको सातवें आसमान पर पहुंचा देता है। पर राज्यको इतना ऊंचा स्थान देनेका कार्य किसी भी उच्च दार्शनिक तरीकेसे नहीं किया गया। यह कार्य जर्मनी की वास्तविक आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए बहुत ही व्यावहारिक ढंगसे किया गया। देशके खोये हुए राष्ट्रीय गौरवको फिरसे वापस लानेके लिए राष्ट्रीय एकताको सबसे अधिक आवश्यक समझा गया। इसलिए राष्ट्रीय एकताके स्थापनार्थ नाजियोंने राज्यको मानवोपरि सत्ता (Superhuman entity) का रूप दिया। 'समाज' (Vock) को कच्चे माल के समान माना गया जिससे राज्यका निर्माण होता है। समाजको मजबूत बनानेके लिए नाजियोंने देशके सामने लगातार यह आदर्श रखा कि 'एक व्यक्तिके हितोंकी अपेक्षा समाजके हित' अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। हिटलर के सिद्धान्तके अनुसार "व्यक्ति कुछ नहीं है, समाज ही सब कुछ है।" अधिकारोंकी अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया जाता है।

अंग्रेजी परम्पराके अनुसार राज्य एक सेवकके समान है। प्रजा की परम्परा राज्यको स्वामी मानती है। इन दोनों परम्पराओंका पारस्परिक विरोध दिखाते हुए स्पेंग्लर (Spengler) लिखते हैं कि "अंग्रेजी परम्परा में हमें व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, आत्मनिर्णय, सकल्प और पहलकदमी मिलती है। जर्मनी परम्परामें राज्य-भक्ति, अनुशासन, आत्मबलिदान और आत्मप्रशिक्षण पर जोर दिया जाता है। व्यक्तिका

कोई महत्व नही होता। उसे अपने को समाजके लिए बलिदान करना चाहिए। किसी एक व्यक्तिका जीवन स्वय उसके लिए नही है। सबका जीवन सबके लिए है। और आज्ञापालनसे मिलनेवाली आन्तरिक स्वाधीनता सबको प्राप्त है।" इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तिको अपने मनका काम करनेकी या पहलकदमीकी स्वाधीनता नही है। एक सुव्यवस्थित राज्यकी आज्ञाओंका पालन करनेमें ही उसे अपने जीवनका महत्व और सुख मानना चाहिए। राज्यकी अनिवार्य सेवा ही पूर्ण स्वाधीनता है। नाज़ियों के इस सिद्धान्तमें हमें हीगेल के सितलिखकाइट (Sittlichkeit) सम्बन्धी सिद्धान्तोकी प्रतिध्वनि ही सुनायी देती है। एक सूक्ष्मदर्शी पर्यवेक्षकके कथनानुसार इस शिक्षाके फलस्वरूप जर्मनी के लोग अपने देशको महान, पर अपनेको तुच्छ बनाने लगे।

नाज़ी पार्टी समाज और राज्यको जोडने वाली कडी थी। उसने जनताको एक सूत्रमें बाधकर उसे एक सामान्य नेतृत्वके अधीन काम करनेका अवसर दिया। राज्य तो केवल नाज़ी पार्टीके कार्यक्रम और कार्यकलापको अपनी सम्प्रभुसत्ताका बल प्रदान करता था। फलत. राज्य और नाजी पार्टी एक रूप हो गये। किसी भी दूसरी पार्टीका अस्तित्व सहन नही किया जा सकता था क्योकि उससे राज्य कमजोर होता और शक्तियोका अपव्यय होता। जुलाई,१९३३ की विधिके अनुसार (१) 'जर्मनीमें केवल एक ही राजनीतिक दल है और वह है राष्ट्रीय सामाजिक जर्मन मजदूर दल, (२) जो कोई किसी दूसरे राजनीतिक दलकी स्थापना करनेका प्रयत्न करेगा या किसी अन्य राजनीतिक दलको कायम रखेगा उसे तीन वर्ष तक की कैदकी सजा दी जा सकेगी।' कोई आश्चर्यकी बात नही है कि हिटलर और उसके साथी लोकतन्त्र और लोकतन्त्रीय सस्थाओसे घृणा करते रहे। वे तो राष्ट्रीय एकता और सुदृढता चाहते थे। वे किसी प्रकारका विरोध सहन नही कर सकते थे।

नाज़ियोंने अपनी परम्पराओके अनुसार अपनी पार्टीका सगठन नेतृत्वके आधार पर किया था। नेताओकी एक शृखला पार्टीका सचालन करती थी। उसकी कार्यपद्धति नीचेसे ऊपरकी ओर न होकर ऊपरसे नीचेकी ओर थी। नाज़ियोंने जिस नेतृत्वकी कल्पनाकी थी वह व्यापक आधारवाला ऐसा लोकतत्रीय नेतृत्व नही था जो जनताकी इच्छाओका ध्यान रखता है और जनताके प्रति उत्तरदायी होता है। नाज़ियोके नेतृत्वका आधार शक्ति था। शक्तिसे ही नेतृत्वकी स्थापना की गयी थी और शक्तिसे ही उसे कायम रखा गया था। नाज़ी विचारधाराके अनुसार कुछ लोगोका जन्म नेता बननेके लिए होता है और शेष लोगोंका जन्म इन नेताओके पीछे चलनेके लिए होता है। हिटलर राज्य, सरकार और सेना सभीके प्रधान थे। वह जो कुछ कहे वही विधि था। शासनका सचालन करने वाले जितने लोग होते थे उन सबको हिटलर ही मनोनीत करता था। वे सब हिटलर के प्रति पूर्ण रूपेण वफादार थे। तूफानी दल और काली कुर्ती वालोका सगठन सैनिक ढगसे किया गया। शुरूमें इन दोनो सगठनोकी स्थापना नाज़ी पार्टीकी रक्षा करने और सार्वजनिक शान्ति व्यवस्था कायम रखनेके लिए की गयी थी। इन दोनो सगठनोके बल पर ही

नाजियोंने सत्ता हथियाई थी। नाजियोंके सत्तारूढ़ हो चुकनेके बाद अपने नेता हिटलर की रक्षा करना ही इन दोनों सगठनोंका मुख्य काम था। जर्मनी में आत्मघाती टुकड़िया (suicidal squads) भी थी जो राज्य और पार्टीके नाम पर हिटलर की आज्ञा पाते ही तुरन्त शरीर बलिदान करनेको तैयार थी। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें नाज़ीदलने अपना अधिकार जमा रखा था। प्रान्त और जिला अधिकारी नाज़ीदलके प्रमुख सदस्य होते थे। इन्हें गृह मंत्रालयकी सिफारिशों पर हिटलर नियुक्त करता था। पुराने ट्रेड यूनियनोंके स्थान पर मजदूरोंके बीच नाजियोंने अपने अड्डे बना रखे थे जो मजदूरोंमें जोरोंसे नाज़ीवादका प्रचार करते थे। मजदूर मोर्चा पूरा-पूरा नाज़ी संगठन बन गया था। नाज़ी एजेण्ट सब कहीं पाये जाते थे। परिवारोंकी अन्तरतम गोष्ठियों तकमें नाज़ी एजेण्ट मौजूद रहते थे। ऐसी घटनाएं कम नहीं होती थी जब नाज़ी उद्देश्यके प्रति उत्साह कम होने पर लड़के मा-बापके विरुद्ध या मा-बाप लड़कोंके विरुद्ध गवाही देते थे। देशके युवकोंका सगठन 'हिटलर युवक दल' नाज़ी पार्टीका शक्तिशाली सहायक था।

नाज़ी पार्टीके सत्तारूढ़ होने और मानव जीवनके सभी क्षेत्रों पर उसके छा जाने के फलस्वरूप जन-जीवनका निम्न कोटिका सैन्यीकरण हो गया। यद्यपि यह सैन्यीकरण जर्मन परम्परा और प्रवृत्तिके अनुकूल ही था। राजकुमार बुलो (Bulow) का यह कहना गलत नहीं था कि उनके देशवासी इस अर्थमें 'अराजनीतिक' हैं कि उनमें नागरिक अधिकारों और नागरिक साहसकी कमी है। जर्मन युद्ध क्षेत्रमें चाहे जितना साहसी हो पर उसमें अपने शासकोंके विरुद्ध खड़े होनेकी नैतिक शक्ति नहीं होती। वह शासकके सामने चुपचाप घुटने टेक देता है। युद्ध और आक्रमणमें जर्मन की मौन स्वीकृति और उनकी सन्दिग्ध राजनीतिक नैतिकताका भी यही कारण है। अपनी इसी कमजोरीके कारण जर्मन नागरिक बड़ी आसानीसे कड़े सवाद-नियंत्रण (censorship) को और बिना मुकदमा चलाये ही कारावासकी व्यवस्थाको स्वीकार कर लेता है। एक प्रसिद्ध जर्मन समाचार पत्रने १९३६ में लिखा था कि 'बन्दी शिविर किसी प्रकारसे भी अपमानकी बात नहीं हैं बल्कि वे संस्कृतिके अनुरूप हैं। इन शिविरोंमें उपेक्षित व्यक्तियोंको दृढ़ दयालुताके साथ सच्चे जीवन की शिक्षा दी जाती है।' जर्मनी में शत्रु देशोंके रेडियोको सुनना भारी अपराध माना जाता था। पर इसके विपरीत बर्लिनसे होनेवाली लार्ड हॉ हॉ की रेडियो पर चिल्लपों से ब्रिटेन में अंग्रेज अपना काफ़ी मनोरंजन करते थे।

नाजियोंके अनुसार राज्यकी प्रधान विशेषता शक्ति और ओज है, न्याय और नैतिकता नहीं। नाज़ीवाद इस जर्मन सिद्धान्त पर जोर देता है कि शक्ति ही न्याय है। फ़िक्टे (Fichte) ने १९वी सदीमें लिखा था कि राज्योंके बीच शक्तिका सिद्धान्त ही लागू होता है। नाज़ीवाद 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्तका प्रचार करता है और इसी पर अमल करता है। हिटलर के शब्दोंमें 'जिसे जीना है उसे युद्ध करना होगा। जो इस संसारमें युद्ध नहीं करना चाहता उसे जीनेका अधि-

कार नही है। यह कथन भले ही कठोर मालूम हो पर असलियत यही है।' मैनहीम सार्वजनिक स्कूलके प्रधानाध्यापक डा० क्रीक (Dr. Krieck) का कहना था कि 'विश्वविद्यालयोका काम सैनिक युद्ध सम्बन्धी विज्ञान पढ़ाना है, न कि पदार्थ-मूलक विज्ञान पढ़ाना।' राइखस्वेर के भूतपूर्व प्रधान जनरल फॉन सीक्ट (General Von Seeckt)ने लिखा था कि युद्ध मानव सफलताकी पराकाष्ठा है। युद्ध मानव जातिके इतिहास में विकासकी अन्तिम स्वाभाविक अवस्था है। युद्ध ही समस्त वस्तुओं का जनक है। जीवनके अस्तित्वका सबसे अधिक सरल तत्व युद्ध ही है। युद्धको रोकनेका प्रयत्न प्रकृतिकी विधिको रोकनेका प्रयत्न है। यह भयानक बात है।

युद्धके लिए जोरदार तैयारिया करते हुए भी नाजियोने ससारको यह विश्वास दिलाया कि वे शान्तिके परम प्रेमी है और वे जो भी सैनिक तैयारिया कर रहे है वे सबके हितके लिए है। हिटलर ने अपने दलकी एक बैठकमें १९३५ में कहा था कि हमारे व्यवहारको परखनेकी केवल एक ही कसौटी हो सकती है और वह है शान्तिके लिए हमारा महान अडिग प्रेम। नाजी सिद्धान्तके अनुसार शान्तिमूलक घोषणाएं शत्रुओको असावधान बनाये रखनेके लिए की जाती रही। पर जैसे ही हिटलर ने अपनेको सामरिक शक्तिका प्रदर्शन करने योग्य समझ लिया वैसे ही उसने पड़ोसी क्षेत्रोको एक न एक बहानेसे हडपना आरम्भ कर दिया।

शक्तिका उपयोग करनेके लिए आरम्भमें दो बहाने निकाले गये—वारसाई की सन्धि द्वारा किये गये अन्यायोको मिटाना और समस्त जर्मन जनताको एक झण्डेके नीचे एकत्र करना। नाजीवाद एक शुद्ध राष्ट्रीयतावादी आन्दोलनसे बदलकर बहुत जल्द सर्व जर्मनवादी (pan-Germanic) आन्दोलन बन गया।

विदेशोमें रहने वाले अल्पसंख्यक जर्मनोको उकसाया गया कि वे झगड़े पैदा करे और यह आवाज उठायें कि उनके साथ विदेशी मालिको द्वारा अमानुषीय व्यवहार किया जाता है ताकि नाजियोको सम्बन्धित प्रदेश हथिया लेनेका अवसर मिले। आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में यही हुआ।

जिन क्षेत्रोमें काफी सख्यामें जर्मन अल्पसख्यक थे उन्हे जर्मनी में सम्मिलित कर लेने पर भी जब हिटलर को सन्तोष नही हुआ तब वह ससारको अपने अधीन करनेमें लग गया। उसने नार्वे, डेन्मार्क, बेल्जियम, हालैण्ड, फ्रास, यूनान और बाल्कन राज्योको अपने कब्जेमें ले लिया।

द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होनेके महीनो पहले ही से हिटलर ने जोरदार शब्दों में यह शिकायत करना आरम्भ कर दिया था कि जर्मनी के जो उपनिवेश वारसाई सन्धिके अनुसार उससे ले लिये गये थे वे अभी तक उसे लौटाये नही गये है। वह बराबर यह माग करते रहे कि 'चुराई हुई सम्पत्ति वापस की जानी चाहिए।' हिटलर ने यह माग करते समय इस बातका विशेष ध्यान रखा कि चुराई हुई सम्पत्तिके असली मालिकोके अधिकारोकी यानी उन देशोके अधिकारोकी जिनसे पहले जर्मनी ने स्वय ये उपनिवेश छीने थे चर्चा तक न होने पावे। अपनी आक्रामक योजनाओको छिपाने

के लिए और अपने अनुयायियोंकी भावनाओंको उत्तेजित करने के लिए वह यह प्रचार करते रहे कि जर्मनोंको जीनेके लिए स्थान चाहिए तथा जर्मनी के शत्रु उसे चारों ओरसे घेर लेना चाहते हैं। शुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलनके रूपमें आरम्भ होकर नाजी आन्दोलनने शीघ्र ही सर्व जर्मनवादी आन्दोलनका रूप धारण कर लिया। और फिर यह एक बर्बर साम्राज्यवादी आन्दोलन और समारकी शान्तिके लिए एक संकट बन गया।

नाजी आन्दोलनका लक्ष्य जर्मन जातिको शक्तिशाली तथा ओजपूर्ण और जर्मन राज्यको युद्धके लिए ऐसा तैयार करना था कि वह सारे संसार पर हावी हो सके। इसीलिए नाजीवाद बहुत अधिक जातीयतावादी था। नाजियोंने यहूदियोंको सहज ही में बलि का बकरा बनाकर उन्हें उन सारी विपत्तियोंका उत्तरदायी ठहराया जिनका सामना जर्मनीको पिछले बीस वर्षोंमें करना पड़ा था। आर्य जातिकी महानताकी कल्पित गाथा गढ़ी गयी। तथाकथित अनार्य लोगोंको जर्मन भूमिसे बाहर खदेड़ देनेके लिए कठोर कार्रवाइयां की गयीं। जनतामें यहूदियों के विरुद्ध घृणा और क्रोध फैलानेके लिए अनेक एकदम झूठी बातोंका प्रचार किया गया। हिटलर ने एक बार कहा था: "आश्चर्य है! तुम जर्मन लोग जो समारमें सबसे उत्तम हो, तुम जिनकी नसोंमें जर्मन, नॉर्डिक आर्योंका रक्त बह रहा है, तुम दीन-हीन बना दिये गये हो, दरिद्र बना दिये गये हो! तुम्हें यह भी पता नहीं कल तुम्हें तुम्हारी रोटी कैसे मिलेगी! ऐसा क्यों है? क्या इसलिए कि तुम्हारी सेनाएं युद्धमें पराजित हो गयी थीं? नहीं, वे कभी पराजित नहीं हुईं, कभी नहीं। वे सब जगह विजयी रहीं थीं। पर जब अन्तिम विजय उन्हें मिलने वाली थी तब यहूदी मार्क्सवादी देश द्रोहियोंने हमारी पीठमें छुरा भोंक दिया।" जर्मनी की जनतामें यह कहावतें प्रचलित थीं; "यहूदी हमारा दुर्भाग्य है, हिटलर हमारा त्राता है।" यहूदियों और अपने राजनैतिक विरोधियोंके प्रति नाजियोंने निर्दयताके इतने घृणित कार्य किये कि जिन पर बीसवीं सदीमें विश्वास नहीं किया जा सकता।

नाजी सिद्धान्त यह था कि आर्य लोग सभ्यताके महान् निर्माता हैं और शेष संसार निम्न कोटिकी जातियोंसे भरा हुआ है। हर्मन गॉच (Hermann Gauch) का कहना था कि अनार्डिक या अनार्य लोग आर्यों या नॉर्डिक लोगों और पशुओंके बीचकी स्थितिमें हैं। वे वनमानुषसे कुछ ही अच्छे हैं। इन जातियोंका व्यक्ति पूर्ण मनुष्य नहीं है। वह पशु और मनुष्यके बीचका प्राणी है। इसलिए उसके लिए उप-मानव (sub-human) की उपाधि ही ठीक है। इन्हीं लेखकका यह भी कहना है कि 'यह सिद्ध नहीं किया गया है कि अनार्डिक लोग वनमानुषोंसे सहवास नहीं कर सकते।' शिक्षा अथवा बदले हुए वातावरणसे लाभ उठानेमें वे असमर्थ हैं।

नाजियोंको इस वैज्ञानिक सिद्धान्तसे कोई परेशानी नहीं हुई कि संसारमें सम्भवतः कहीं भी कोई जाति शुद्ध नहीं है। नाजियोंने इस तथ्यकी भी परवाह नहीं की कि जर्मन जनताका आधेसे कम हिस्सा ही नॉर्डिक है; शेषका अधिकांश अल्पाइन

जातिका है। जातीय शुद्धताके नाम पर जातीय मिलावट पर कड़ी रोक लगा दी गयी। उन सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियोंको बरखास्त कर दिया गया जिनमें स्वयं, या दो या तीन पीढ़ी तकके जिनके पूर्वजोंमें यहूदी रक्त था। वह सरकारी कर्मचारी भी नौकरीमें नहीं रह सकता था जिसकी पत्नीकी नसोंमें यहूदी रक्त होनेका सन्देह होता था।

इस अतिवादी जर्मन जातीयतावादके साथ ईसाई धर्मके एक विकृत रूप अर्थात् जर्मन ब्राण्ड के धर्ममें आस्था दिलायी गयी। और इस सिद्धान्तमें भी निष्ठा बैठायी गयी कि जर्मन स्त्रीका महत्त्व केवल इस बातमें है कि वह शुद्ध नॉर्डिक बच्चे पैदा करे और नॉर्डिक जातिकी सत्ता कायम रखे। कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो ही धर्मोंकी निन्दा की गयी। दोनों ही के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और नैतिक दासताके आरोप लगाये गये। प्रो० अर्न्सट बर्गमान (Prof. Ernst Bergmann) ने लिखा था: "जर्मन धर्मके मानने वाले हम लोग आज इस प्राचीन नॉर्डिक भारती जर्मन (Indo-Germanic) ज्योति-पुज प्रतिमाको अपनाते है और मानव जातिको हानि पहुचाने वाली ईसाई धर्म तथा झूठी और रुग्ण ईसाकी प्रतिमासे छुटकारा पाते है। नवीन जर्मन मूर्ति पूजावादका महापुरोहित स्वयं हिटलर ही है। वही सच्ची पवित्र आत्मा है। हिटलर एक है। ईश्वर भी एक है। हिटलर ईश्वर के समान है। हिटलर एक नवीन, एक महत्तर और अधिक शक्ति सम्पन्न ईसा है।" जर्मनी की ईसाई चर्चका मुह बन्द कर दिया गया। बन्दी शिविरोंके भयके कारण उन्हे अपना मुह खोलनेका साहस नही होता था।

हर फॉन पापेन (Herr Von Papen) का कहना था कि नाज़ीवादी योजनाके अनुसार 'माताओंको बच्चे पैदा करनेमें अपने आपको अर्पित कर देना चाहिए। पिताओंको अपने बच्चों का भविष्य सुन्दर बनानेके लिए युद्ध क्षेत्रमें लोहा लेना चाहिए।' 'लाल स्वस्तिक महिला सघ' की घोषणामें कहा गया था कि एक महिलाके लिए अपने बच्चोंको युद्धमें भेजनेसे बढकर और कोई ऊचा और सुन्दर सम्मान नही है। हिटलर के अनुसार, जो स्वयं अपनी मृत्युसे थोडे समय पहले तक अविवाहित था, 'महिलाओंकी शिक्षामें मुख्यत उनके शारीरिक विकास पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए। उसके बाद ही आध्यात्मिक महत्ताओं पर और सबसे बादमें मानसिक विकास पर जोर दिया जाना चाहिए। निश्चित रूपसे मातृत्व ही स्त्री शिक्षाका उद्देश्य है।'

कुछ नाज़ी लेखकोंने अधिकसे अधिक संख्यामें शुद्ध नॉर्डिक बच्चे पैदा करनेके लिए यौन अनैतिकताका खुले आम समर्थन किया था। डा० विलीबाल्ड हैन्शेल (Dr. Willibald Hentschel) ने लिखा था, "शुद्ध रक्तवाली एक हजार जर्मन लडकियोंको पकड लो। उन्हे एक शिविर में अलग रख दो। फिर शुद्ध रक्तवाले सौ जर्मन पुरुषोंको उनके बीचमें छोड़ दो। यदि इस प्रकारके एक सौ शिविर भी खोले जा सकें तो हमें एक साथ एक लाख शुद्ध रक्तवाले बच्चे मिल जायंगे।"

नाजी राज्यने अपनी कर नीति द्वारा तथा अन्य अनेक उपायोंसे अधिक बच्चे पैदा करनेको प्रोत्साहित किया। सन्तति निरोधको राष्ट्रके प्रति पाप माना जाता था। घर ही स्त्रियोंका स्वाभाविक स्थान था। पर बादमें आगे चलकर युद्धकी आवश्यकताओंके कारण स्त्रियोंको घरों तक ही सीमित न रखा जा सका। निस्सन्देह नाजीवादकी इन सब बातोंमें एक उच्च कोटिका आदर्श है, पर इसका मार्ग गलत है। बाहरी लोगोंके लिए इसमें भाईचारेकी भावना नहीं है। राज्य और समाज सम्बन्धी नाजी सिद्धान्त नेतृत्व, अनुशासन, अधिकार सत्ता, एकता, और कठोर एकरूपता पर बहुत जोर देता है। व्यक्तिवाद, उदारवाद, शान्तिवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद समाजवाद और साम्यवादका नाजीवाद घोर शत्रु है। नाजीवाद उदारवादको आरामतलब सिद्धान्त बतलाता है। उसका कहना है कि उदारवाद एक ऐसी विलासिता है जिसका बोझ जर्मनी की तरह जीवन-संग्राममें लगा कोई राष्ट्र नहीं उठा सकता। नाजीवाद मार्क्सवादी वर्ग युद्धको राष्ट्रकी आत्मिक एकताको नष्ट करनेवाला मानता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिको कायरका स्वप्न मानता है। बुख (Herr Buch) ने १९३७ में कहा था कि जो कोई भी व्यक्ति जर्मनी में महत्वपूर्ण काम करना चाहता है वह किसी भी ऐसे दलका सदस्य नहीं हो सकता जो अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धन में हो।

जब हम नाजियोंके राजनीतिक सिद्धान्तोंको छोड़कर उनके आर्थिक सिद्धान्तों पर विचार करते हैं तो हमें मालूम होता है कि इनमें भी राष्ट्रीय एकता और दृढ़ता पर उतना ही जोर दिया गया है। सार्वजनिक कल्याणको व्यक्तिगत स्वार्थोंसे ऊंचा स्थान दिया जाता है। जर्मनी को आर्थिक तौर पर आत्म-निर्भर बनानेके लिए आर्थिक स्वतन्त्रताकी नीतिका व्यवस्थित और नियोजित तौर पर अनुगमन किया गया है। शुद्ध पूंजीवाद और समाजवाद दोनोंको इसलिए अस्वीकार कर दिया गया है क्योंकि इनसे जनता दो परस्पर विरोधी और लड़नेवाले वर्गोंमें बट जाती है। जनताके कल्याणके नाम पर पूंजीपति और मजदूर दोनों पर राज्यका नियंत्रण रहता है। निगमित इटली के विपरीत जर्मनी में मालिकों और मजदूरोंके पृथक-पृथक संगठन नहीं थे क्योंकि नाजीवाद मालिकों और मजदूरोंके हितोंमें किसी प्रकारका संघर्ष नहीं मानता। मालिकों और मजदूरों दोनोंको मजदूर मोर्चेमें शामिल किया गया। मजदूर मोर्चेके दरवाजे अनार्योंके लिए बन्द रखे गये। बड़े उद्योगोंको कायम रहने दिया गया। पर इन उद्योगों पर राज्य ने अपना कठोर नियन्त्रण रखा। कोई भी जर्मनी से बाहर धन नहीं ले जा सकता था। राज्यकी अनुमतिसे ही नयी पूंजी प्राप्त की जा सकती थी। वित्त-मन्त्रीके अधीन काम करनेवाली अर्थ समितिका उद्योग व्यवसाय, बैंकों, बीमा, सार्वजनिक उपयोगिताओं और हस्त शिल्प कला पर नियन्त्रण था पर व्यक्तिगत उद्यम पर रोक नहीं लगायी गयी थी। १९३३ के बाद जर्मन सरकार देनके बैंकों पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखने लगी। वस्तुओंके आयात और निर्यातके लिए सरकारसे अनुमति लेनी होती थी। हड़तालों और ताला बन्दियों

पर रोक लगा दी गयी थी। 'सामाजिक सम्मान' के भंग होने पर अर्थात् मजदूरोंके आत्म सम्मानके विरुद्ध किये जाने वाले अपराधों पर विचार करने के लिए मजदूर न्यायालय कायम किये गये। वेतन और मूल्य निर्धारित किये गये। हिटलर छोटे व्यक्तियोंको अवसर देनेकी नीतिका समर्थक था। राजनीतिक ढांचेकी भांति सम्पूर्ण आर्थिक ढांचा भी नेतृत्वके सिद्धान्त पर सैनिक ढंगसे तैयार किया गया था। फ़ासिस्टवादी इटली की अपेक्षा नाज़ी जर्मनी में निजी सम्पत्ति और वैयक्तिक पहलकदमीके अधिकारों पर अधिक प्रतिबन्ध लगाये गये थे।

जर्मनी की बेकारीकी समस्याको हल करनेमें शस्त्रीकरणकी योजनाके साथ-साथ सार्वजनिक कार्योंकी योजनाने भी बड़ा काम किया। 'मकान बनाना, सड़कें बनाना और बेकार भूमिको उपयोगी बनाना' इस योजनाके मुख्य अंग थे। वहीं-वही २५ वर्षसे कम उम्रके नवयुवकोंको हटाकर उनके स्थान पर अधिक उम्रके लोगोंको रखा गया। उद्योगोंसे स्त्रियोंको निकाल कर पुरुषोंको स्थान दिया गया। एक विशेष आयकर भत्ता देकर बड़े-बड़े परिवारोंको आवश्यकतासे अधिक नौकर रखनेके लिए प्रोत्साहित किया गया।

खानेकी चीजोंको युद्धके अवसरके लिए सुरक्षित रखनेके हेतु भोजनकी अनेक सामग्रियोंकी राशनिंग की गयी। देशका नारा था "मक्खनके बजाय बन्दूक"। नाज़ी नीति पर प्रकाश डालते हुए गोयरिंग (Goering) ने १९३५ में कहा था कि हमें यह निश्चय करना था कि हम अपने विदेशी विनिमयका उपयोग धातुओंके लिए करें या अन्य चीजोंके लिए। या तो हम अपनी स्वतंत्रता देकर मक्खन खरीद सकते थे या मक्खन छोड़कर स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे। हमने मक्खन छोड़कर स्वतंत्रता प्राप्त करने का निश्चय किया। जर्मन जनता ने यह दिखला दिया है कि वह एक महान् उद्देश्यके लिए महान् बलिदान करनेको तैयार है। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि जर्मन जनताको वर्षों तक एक 'स्थायी युद्धकालीन अर्थ नीति' के अधीन रखा गया।

तीन बातोंने नाज़ी कार्यक्रमको कार्यान्वित करने और नाज़ी सिद्धान्त को पूरा करनेमें असाधारण काम किया। ये बातें थीं हिटलर का शक्तिशाली व्यक्तित्व, निर्दय संगठन और जोरदार प्रचार। एक क्रियाशील व्यक्ति होते हुए भी हिटलर एक स्वप्नदर्शी और रहस्यवादी व्यक्ति थे। वह अपनेको संसारका भाग्य विधाता मानते थे। अपनेको देशकी सेवा करनेके योग्य बनाये रखनेके लिए वह बहुत ही संयमपूर्ण जीवन बिताते थे। वह मांस नहीं खाते थे, शराब नहीं पीते थे और न धूम्र-पान ही करते थे। वह अपने अनुयायियोंसे भी ऐसे ही दृढ़ अनुशासन तथा जनता और राज्यके प्रति अनन्य निष्ठाकी मांग करते थे। वह स्वयं देशके लिए एक सूत्र थे, अपनी जबर्दस्त भाषण शक्तिसे वह जनताको अपने वशमें कर लेते थे। इसीलिए यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी कि जर्मनी की जनता हिटलर को देवता मानने लगी थी। एक तत्कालीन लेखकके शब्दोंमें "वह बात नहीं करता, भाषण देता है; वह विवाद नहीं करता, निर्णय देता है; वह चलता नहीं है, लम्बी छलांगे मारता है।'

सम्भवतः इतिहास हिटलर को आधुनिक युगका सबसे प्रसिद्ध दीवाना मानेगा।

नाजियोंने अपनेको सबल संगठन कर्ता और प्रवीण प्रचारक सिद्ध कर दिया। जर्मनी में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो कदम-कदम पर नाजियोंका प्रभाव महसूस न करता हो। बच्चे, नवयुवक, स्त्रियां, उद्योगपति, और मजदूर सभी का संगठन नाजीवाद का प्रचार करनेके लिए किया गया। गोयबेल्स, गोयरिंग और ली आदिके मुंहसे कोई बात निकलते ही वह पलक मारते-मारते समूचे देशके कोने-कोनेमें फैल जाती थी। हिटलर ने जो स्वयं ही प्रचार कलामें दक्ष थे, अपनी आत्मकथा 'मेरा संघर्ष' (*Mein kampf*) में सफल प्रचारके लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं: "जनता पर व्यापक प्रभाव, कुछ बातों पर अधिक जोर देना, उन्हीं बातों को बार-बार कहना, आत्म निश्चय और आत्म विश्वासके साथ निश्चयात्मक घोषणाओंके रूपमें भाषणकी रचना, प्रचारमें अधिकतम् परिश्रम, और फल प्राप्तिमें धैर्य"। हिटलर का सूत्र यह था कि "प्रचार का बौद्धिक स्तर जितना ही नीचा होगा, उतनी अधिक संख्यामें लोगोंको अपने पक्षमें करनेमें सफलता मिलेगी।" हिटलर के इस सूत्रको गोयबेल्स ने एक वाक्यमें इस प्रकार प्रकट किया है: "प्रचार सामान्यीकरण (simplification) की कला है।" जर्मन जनताके सीधेपनके सम्बन्धमें हिटलर ने लिखा है "जर्मन लोगोंको इस बातका पता ही नहीं है कि जनताका समर्थन प्राप्त करनेके लिए लोगोंको कितना धोखा दिया जाना चाहिए।" उनका कहना था कि प्रचारका सच्चाईसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका मत था कि "यदि एक झूठ बात साहसके साथ कही जाती है और वह बड़ी झूठ होती है तो लोग उसके बड़ी होनेके कारण ही उसमें विश्वास करने लगते हैं।"

भाषणमंच, विद्यालय, रंगमंच, सिनेमा, रेडियो, समाचार पत्र, कला, विज्ञान और साहित्य सभीको नाजीवादकी उद्देश्य-सिद्धिमें सहायक बनना पड़ा। स्कूलोंमें पढ़ाये जाने वाले प्रत्येक विषयको नाजी प्रचारका साधन बनाया गया। अंकगणितमें बमोंके आकार और उनकी विध्वंसक शक्तिकी नाप-तोल सिखायी जाने लगी। हिटलर की पूजा ही धर्म मानी जाने लगी। जब बच्चा भोजनके लिए स्कूलसे घर लौट कर आता था तब उसके मां बाप 'हेल हिटलर' (हिटलर की जय) कह कर उसका स्वागत करते थे। हर जर्मन प्रति दिन ५० से लेकर १५० बार तक 'हेल हिटलर' कहा करता था। प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चेके लिए किसी न किसी नाजी संगठनका सदस्य होना जरूरी था। प्रत्येक जर्मन बच्चे द्वारा पढ़ी जाने वाली नाजी पाठ्य पुस्तकमें हिटलर के प्रति निम्नलिखित बहुमूल्य भावना प्रकटकी गयी थी:

हमारे नेता, एडोल्फ हिटलर,
हम तुम्हें प्यार करते हैं,
हम तुम्हारे लिए प्रार्थना करते हैं,
हम तुम्हारी बात सुनना पसन्द करते हैं,

हम तुम्हारे लिए काम करते हैं,
तुम्हारी जय हो।'

३. नाजीवाद का मूल्यांकन (Estimate of Nazism).

इस शताब्दीके तीसरे और चौथे दशकमें नाज़ीवाद मानव-जातिके लिए उस समय तक सबसे बड़ा संकट बना रहा जब तक १९४५ में वह पूरी तरह पराजित न कर दिया गया। पराजित होने पर भी नये रूपोंमें पुनः जीवित और सक्रिय हो उठने की शक्ति उसमें है। नाजीवादके उत्थानसे पता चलता है कि निम्नतर भावनाओं और प्रेरणाओं का सहारा लेकर किस प्रकार साधारणतया बुद्धिमान जनताको गलत मार्ग पर ले जाया जा सकता है।

नाज़ीवादने युद्धसे थकी हुई जनताकी शिकायतोंका अधिकसे अधिक लाभ उठाया। उसने समस्त बुराइयोंके लिए उत्तरदायी बलि का एक बकरा खोज निकाला और जनताको बतलाया कि उसकी सारी तकलीफें किस प्रकार दूर की जा सकती हैं। नाज़ीवादका आरम्भ पूजीवादके अन्तिम रक्षकके रूपमें हुआ। एक बार सत्तारूढ़ हो जानेके बाद उसने पूजीवादसे स्वतन्त्र होकर काम करना आरम्भ किया। यही नहीं, उसने पूजीवादको समाप्त कर देनेके लिए कदम उठाये। उसने समाजवादी पद्धतियों और समाजवादी संस्थाओंका उपयोग किया—समाजवाद और सामाजिक न्यायकी स्थापनाके उद्देश्यसे नहीं अपितु सर्वाधिकारवादके आधार पर सैनिक राज्यकी स्थापना के लिए। आर्थिक आवश्यकताओं पर सैनिक सुविधाओंको प्राथमिकता दी गयी। एक व्यापक लोकप्रिय आधार पर तानाशाहीकी स्थापनाकी गयी। नेताको धरती पर देवता समझा जाने लगा। उदार परम्पराए होशियारीके साथ उखाड़ फेंकी गयी। जनता पर जादू का सा असर हुआ। बर्बरता और हिंसा दिन चर्या बन गयी। मानव इतिहासका सबसे बड़ा युद्ध छेड़ दिया गया। इस युद्धने लगभग ६ वर्षों तक प्रलय मचा दी। जाति सम्बन्धी कपोल गाथा कुछ इस प्रकार रची गयी कि यहूदी लोग समस्त बुराइयोंके मूर्तरूप माने जाने लगे। हैलोवेल के शब्दोंमें: 'नाज़ीवाद आध्यात्मिक, बौद्धिक, सामाजिक, और राजनीतिक अराजकताकी राजनीतिक अभिव्यक्ति' था।

नाज़ीवाद और फासिस्टवादकी इस तेजीके साथ हुए उन्नति और पतन—दोनों से बहुत-सी शिक्षाएं मिलती हैं। मनुष्य अब भी एक विचारवान प्राणी होनेकी स्थितिसे बहुत दूर है। इसलिए यह जरूरी है कि उसकी अन्धी लालसाओं और प्रेरणाओं पर समुचित नियन्त्रण रखा जाय। यदि उदारवाद घुटने टेक देता है, और जनताके नागरिक और राजनीतिक अधिकारोंकी रक्षा करनेमें डरता है तो वह फासिस्टवादके लिए दरवाजा खोल देता है। लोकतन्त्र राजनीतिक रूपमें तब तक व्यर्थ है जब तक कि वह आर्थिक और सामाजिक न्यायके रूपमें दैनिक उपयोगमें न लाया

जाय; उसके पीछे ईश्वर पर अडिग विश्वासका बल न हो, और उसे व्यक्ति रूपमें मनुष्यों पर और उनके ऊंचे भाग्य पर भी उतनी ही अडिग आस्था न हो।

अविवेकवाद और सैनिकवादकी प्रतिक्रिया भी देर-सबेर होती है। फासिस्टवादी मनोवृत्तिमें विचार और चिन्तनकी गुंजाइश नहीं है क्योंकि वह तो तर्क-वितर्ककी अस्वीकृति है। सैनिकवाद स्वयं अपना पतन शीघ्र लाता है। तलवार उठाने वाले तलवारके घाट स्वयं उतर जाते हैं। जातीय विद्वेषवाद एक बर्बरता है जिससे समाज यदि अपनी रक्षा चाहता है तो अब उसे अधिक सहन नहीं कर सकता। राजनीतिक और आर्थिक राष्ट्रीयता बड़ी तेजीसे समयके अनुपयुक्त होती जा रही है और इसलिए लोगोंको अब अपनेको विश्व लोकतंत्र और विश्व-नागरिकताकी नवीन धारणाओंके अनुकूल बनाना चाहिए।

Select Readings

Works of Karl Marx, Lenin, Trotsky, and Stalin.
Brady, R. A.—*The Political and Social Doctrine.*
Crossman, R. H. S.—*Government and the Governed.*
Drucker, B.—*End of the Economic Man.*
Finer, H.—*Mussolini's Italy.*
Florinsky, M. T.—*Fascism and National Socialism.*
Goad and Curry—*The Corporative State.*
Gobineau, Arthur Lee—*The Inequality of Human Races.*
Hallowell, J. H.—*Main Current in Modern Political Thought*—Chs. 11-17.
Hecker, J.—*The Communist Answer to the World's Needs.*
Hitler, A.—*Mein Kampf.*
Laski, H.—*Communism.*
Lightenberger, H.—*The Third Reich.*
Mussolini, B.—*The Political and Social Doctrine of Fascism.*
Oakeshott, M.—*The Social and Political Doctrines of Contemporary Europe.*
Roberts, S. H.—*The House that Hitler Built.*
Roucek, J. S. E.—*Twentieth Century Political Thought.*
Sabine, G. H.—*A History of Political Theory.*
Salvemini, G.—*Under the Axe of Fascism.*
Schuman, F. L.—*Hitler and the New Dictatorship.*
Sloan, Pat—*Russia Without Illusion.*
Strachey, J.—*The Menace of Fascism.*
Wilkinson E. & Conya, E.—*Why Fascism?*

२३

बहुलवाद

(Pluralism)

हमने पिछले अध्यायोंमें राज्यकी हीगेलवादी धारणाका अध्ययन किया था। हमने देखा था कि हीगेलवाद राज्यको सातवें आसमान तक उठा देता है। वह राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर' मानता है। हीगेलवाद के अनुसार राज्यको केवल सर्वोच्च वैधिक अधिकार ही नही वरन् सर्वोच्च नैतिक अधिकार भी प्राप्त है। इस हीगेलवादी सम्प्रभुताकी धारणाके विरुद्ध हालके वर्षोंमें स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई है। बहुलवाद इसी प्रतिक्रियाका परिणाम है। बहुलवादके अनुसार समाजमें अनेक संघ होते हैं जिनकी क्षमता और जिनके अधिकार सीमित होते हैं। राज्य ऐसे संघोंमें से केवल एक संघ है। इससे अधिक और कुछ नहीं।

हालके वर्षोंमें लोकतंत्रकी असफलता और लोकतन्त्रवादी संगठनोंकी स्वाभाविक दुर्बलताके फलस्वरूप बहुलवादी धारणाको और भी बल मिला। कुछ लोगोंका निश्चित मत है कि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व एकदम असन्तोषजनक है। इससे समाजके विभिन्न हितोका उपयुक्त प्रतिनिधित्व नही हो पाता और अल्पसंख्यक समुदाय निस्सहाय हो जाता है।

बहुलवादी धारणाको और अधिक बल इस तथ्यसे मिलता है कि अत्यधिक कार्य-भारसे दबे होनेके कारण वर्तमान राज्य-व्यवस्था अपने सारे कार्य ठीक प्रकार नहीं कर पाती। आधुनिक राज्य बहुत अधिक कार्य करनेका प्रयत्न करता है और फल स्वरूप उसकी कार्य कुशलता या क्षमता कम हो जाती है। जैसा वार्ड (Ward) ने कहा है: 'केन्द्र रक्तस्राव (haemorrhage) से और दीर्घ-बिन्दु रक्तहीनतासे पीड़ित होते हैं।' एक ओर केन्द्र अत्यधिक कार्य-बोझसे इतना दबा रहता है कि कार्य ठीक प्रकार नही हो पाते और दूसरी ओर ग्राम या नगर स्तर पर कोई कार्य ही करनेको नहीं होते। केन्द्रके इस कार्य-भारको कम करनेके लिए और समाजकी कार्य दक्षता बढ़ानेके लिए बहुलवादी विकेन्द्रीकृत राज्य (decentralised state) का समर्थन करते हैं। मैकाइवर (MacIver) का कहना है कि कि 'सर्वसामर्थ्य (omnipotence)' का मतलब अक्षमता और असामर्थ्य होता है।

अराजकतावादी और श्रमिक संघवादी राज्यका उन्मूलन चाहते हैं, पर बहुल-वादी ऐसा नहीं चाहते, यद्यपि उनके सिद्धान्तका तर्कसंगत परिणाम राज्यका उन्मूलन हो सकता है। बहुलवादी राज्यको बनाये रखनेको इच्छुक हैं पर उससे सम्प्रभुता

छीन लेना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि सम्प्रभुताका सिद्धान्त योरोपीय देशोंके गृह-युद्धका तर्कसंगत परिणाम था [उदाहरण के लिए बोदा (Bodin के समयका फ्रांस] और इसलिए सम्प्रभुता राज्यके विकासकी दिशामें एक स्वाभाविक कदम था। पर आज जबकि राज्य अपेक्षाकृत रूपमे गृह-युद्धसे मुक्त है और राष्ट्रीय कल्याण पर जोर दिया जा रहा है, तब एकात्मक सिद्धान्तकी अपेक्षा बहुलवादी सिद्धान्त ही अधिक तथ्यसंगत है। ए० डी० लिण्ड्से (A. D. Lindsay) के अनुसार यदि हम तथ्योंको देखें तो स्पष्ट मालूम होता है कि राज्यकी सम्प्रभुताके सिद्धान्तकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) का कहना है कि "कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्प्राण और निष्फल नहीं हो गया है जितना कि सम्प्रभु राज्यका सिद्धान्त।" क्राब (Krabb) की सम्मतिमें "सम्प्रभुताकी धारणाको राजनीतिशास्त्र मे निकाल दिया जाना चाहिए।"

राज्यकी सम्प्रभुता पर निम्नलिखित तीन प्रकारसे आक्रमण किया जाता है :

(१) राज्य समाजके अन्य आवश्यक सघोंसे न तो श्रेष्ठ है और न उनसे पहले का है। इसलिए सम्प्रभुताका विभाजन होना चाहिए और सत्ता सघोंमें बट जानी चाहिए। (२) जहा तक एक राज्यका अन्य राज्योंसे सम्बन्ध है वह न तो स्वतन्त्र है और न उसे स्वतंत्र होना चाहिए। (३) राज्य विधिके ऊपर नहीं है, विधि राज्यके ऊपर और राज्यसे करीब-करीब स्वतंत्र है।

(क) राज्यकी सम्प्रभुता और संघकी स्वायत्तता
(State Sovereignty and Group Autonomy)

बहुलवाद मूलतः राज्यकी परम निरंकुशता या उसके सर्वव्यापी दावोंके विरुद्ध विद्रोह है। हीगेलवादी, फासिस्ट और दूसरे सर्वाधिकारवादी यह दावा करते हैं कि राज्य सिर्फ वैधिक तौर पर ही नहीं, नैतिक तौर पर भी सर्वोपरि है। वे राज्यको सर्वशक्तिमान मानते है। बहुलवाद इस दृष्टिकोण पर आपत्ति करता है। बहुलवाद का कहना है कि उन विविध संगठनोंको, जो मानव जीवनके लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि राज्य, राज्यके साथ समानता मिलनी चाहिए। उनका कहना है कि मनुष्यके व्यक्तित्वके बहुतसे पहलू होते है और हर पहलूकी अभिव्यक्ति भिन्न मार्गमें होती है। एफ० डब्लू० कोकर (F. W. Coker) के शब्दोंमें, "बहुलवादियोंका दावा है कि मनुष्यकी सामाजिक प्रवृत्तिकी अभिव्यक्ति विविध गुटोंमें होती है। इन गुटोंके लक्ष्य धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, आदि होते है। इनमें से कोई भी एक गुट, नैतिक या व्यावहारिक तौर पर किसी दूसरे गुटसे श्रेष्ठ नहीं।" बहुलवादी दृष्टिसे राज्य न तो सबको समेट लेने वाला है, न सर्वशक्तिमान है और न सर्वव्यापी ही है।

बहुलवादकी उत्पत्ति मध्य युगकी श्रेणी व्यवस्थामें हुई थी। उस समयकी अव्यवस्थित परिस्थितियोंमें व्यापारियों और शिल्पियोंके संघोंको स्वायत्तशासनके पर्याप्त अधिकार मिल गये थे और उन्होंने निगमोंका स्वरूप प्राप्त कर लिया था। पर राष्ट्रीय राज्यतन्त्रोंका उदय होने पर इन सघोंका पतन होने लगा। जर्मनीमें गीअर्क (Gierke) और ब्रिटेन में मेटलैण्ड (Maitland) को आधुनिक समयमें बहुलवादी भावनाओंका जन्मदाता माना जा सकता है। इन दोनों ही लेखकोंका कहना है कि समाजके स्थायी सघोंकी अपनी चेतना और अपनी इच्छा होती है। और संघोंकी यह चेतना और इच्छा सघोंके सदस्योंकी चेतना और इच्छासे भिन्न होती है। उनका कहना है कि प्रत्येक सामुदायिक संघका अपना व्यक्तित्व होता है और विधियोंको बनाने और विस्तृत करनेमें उनका हाथ रहता है। यह सही है कि विधियोंके बनानेमें राज्यका हाथ प्रधान रूपसे रहता है पर राज्य अकेले ही विधि नही बनाता। यद्यपि ये दोनों ही लेखक राज्यकी चरम सम्प्रभुताको अस्वीकार करते हैं, पर वे राज्यकी उच्चतर वैधिक स्थितिको अस्वीकार नही करते। समाजके विभिन्न संघोंमें समन्वय और सन्तुलन स्थापित करनेके लिए वे राज्यको बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

संघोंके जिस 'वास्तविक व्यक्तित्व' के सिद्धान्तकी चर्चा ऊपर की गयी है वैसे ही सिद्धान्तका समर्थन फिगिस (Figgis) ने धर्म सघ (church) के बारेमें किया है। उनका कहना है कि धर्म सघका अस्तित्व राज्यकी कृपा पर निर्भर नही करता। धर्म संघमें 'एक व्यक्तिकी भांति ही आत्मविकासकी शक्ति' होती है। उसका निगमित व्यक्तित्व न तो राज्य द्वारा दिया जाता है और न राज्य द्वारा छीना जा सकता है। राज्य तो केवल इस व्यक्तित्वको स्वीकार भर कर लेता है। फ़िगिस का कहना है कि "मानव समाज व्यक्तियोंका कोई ऐसा बालूका ढेर नही है जो केवल राज्यके माध्यमसे ही एक दूसरेसे मिले हुए हों; बल्कि समाजमें तो नीचेसे लेकर ऊपर तक क्रमशः एकके बाद एक अनेक समूह होते हैं।" इसलिए फिगिस के कथनानुसार "सम्प्रभुताका परम्परागत सिद्धान्त एक आदरणीय अन्धविश्वास मात्र है।" उनकी विचारधारा यह है कि समाजमें विभिन्न कार्य-क्षेत्र होते हैं और इनमें विभिन्न संघोंको स्वतंत्र रूपसे बिना किसी बाहरी हस्तक्षेपके काम करना चाहिए।

इसी प्रकारके दावे एम० पॉल बोकूर (M. Pual Boncour) और डर्कहाइम (Durkheim) ने समाजके व्यावसायिक और आर्थिक सघोंकी ओरसे किये हैं। एफ० डब्लू० कोकर (F.W.Coker) के अनुसार पॉल बोकूर का दृष्टिकोण यह है कि राष्ट्रीय सम्प्रभुताके अतिरिक्त, जो कि राष्ट्रके सार्वजनिक हितके मामलोंको तय करती है, कुछ विशिष्ट सम्प्रभुताएं भी होनी चाहिएं जो उन मामलोंको तय करें जिनमें किसी संघका कोई विशिष्ट स्वार्थ, बहुमतके किसी दूरस्थ स्वार्थकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो। इसी प्रकार डर्कहाइम चाहते हैं कि प्राचीन व्यावसायिक सघको एक मान्य सामाजिक संस्थाके रूपमें फिरसे जीवित किया जाय। वह चाहते

है कि व्यावसायिक संघोंको राजनीतिक प्रतिनिधित्वका आधार और आर्थिक नियमन का स्रोत बनाया जाय। इसका कारण वह यह बताते हैं कि आर्थिक जीवन इतना विशिष्ट (specialised) हो गया है कि राज्य उस तक नही पहुंच सकता।

हाल ही में एच० जे० लास्की (H. J. Laski) ने एक ऐसी व्यवस्थाका समर्थन किया है जिसमें ऐसे संघोको स्वायत्त शासनके पूर्ण अधिकार प्राप्त हो और राज्यको एकमात्र अनिवार्य संघ और मनुष्यके सार्वजनिक हितोंका एकमात्र प्रतिनिधि न माना जाय। उनका सामान्य दृष्टिकोण यह है कि "असीमित और अनुत्तरदायी राज्यका सिद्धान्त मानवताके हितोंसे मेल नही खाता" और राज्यकी सम्प्रभुता भी उसी प्रकार समाप्त हो जायगी जिस प्रकार राजाओंके दैवी अधिकार समाप्त हो गये हैं। वह चरम सम्प्रभुताके सिद्धान्तको वैधिक ढकोसला और अर्थहीन धारणा मानते हैं। लास्की राज्यको मजदूर संघके स्तर पर तो नही उतार लाने पर उनकी यह सम्मति अवश्य है कि सम्प्रभुता अनेक संघोंमें बंट जानी चाहिए। राज्यको विभिन्न संघोंमें समन्वय स्थापित करनेका अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए। राज्यको सर्वाधिकारी बननेका कोई हक नही है। शक्तियोंका समन्वय होना चाहिए। नीचेसे लेकर ऊपर तक एकके ऊपर दूसरी शक्तिका जाल नही बिछना चाहिए। अधिकार सत्ता संघात्मक होनी चाहिए।

जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) और अन्य श्रेणी समाजवादियोंका विश्वास है कि समाज का विभाजन उपभोक्ताओ और उत्पादकोंमें हो जाना चाहिए। वे इन दोनोंकी सह-सम्प्रभुता (co-sovereignty) का समर्थन करते हैं। उत्पादकों को राष्ट्रीय संघोंमें संगठित होना चाहिए और इन संघोको न केवल प्रशासनीय बल्कि विधायी (legislative) अधिकार भी होने चाहिए। ऐसी हालतमें न्याय-पालिकाका कर्त्तव्य यह होगा कि वह राज्यकी विधिकी और संघोंकी उन विधियोंकी व्याख्या करे जिन्हें उपभोक्ताओं और उत्पादकोंकी ससदें क्रमशः बनायेंगी। इन दोनोंके बीच होने वाले संघर्षोंको एक समन्वय संस्था (coordinating agency) तय करेगी। इस संस्थामें सभी आवश्यक संघोंके प्रतिनिधि रहेंगे। इसका स्वरूप संसदके दोनो सदनोकी एक संयुक्त समितिके समान होगा। इस समन्वय संस्थाको दबाव डालनेकी शक्ति और न्यायपालिका तथा विधि और पुलिसके सारे अधिकार प्राप्त होंगे। ऐसी स्थिति उस व्यक्तिके लिए तर्कसंगत नही जान पड़ती जो राज्यकी सम्प्रभुताको बिल्कुल ही अस्वीकार करता है। वार्ड (Ward) का यह कहना ठीक है कि "ग्रिगिम की भांति ये श्रेणी समाजवादी भी अधिकार सत्ताको अस्वीकार नहीं करते। वे तो अधिकार सत्ताके ऐसे विभाजनको अस्वीकार करते हैं जिसके कारण उन संघोंको असुविधा होती है जिनमें उनकी रुचि होती है (८०: १२३-२४)।"

मैकाइवर जैसे समकालीन विचारकोंके विचारोंमें बहुलवादको स्पष्ट छाप है। मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'माडर्न स्टेट' में इसी सुपरिचित बहुलवादी धारणाका समर्थन किया है कि राज्य समाजकी अन्य अनेक संस्थाओंमें से केवल एक संस्था है,

यद्यपि इसके कृत्य अद्वितीय ढंगके हैं। राज्यमें वे सभी अनिवार्य विशेषताएं होती हैं जो एक निगममें पायी जाती हैं। उसकी सीमाएं, उसके अधिकार और उसके उत्तरादायित्व सभी निश्चित होते हैं (५६:४७३)। निगमके रूपमें राज्यके भी अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। राज्यके ये अधिकार और कर्तव्य उसे एक इकाईके रूपमें ही प्राप्त हैं (५६:४७३)। समाजके अन्य संघ, समाजके लिए उतने ही स्वाभाविक होते हैं जितना कि स्वयं राज्य। इसलिए राज्यको अन्य संघोंका निर्माता नहीं माना जा सकता। निस्सन्देह राज्यका अस्तित्व व्यक्तियों और संघोंके सार्वजनिक कल्याणके लिए है पर सभी सार्वजनिक हित राज्यकी सीमाके भीतर नहीं आते (५६ ४७३)। हजारों सांस्कृतिक और आर्थिक संघोंके आंशिक हित भी सार्वजनिक हितके अंग हैं (५६:४७६)। 'सामाजिक सम्बन्धोंकी पूरी व्यवस्थामें एकता स्थापित करना ही राज्यका असली कार्य है।'

मैकाइवर आगे चलकर सम्प्रभुताकी वैधिक धारणाको झूठी और राज्यकी प्रकृति की व्याख्या करनेमें असमर्थ बतलाते हैं। उनका कहना है कि इस धारणामें पहली त्रुटि यह है कि यह धारणा औपचारिक है। वैधिक तौर पर राज्य असीमित है क्योंकि वह स्वयं विधि निर्माणका स्रोत है। पर यही बात धार्मिक संघ (church) पर भी लागू होती है क्योंकि यह भी धार्मिक विधियोंका स्रोत है। सम्प्रभुताकी वैधिक धारणामें दूसरी त्रुटि यह है कि इसमें शक्ति और अधिकारकी तो दुहाई दी जाती है पर सेवा की नहीं। सेवा ही राज्यका उद्देश्य है; शक्ति तो सेवाका साधन है। राज्यकी सेवा असीमित नहीं है और इसलिए असीमित सम्प्रभुताकी धारणा "एक खतरनाक झूठ" है।

ए० डी० लिण्ड्से (A. D. Lindsay) के अनुसार "निगमों पर राज्यका नियंत्रण तभी और उतना ही हो सकता है जब और जितना नियंत्रण रखनेका अधिकार राज्य के नागरिक राज्यको देनेको तैयार हों।" राज्यका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, क्योंकि निगमोंके सम्बन्धमें 'संघ चेतना', 'संघ इच्छा' अथवा 'संघ व्यक्तित्व' की बात अर्थहीन है। राज्य तो 'संगठनोंका संगठन' है। अन्य संघोंकी सदस्यता अनिवार्य नहीं होती। जो लोग इन संघोंके सदस्य बनना चाहते हैं वे सदस्य बनते हैं, जो नहीं बनना चाहते वे नहीं बनते। ये संघ सबको अपना सदस्य बनाते भी नहीं। पर राज्यकी सदस्यता अनिवार्य और व्यापक होती है। कोई भी व्यक्ति राज्यका सदस्य होनेसे इन्कार नहीं कर सकता। पर लिण्ड्से का कहना है कि अनिवार्य और व्यापक सदस्यता की यह विशेषता सम्प्रभु राज्यके सिद्धान्तके औचित्यको सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त नहीं है।

अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) संघोंके 'वास्तविक व्यक्तित्व' की धारणाको अस्वीकार करते हैं। पर वह विधि-वेत्ताओंके इस दावेको स्वीकार करते हैं कि राज्यसे पहले समाजमें स्थायी संघ मौजूद थे। इन संघोंमें से हर संघका अपना निगमित स्वरूप और कार्यक्षेत्र था। बार्कर (Barker) का कहना है कि 'जीवनकी एक

सामान्य और व्यापक व्यवस्था होने के नाते राज्यके लिए यह जरूरी है कि वह अपने और संघोंके सम्बन्धोंको, संघोंके पारस्परिक सम्बन्धोंको तथा संघों और उनके सदस्योंके बीचके सम्बन्धोंको सन्तुलित रखे। अपनी व्यवस्थाको कायम रखनेके लिए राज्यके लिए यह जरूरी है कि वह अपने और संघोंके बीचके सम्बन्धको सुरक्षित रखे। विधिके सम्मुख संघोंकी समानता कायम रखनेके लिए संघोंके पारस्परिक सम्बन्धोंको सन्तुलित रखना जरूरी है। व्यक्तिको संघोंकी निरंकुशतासे बचानेके लिए संघों तथा उनके सदस्योंके सम्बन्धोंको सन्तुलित रखना जरूरी है।" राज्यकी व्याख्या संघोंके संघ अथवा समुदायोंके समुदाय के रूपमें की गयी है।

मूल्यांकन (Evaluation)

बहुलवादमें सत्यका बहुत बड़ा अंश है यद्यपि इसे बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहा गया है। राज्यकी अत्यधिक प्रशंसाके विरुद्ध यह एक उचित प्रतिक्रिया है। राज्यकी वैधिक प्रधानता चाहे जितनी हो पर उस पर नैतिक प्रतिबन्ध होने ही चाहिए। गेटेल (Gettell) का कहना है कि सम्प्रभुता सम्बन्धी ऑस्टिन के सिद्धान्तकी कठोर और हठवादी विधिवादिताके विरुद्ध बहुलवादी सिद्धान्त एक सामयिक प्रतिक्रिया है। "बहुलवादी अराजनीतिक संघोंके बढ़ते हुए महत्त्वकी ओर, राज्य द्वारा इन संघोंके उचित कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेपके खतरेकी ओर तथा ऐसे संघोंको राजनीतिक व्यवस्थामें अधिक मान्यता देनेकी आवश्यकताकी ओर संकेत करते हैं। सरकारकी संघात्मक व्यवस्था और विधायिकाओंमें संघ प्रतिनिधित्वके जो सुझाव बहुलवादियोंने दिये हैं वे शासन-व्यवस्थाके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।"

कुमारी फॉलेट (Miss Follett) ने अपनी प्रशंसनीय पुस्तक 'द न्यू स्टेट' में बहुलवादकी निम्नलिखित अच्छाइयाँ बतायी हैं: (१) बहुलवादियोंने राज्यके सम्प्रभुता-सम्पन्न सिद्धान्तको निराधार सिद्ध कर दिया है, (२) वे संघके महत्त्वको और इस तथ्यको स्वीकार करते हैं कि हमारे आजके संघजीवनकी विविधतामें एक ऐसी महत्ता है जिसे राजनीतिक तौर पर मान्यता प्रदानकी जानी चाहिए, (३) वे स्थानीय जीवनको फिरसे जीवित करनेकी माँग करते हैं, (४) उनका कहना है कि राज्य और उसके अंगोंके हित हमेशा एकरूप नहीं होते, (५) बहुलवाद जनताके असंगठित समूह रूपकी समाप्तिका श्रीगणेश है और (६) बहुलवाद व्यक्तिके निजी व्यक्तित्वके स्वरूपको, उसके दलके सदस्यके स्वरूपको और उसके राज्यके सदस्यके स्वरूपको सही-सही बतानेका प्रयत्न कर रहा है (It has seized upon the problem of identity, of association, and of federalism.)।

इन गुणोंके होते हुए भी हम राजनीतिक बहुलवादको निम्नलिखित कारणोंसे स्वीकार नहीं कर सकते:—

(१) बहुलवादका तर्कसंगत परिणाम अराजकतावादी व्यक्तिवाद है यद्यपि

बहुलवादी इसे स्वीकार नहीं करते। सम्प्रभुताको विभाजित करनेका अर्थ उसे नष्ट करना है। सम्प्रभुताका विभाजन करनेके बाद भी अनेक बहुलवादी, राज्यको समन्वय और सन्तुलन स्थापित करनेका काम सौंपनेके इच्छुक हैं। हमारा कहना है कि इस कार्यको सन्तोषजनक ढगसे करनेके लिए राज्यको वैधिक प्रधानता प्राप्त होनी चाहिए। सर्वोच्च नियन्त्रण शक्तिके बिना राज्य अपने और दूसरे संघोंके सम्बन्धोको, सघोंके पारस्परिक सम्बन्धोको तथा संघो और उनके सदस्योंके सम्बन्धो को सन्तुलित नहीं रख सकता। यदि राज्यको वास्तवमें सघोका संघ तथा समुदायोका समुदाय बनना है और समाजके विभिन्न सघोंके बीच समन्वय और सन्तुलन कायम रखनेका अपना कर्तव्य ठीक प्रकार निभाना है तो निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं: (क) राज्यको किसी ऐसी संस्था या संघका अस्तित्व सहन नहीं करना चाहिए जो सार्वजनिक हित या नीतिके विरुद्ध हो, (ख) राज्यको सभी संघों या संस्थाओंके साथ समान व्यवहार करना चाहिए और किसी भी सघको उसकी भारी सदस्यताके कारण या उसकी दबाव डालनेकी क्षमताके कारण विशेष रियायतें नहीं देनी चाहिएं, (ग) उसे किसी भी सस्था या सघको ऐसे कार्य नहीं करने देने चाहिए जिनका भार राज्यने या अन्य संघो ने अपने ऊपर ले रखा हो या जो उस संस्थाके घोषित ध्येयोंके विपरीत हो। उदाहरणके लिए किसी मजदूर संघको राजनीतिक कर लगानेकी अनुमति नहीं होनी चाहिए। न किसी धार्मिक सस्थाको राजनीतिक कार्य करनेकी अनुमति दी जानी चाहिए। इस सबका निष्कर्ष यह है कि सरकारके विभिन्न अगों पर विधि द्वारा चाहे जो प्रतिबन्ध लगाये जाय पर राज्यको अन्तिम और चरम वैधिक अधिकार सत्ता प्राप्त होनी चाहिए।

(२) बहुलवादी यह मान लेते हैं कि समाजके भीतर विभिन्न सघ या वर्ग परस्पर समानान्तर होते हैं और उनके कृत्य परस्पर नहीं टकराते। यदि उनका ऐसा मान लेना सही होता तो सम्प्रभु राज्यकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर सामाजिक जीवनमें कृत्योंका अतिक्रमण, स्वार्थों और निष्ठाओंमें सघर्ष रोजकी घटनाएं है। ऐसी परिस्थितिको ठीक करनेके लिए ही हमें राज्यकी आवश्यकता होती है। श्रेणी समाजवादी यह भूल जाते हैं कि आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नोको एक दूसरेसे एकदम अलग नहीं किया जा सकता। राजनीतिक ससद और राष्ट्रीय आर्थिक कांग्रेसमें 'सहसम्प्रभुता' (co-sovereignty) का समर्थन करते हुए भी श्रेणी समाजवादी राज्य तथा समस्त व्यावसायिक सघोंके प्रतिनिधियोंकी एक सयुक्त सस्था स्थापित करते हैं। और ऐसा करनेसे उन्हें एकात्मक अधिपतिकी उस धारणाकी शरण लेनी ही पड़ती है जिससे वे इतनी घृणा करते हैं। बहुलवादी हमें इस बातका भी कोई सकेत नहीं देते कि वे किस आधार पर यह निर्णय करेंगे कि कौन सघ आवश्यक है और कौन अनावश्यक है और किस आधार पर उन्हे प्रतिनिधित्व दिया जायगा।

(३) जिस एकात्मवादी शत्रु पर बहुलवादी हमला करते है वह अधिकतर काल्पनिक ही है। हम हीगेल के निरकुशतावादकी वकालत नहीं करते पर आज दिन

बहुत ही कम एकात्मवादी हीगेल के अनुयायी हैं। हीगेल के अनुयायियोंको छोड़कर सम्प्रभुताके परम्परागत समर्थकोंमें से कोई भी राज्यके सर्वसमर्थ होनेका दावा नहीं करता। वे लोग इस बातको स्वीकार करते हैं कि राज्यकी वास्तविक शक्ति सफल अवज्ञाकी सम्भावनाओंसे और नैतिक तथा बौद्धिक प्रतिबन्धोंसे सीमित है। पर इस स्वीकृतिसे बहुलवादियोंको यह निष्कर्ष निकालनेका अधिकार नहीं मिल जाता कि राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न नहीं है और व्यक्तिकी निष्ठा पर उसका उच्चतर अधिकार नहीं है। गेटेल (Gettell) का यह कहना ठीक है कि राज्य अपनी चरम वैधिक प्रभुताका बलिदान किये बिना भी नैतिक उत्तरदायित्वोंको स्वीकार कर सकता है, अपना कार्यक्षेत्र सीमित कर सकता है, स्थानीय विकेन्द्रीकरण और वर्ग-स्वार्थोंके प्रतिनिधित्व का अवसर दे सकता है। बोदाँ, हॉब्स, रूसो आदि परम्परागत सिद्धान्त-वादियोंमें से कोई भी इस बातका दावा नहीं करता कि राज्यकी सत्ताकी आलोचना करना, या उसको चुनौती देना, उसकी अवज्ञा या उसका विरोध करना अनैतिक, अधार्मिक, तर्कहीन अथवा असामाजिक या अव्यावहारिक ही है (एफ० डब्लू० कोकर)।' वे केवल इतना ही कहते हैं कि राज्यका अस्तित्व विधियोंको बनाने और उन्हें लागू करनेके लिए है। राज्य अपनी ही तरहके किसी दूसरे अधिकारीके सम्मुख समर्पण करके सम्प्रभु नहीं रह सकता। वे राज्यको अनुत्तरदायी नहीं बतलाते। वह केवल अपनी ही तरहके किसी दूसरे अधिकारीके सम्मुख उत्तरदायी नहीं है। "संक्षेपमें विधिनिर्माता होनेके नाते राज्य अपने क्षेत्रके अन्य सभी सामाजिक संघोंसे उच्च तथा श्रेष्ठ है।"

कोकर के अनुसार एकात्मवादी सिद्धान्तकी मुख्य बातें ये हैं:

(क) एक ऐसा संगठन आवश्यक है जो व्यक्तियों और संघोंके पारस्परिक सम्बन्धोंमें एकता और समन्वय कायम कर सके।

(ख) इस संगठनको यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपने विशिष्ट क्षेत्रके लोगोंको संगठनमें शामिल होनेके लिए विवश कर सके।

(ग) उसे अपने आदेशोंका पालन करानेका अधिकार होना चाहिए।

(घ) किसी एक क्षेत्रमें इस प्रकारका संगठन एकसे अधिक नहीं हो सकता। उक्त सभी धारणाएं इतनी विचारपूर्ण हैं कि इनका कोई गम्भीर विरोध नहीं हो सकता।

(४) राज्यकी एक विशेषता यह है कि उसकी सदस्यता अनिवार्य और व्यापक होती है अर्थात् राज्यका सदस्य होना हर व्यक्तिके लिए अनिवार्य है। डा० लिन्ड्से (Dr. Lindsay) इस विशेषताको स्वीकार करते हैं। पर उनका कहना है कि इतने से ही सम्प्रभु राज्यका औचित्य सिद्ध नहीं होता। यदि पिछले अनुच्छेदमें की गयी सम्प्रभुताकी व्याख्या सही है तो हम इस स्थितिका औचित्य सही समझ पाते। राज्य ही एक ऐसा संघ है जो सबको समेट लेता है। वह सभी संघोंके ऊपर है। केवल उसे ही शक्तिका उपयोग करनेका अधिकार है। राज्य समाजके सदस्योंके

सर्वतोमुखी हितोंकी रक्षा करता है, जबकि अन्य संघ केवल आंशिक हितोंकी ही रक्षा करते हैं। राज्य ही निष्ठाओंके संघर्ष और अव्यवस्थाके बीच व्यवस्था स्थापित कर सकता है। कुमारी फॉलेट (Miss Follett) का कहना है कि राज्य एकता स्थापित करनेका एक साधन है। राज्य व्यक्ति पर केवल उन संघोंके माध्यम से ही काम नहीं करता जिनका वह सदस्य होता है बल्कि प्रत्यक्ष रूपसे भी काम करता है। कुमारी फॉलेट के महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें: "राज्य संघोंका संगठन नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी भी संघ या संघोंके समूहमें सम्पूर्ण व्यक्तिका समावेश नहीं होता। और आदर्श राज्य व्यक्तिकी पूर्णताकी मांग करता है.....व्यावसायिक संघकी सदस्यताकी अपेक्षा नागरिकता कहीं बड़ी चीज है। राजनीतिमें हमें पूर्ण मनुष्यकी आवश्यकता होती है। आदर्श संगठित राज्य सबको हजम कर जाने वाला नहीं होता। वह सबको समेटने वाला होता है। सच्चे राज्यको अपने भीतर सभी हितोंका समावेश करना चाहिए। राज्यको हमारी अनेक निष्ठाओंको लेकर उन्हें एक कर देना चाहिए। हमारी आत्माका निवास राज्यमें है।" राज्यकी अद्वितीय विशेषताओंकी यह प्रशंसा एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसका झुकाव बहुलवादकी ओर हो, सचमुच बहुत ही अर्थपूर्ण है।

(५) केवल कुमारी फॉलेट ही नहीं बल्कि अनेक बहुलवादी सम्प्रभुताहीन राज्यके बहुलवादी आदर्शको स्पष्ट तौर पर स्वीकार नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि वे इस बातके इच्छुक तो हैं कि सभी आवश्यक संघोंको समानता दी जाय। पर परिस्थितियां उन्हें राज्यको प्रधान स्थान देनेके लिए बाध्य करती हैं (F. W. Coker)। इस प्रकार हम देखते हैं कि गिअर्क (Gierke) और मेटलैण्ड (Maitland) संघोंको वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य अन्य सामाजिक संस्थाओंसे ऊपर है।

पॉल बॉकर (Paul-Boncour) राज्यको सार्वजनिक हितोंका और राष्ट्रीय एकताका एकमात्र प्रतिनिधि मानते हैं। यद्यपि वह अन्य संघोंको सम्प्रभु बताते हैं पर वह उन संघोंको राज्यके अधीन स्थान देते हैं। वह चाहते हैं कि राज्य सन्तुलन और समन्वय स्थापित करनेवाला साधन बने। वह इस बात पर विशेष जोर देते हैं कि राज्यका कर्तव्य है कि वह किसी भी सम्प्रभु संघको जनता या अन्य संघोंके साथ अथवा अपने सदस्योंके साथ किसी प्रकारका अत्याचारपूर्ण व्यवहार न करने दे।

इसी प्रकार फिगिस (Figgis) राज्यको समुदायोंका समुदाय मानते हैं और उसे समन्वय और सन्तुलन स्थापित करनेवाले साधनके रूपमें एक निश्चित कर्तव्य और उच्चतर अधिकार-सत्ता प्रदान करते हैं।

अर्नेस्ट बार्कर (E. Barker) लिखते हैं, "व्यावसायिक संघ, राष्ट्रीय संघ, और धर्म संघकी प्रगतिके सामने राज्यसे दब जानेको कहा जाता है। पर ये संघ चाहे जितने अधिकारोंका दावा करें और चाहे जितने अधिकार इन्हें मिल जायं फिर भी व्यवस्था स्थापित करनेवाली शक्तिके रूपमें राज्यकी आवश्यकता बनी ही रहेगी।

यह भी सम्भव है कि यदि इन संघोंको नवीन अधिकार मिलते हैं तो राज्यको भी नये अधिकार मिलें। जितने अधिकार राज्यसे छीने जायं उनसे कहीं अधिक अधिकार राज्यको मिल सकते हैं क्योंकि राज्यको व्यवस्थाकी जिन समस्याओंको हल करना होगा वे अधिक गम्भीर और पेचीदा होंगी (३ : १८३)।"

(६) बहुलवादी यह एकदम स्पष्ट नहीं कर पाते कि आखिर वे चाहते क्या हैं ? यदि वे चाहते हैं कि राज्य अन्य संघोंकी भांति केवल एक संघ रहे तो क्या वे अनिवार्य राज्य कर और अनिवार्य नागरिकताको समाप्त कर देंगे। एक बात जो बिल्कुल स्पष्ट है वह यह है कि बहुलवादी राज्यकी सम्प्रभुता पर इसलिए चोट करते हैं कि समाजके अन्य स्थायी संघोंको यथासम्भव अधिकसे अधिक स्थानीय स्वायत्तता प्राप्त हो जाय। कोई भी एकात्मवादी इस पर आपत्ति नहीं कर सकता। यह उचित ही है कि उद्योग और सरकारके नियन्त्रणमें उन लोगोंको और अधिक भाग मिले जो इस समय इससे वंचित हैं। "पर राजकीय सम्प्रभुताके सिद्धान्तको दोषपूर्ण होनेसे बचानेके लिए तथा राजकीय नीतियोंको लागू करनेकी व्यवस्थाको अधिक विकेन्द्रित और नाना-विध बनानेके लिए राजकीय सम्प्रभुताके सिद्धान्तको छोड़ देना न तो आवश्यक जान पड़ता है और न इससे कुछ लाभ ही है (F. W. Coker)।" सच्ची सम्प्रभुता और व्यावसायिक संघवादमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। गेटेल (Gettel) तो यह भी सम्भव मानते हैं कि जैसे ही राज्य और स्थायी संघोंके बीचके झगड़े तय हो जायगे और राज्य सामाजिक जीवनकी नयी शक्तियोंको क्रमशः वैधिक मान्यता देगा वैसे ही बहुलवाद समाप्त हो जायगा। सम्प्रभुताके अनिवादी परम्परागत विचारको ठीक करनेवाले और उसकी कमियोंको पूरा करनेवाले सिद्धान्तके रूपमें बहुलवाद एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

यह एक आश्चर्यकी बात है कि राज्यकी सत्ताका जोरदार विरोध करते हुए भी अनेक बहुलवादी अन्य सामाजिक दबावोंका यदि समर्थन नहीं करते तो कमसे-कम उन्हें सहन तो कर ही लेते हैं। लास्की (Laski) जैसा स्वाधीनताका पुजारी भी कहता है "कोई भी इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि वैधिक दृष्टिसे हर राज्यमें एक ऐसी सत्ता होती है जिसकी अधिकार शक्ति असीमित होती है।"

(ख) राज्यकी सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद
(State Sovereignty and Internationalism)

पिछले कुछ समयसे अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ता और विश्व शान्ति तथा व्यवस्थाके प्रेमी बाह्य सम्प्रभुता (external sovereignty) के सिद्धान्तकी आलोचना करते आ रहे हैं। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सर्वोत्तम कहता है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधिको अभी तक वास्तविक विधिका पद प्राप्त नहीं हुआ है और उसमें किसी प्रकारकी दण्ड व्यवस्था भी नहीं है पर उसके पीछे जनमतकी बहुत बड़ी शक्ति है। उनका यह भी

कहना है कि अब इस बातकी कोशिश हो रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधिको दण्ड व्यवस्थासे युक्त करके वास्तविक विधिका रूप दे दिया जाय। वे वाह्य सम्प्रभुताके आपेक्षित स्वरूप पर जोर देते हैं और अर्ध-सम्प्रभु राज्योंकी चर्चा करते हैं। उनका कहना है कि राज्यको आन्तरिक मामलोंमें अवश्य सम्प्रभुता सम्पन्न होना चाहिए, पर बाहरी मामलोंमें राज्यको मनमानी करनेकी छूट नहीं होनी चाहिए। वे इस वर्तमान परिस्थितिको बनाये रखना बिल्कुल मूर्खता समझते हैं कि कोई भी राज्य जब चाहता है तब अन्तर्राष्ट्रीय सगठनके अधिकारको माननेसे इन्कार कर बैठता है और अन्तर्राष्ट्रीय करारोंको भग कर देता है।

यह एक रोचक बात है कि द्वितीय विश्व युद्धके बाद नूरेम्बर्ग के मुकदमोंमें यह स्वीकार नहीं किया गया कि राज्योंकी सम्प्रभुताको आक्रामक युद्ध छेड़नेका अधिकार है। उस समय कॉमनवील (Commonweal) ने *लिखा था, "हमने जर्मन सम्प्रभुताको* भग कर दिया.... (लेकिन ऐसा करनेमें) विजयी राष्ट्रोंने अपनी पूर्ण सम्प्रभुताको भी भग कर दिया है।" इसके अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र सघके घोषणापत्र की दूसरी धाराके चौथे और सातवे अनुच्छेदोंमें और चौबीसवी धाराके पहले अनुच्छेदमें *सम्प्रभुता पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये है।*

लास्की (Laski) जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावनाके प्रबल समर्थक माने जा सकते हैं, वाह्य सम्प्रभुता पर की जानेवाली आधुनिक आपत्तियोंको बहुलवादका सहायक मानते हैं। असीमित वाह्य सम्प्रभुताको बनाये रखनेका विरोध *वह इन शब्दोंमें करते हैं* · *"अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें एक स्वतंत्र सम्प्रभु राज्यकी धारणा* मानव कल्याणके लिए घातक है। एक राज्यको दूसरे राज्योंके साथ किस प्रकार रहना चाहिए, इसका निर्णय करनेका अधिकार एकमात्र उसी राज्यको नहीं दिया जा सकता।" राज्योंका पारस्परिक जीवन एक ऐसा विषय है जिस पर राज्योंमें समझौता *होना चाहिए। उदाहरणके लिए ब्रिटेन को अकेले इस बातका निर्णय नहीं करना* चाहिए कि वह किस प्रकारके शस्त्रास्त्र बनायेगा और दूसरे देशोंसे किन लोगोंको वह अपने यहा आने देगा। "इन मसलोंका असर सर्व सामान्य जनताके जीवन पर पड़ता है। और उनकी व्यवस्थाके लिए एक सुसंगठित विश्व सगठनकी आवश्यकता है। यदि मनुष्योंको महान् मानव समाजमें रहना है तो उन्हें सहयोग मूलक व्यवहार सीखना होगा। एक विश्व राज्यमें, उसका निर्माण चाहे जिस प्रकार हो और उसमें चाहे जिस मात्रामें विकेन्द्रीकरण हो, पृथक सम्प्रभुताके लिए स्थान नहीं है (४७ : ५५-५६)।" लास्की का कहना है कि संसार और मानवताके प्रति हमारी निष्ठा सम्प्रभुता पर महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध है।

मूल्यांकन और आलोचना (Appreciation and Criticism)

उक्त दृष्टिकोणसे हम बहुत कुछ सहमत है। हमें ऐसा लगता है कि वाह्य सम्प्रभुता उतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि आन्तरिक सम्प्रभुता। अब वह समय आ गया है

जब एक सबल, निष्पक्ष, और सर्वमान्य विश्व संगठन स्थापित किया जाय और सामान्य हितोंके मसलों पर उसके निर्णयको सभी राज्य स्वीकार करें। राष्ट्र संघ और हेग ट्राइब्यूनल इसी दिशामें उठाये गये कदम थे। आज दिन संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सहयोग और शान्तिका साधन बन सकता है। पर यह तभी सम्भव है जब संसारके राष्ट्र अपनी चरम सम्प्रभुताकी धारणामें आवश्यक सुधार कर लें।

यह पूछा जा सकता है कि यदि संसारके राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें अपनी सम्प्रभुता पूर्णरूपेण या आंशिक तौर पर त्याग दें तो परमपूर्ण, असीमित और अविभाज्य सम्प्रभुता के सिद्धान्तका क्या होगा? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि केवल बात बनाये रखनेके लिए एक पहलेसे बने हुए सिद्धान्तके साथ संसारकी परिस्थितियोंका बलात् मेल बैठानेकी अपेक्षा मानवताका कल्याण कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

बाह्य सम्प्रभुताको त्यागनेकी नयी परिस्थितिके दो तर्कपूर्ण समाधान विभाजित सम्प्रभुताके सिद्धान्तका सहारा लिये बिना भी दिये जा सकते हैं। यदि एक विश्वसंगठनको केन्द्र बनाकर एकीकृत वैधिक नियंत्रण स्थापित करनेमें हमें सफलता मिलती है तो उस हालतमें भी सम्प्रभुता उस विश्व राज्यमें निहित रहेगी। यह विश्व राज्य एकात्मक या संघात्मक दो में से किसी भी प्रकारका हो सकता है। यह तो विश्व राज्य और उसके अंग राष्ट्रीय राज्योंके सम्बन्धों पर निर्भर करता है। दूसरा समाधान बोदाँ (Bodin) तथा कुछ अन्य एकात्मवादियोंने दिया है। उनका कहना है कि हर राज्यका दूसरे राज्योंके प्रति नैतिक उत्तरदायित्व होता है और इस उत्तरदायित्वसे उस राज्यकी सम्प्रभुता सीमित रहती है। यह सही है कि यह नैतिक उत्तरदायित्व या कर्तव्य स्वयं अपने ऊपर लागू किया जाता है और उसके पीछे कोई वैधिक बल नहीं होता। फिर भी संसारके जनमतको इसके पक्षमें इतना अधिक तैयार किया जा सकता है कि कोई भी राज्य इसका उल्लंघन करनेका साहस न कर सके। आन्तरिक सम्प्रभुताके क्षेत्रमें भी राज्यों पर प्रतिबन्ध होते हैं। इन सब बातोंके बावजूद यदि मानवताके हितमें विभाजित सम्प्रभुताकी आवश्यकता होती है तो हमें इसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

(ग) राज्यकी सम्प्रभुता और विधि
(State Sovereignty and Law)

डुग्वी (Duguit) ने फ्रांस में और क्राब (Krabba) ने हॉलैण्ड में बहुलवाद पर एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोणसे विचार किया। यह दृष्टिकोण विधिका दृष्टिकोण है। डुग्वी के अनुसार विधि 'राजनीतिक संगठनसे स्वतंत्र, उससे श्रेष्ठ और पूर्वकालिक होती है। यह प्रेरणाओंसे न बनकर, तथ्यों और ठोस आवश्यकताओंके आधार पर बनती है' (कोकर)। विधिके बिना सामाजिक एकता और संगठन या मनुष्योंका एक दूसरे पर निर्भर करना सम्भव नहीं है। विधिका सामाजिक जीवनका ही परिणाम

हैं। उनका मानना इसलिए आवश्यक है कि वे ऐसे नियमोंको प्रकट करती हैं जो स्वयं अपने आपमें ही आवश्यक है न कि इसलिए कि उन्हें किसी निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्यने बनाया हैं या बनानेकी अनुमति दी हैं। उनका पालन इसलिए किया जाता है कि वे सामाजिक नियमोंके प्रकट रूप हैं। राज्यका काम इन विधियोंको बल देना हैं। राज्यका व्यक्तित्व एक कोरी कल्पना है क्योंकि राज्यका उन व्यक्तियोंसे भिन्न कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं हैं जिनसे राज्य बनता हैं और जो सामाजिक अन्योन्याश्रय सम्बन्धमें एक दूसरेसे बधे हुए हैं। विधि राज्यको सीमित करती हैं, राज्य विधिको सीमित नहीं करता। अतः राज्यके कर्तव्यों पर जोर दिया जाना चाहिए, न कि उसके अधिकारों पर। राज्यकी तात्विक विशेषता सम्प्रभुता न होकर जनता की सेवा हैं। जैसा गेटेल (Gettel) ने कहा है: डुग्वी का मुख्य उद्देश्य राज्यके भीतरके विभिन्न सामाजिक सघोंका राजनीतिक महत्त्व कायम करना नही है; उनका मुख्य उद्देश्य शासकोंके कार्यों पर न्याय मूलक प्रतिबन्ध लगाना और राज्यके उत्तरदायित्वका सिद्धान्त विकसित करना हैं।

सामाजिक एकता और दृढ़ता डुग्वी के राजनीतिक विचारोंकी कुंजी है। वह राज्यके पहले की प्राकृतिक विधिसे मिलती-जुलती हैं। वह विधिका धार्मिक स्रोत है। सामाजिक एकता और सगठनसे उत्पन्न आचार शास्त्रका निचोड़ डुग्वी यह देते हैं—ऐसे काम मत करो जो दूसरोंके जिम्मे हों और जिनसे श्रम विभाजन द्वारा उत्पन्न सामाजिक दृढ़ता में कमी आवे। सामाजिक दृढ़ताकी वृद्धिके लिए जो अभीष्ट हो वह व्यक्तिको करना चाहिए (१६ : २१६)। "डुग्वी के लिए सामाजिक दृढ़ता आध्यात्मिक विषय हैं, वह नैतिक आदर्शोंका स्रोत और विधिका तर्कसगत आधार है। वह सामाजिक संबंधोंके तात्त्विक महत्वको प्रकट करती हैं (८० : १२९)।"

उक्त कारणोंसे डुग्वी सम्प्रभुताकी धारणाको अनावश्यक मानते हैं। पर वह यह नहीं बतलाते कि इस बातका निर्णय कौन करेगा कि विधिका कोई नियम जनता के हितमें हैं या नहीं, और उसे किस प्रकार एक स्थापित विधिका रूप दिया जाय। डुग्वी के सिद्धान्तका प्रभाव न्यायालयोंके अधिकारोंको बढ़ाना, विधिका सामाजीकरण और राज्यको उपयुक्त सेवाओंके लिए न्यायालयोंके प्रति उत्तरदायी बनाना मालूम होता हैं।

क्राब (Krabb) के विचार डुग्वी के विचारोंसे मिलते-जुलते हैं। क्राब केवल एक विधिकी ही सम्प्रभुता स्वीकार करते हैं। विधि राज्यसे स्वतन्त्र और उससे श्रेष्ठ है। उसकी उत्पत्ति सामाजिक एकता और दृढ़तासे नहीं हुई है जैसा कि डुग्वी मानते हैं। विधिकी उत्पत्ति राज्यका निर्माण करनेवाले व्यक्तियोंके बहुमतके विवेकसे हुई है। इस प्रकार उसकी उत्पत्ति अनुभूति मूलक (subjective) है। राज्यकी तात्त्विक विशेषता शक्ति नहीं हैं। राज्यकी मुख्य विशेषता यह है कि वह एक वैधिक समाज है। "एक वैधिक समाजके अतिरिक्त राज्य और कुछ भी नहीं हैं—वह मानव समाजका एक ऐसा अंग है जिसकी वैधिक सम्बन्धोंकी अपनी स्वतंत्र व्यवस्था

हैं। इसलिए राज्य कुछ हितोंको वैधिक महत्त्व देनेके अतिरिक्त और कोई काम नहीं करता।" क्राब के ही शब्दों में, "विधिके अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार सत्ता मान्य नहीं है। विधिका सच्चा स्वरूप मनुष्यका 'आत्मिक' स्वभाव अर्थात् उसका विवेक है।" इन्हीं के विपरीत क्राब विधिकी इस धारणाको अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंके क्षेत्रमें भी ले जाते हैं। उनका विश्वास है कि किसी भी राष्ट्रको स्वतन्त्र वैधिक जीवन बिताने का अधिकार नहीं है। "यदि स्वतन्त्र वैधिक जीवनसे अन्तर्राष्ट्रीय समाजके हितोंकी वृद्धि नहीं होती तो किसी भी राष्ट्रका यह दावा माना नहीं जा सकता कि वह अपने सामाजिक जीवनका नियंत्रण स्वयं ही करे (८ : १५९)।" क्राब का कहना है कि न्यायका विचार अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें भी होना चाहिए। और जिस हद तक इस दिशामें प्रगति होती जाय उस हद तक आधुनिक राज्योंके वैधिक कार्य कम होते जाने चाहिए। क्राब का विश्वास है कि आगे चलकर वर्तमान राज्य एक राष्ट्रोत्तर राज्य (Supernational State) के प्रदेश बन जायगे। पर इस राष्ट्रोत्तर स्थितिके पूर्व "अन्तर्राष्ट्रीय समाजकी सम्प्रभुताकी भावनाको पारकर आगे बढ़ना होगा (४४ : २१७)।" अन्तर्राष्ट्रीय समाजके एक स्वतन्त्र वैधिक समाजके रूपमें विकसित होनेके पहले एक स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय अधिपतिकी आवश्यकता है (८० : १६१)।

क्राब के सिद्धान्तका निचोड़ राज्यको वैधिक समुदायके रूपमें संकुचित कर देना और न्यायाधीशको समाजमें शक्तिका केन्द्र बनाना है। उनकी राजनीतिक रुचि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में है।

इन लेखकोंके विचारसे विधि केवल विधायिका तथा राज्यके अन्य अंगों पर ही नहीं बल्कि स्वयं राज्य पर भी प्रतिबन्ध लगाती है। फ्रांसीसी लेखक लु फ़र(Le Fur)ने इस विचारको इस प्रकार प्रकट किया है—"अन्य सभी व्यक्तियोंकी भांति राज्य भी केवल अपनी इच्छा द्वारा ही नियमित होनेके बजाय कुछ अंशोंमें एक ऐसी बाह्य शक्ति द्वारा भी नियमित होता है जो राज्यसे श्रेष्ठ और पूर्वकालिक है। यह उच्चतर शक्ति प्राकृतिक या बौद्धिक विधि (Natural Law or Rational Law) (२३ : १९९) है।"

मूल्यांकन और आलोचना
(Appreciation and Criticism)

हम इस दृष्टिकोणको भली-भांति स्वीकार नहीं कर सकते। यदि इस सिद्धान्तका कुल अर्थ इतना है कि किसी राज्यकी विधि उसकी विधायिकाकी ऐसी आज्ञाएं अथवा किसी उच्चतर व्यक्तिके ऐसे आदेश मात्र नहीं हैं जिन पर लोगोंकी आकांक्षाओं और रायोंका असर नहीं पड़ता, बल्कि उन पर जनताके विवेकका, प्रचलित सामाजिक न्यायकी भावनाका तथा इसी प्रकारके अन्य तत्त्वोंका प्रभाव पड़ता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। किसी भी राज्यमें कोई भी संगठन विधिको 'बनाता' नहीं। जिस

प्रकार विधियां बनायी जाती हैं और जिस प्रकार वे लागू की जाती हैं दोनों ही में एक ऐसी इच्छा प्रतिबिम्बित होती हैं जो रस्मी तौर पर बनायी गयी विधायिकाओंकी इच्छा से भिन्न होती हैं। यदि विधिको स्वयं अपने ही प्रति सच्चा होना हैं तो उसमें विवेकका तत्व होना ही चाहिए। एकात्मवादीको यह सब स्वीकार करनेमें कोई हिचक नहीं है। फिर भी वह बहुलवादियों द्वारा की गयी विधिकी परिभाषाको स्वीकार नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त जैसा कि कोकर (Coker) कहते हैं: विधि निर्धारित (prescribed) की जाती है। विधि केवल वह नही है जो हमारी सामान्य बुद्धिको ठीक जान पड़ता है या जो समाज चाहता है। यह सही है कि एक निश्चित व्यक्ति अथवा विधायिकाके अतिरिक्त हम विधिकी भावना, एक सामान्य इच्छा, आदिकी बात कर सकते हैं; पर हम साधारणतया स्वीकृत अर्थोंमें विधिकी बात नहीं कर सकते। सामाजिक एकता, दृढता और विवेक हमें ऐसी निश्चित विधियां देनेमें असमर्थ हैं जिनकी व्याख्या की जा सके और जिन्हे न्यायाधीश लागू कर सके।

एक बात और है। जिस सिद्धान्तका हम विवेचन कर रहे हे उससे प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारो के वे प्रश्न फिर से उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे राजनीति-शास्त्र आधुनिक समयमे मुक्त रहा है। प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारों तक वापस लौटनेसे राजनीति शास्त्र एक ऐसे गड्ढेमें गिर जायगा जिससे बाहर निकलना आसान न होगा।

यह सिद्ध करनेके लिए प्रमाण है कि जब ये विधि शास्त्री राज्यकी सम्प्रभुताको विधिके द्वारा सीमित करनेका यत्न करते हैं तब उनके दिमागमें सरकारके विभिन्न अग रहते हैं; स्वय राज्य नही।

निष्कर्ष (*Conclusion*)

(क) जैसाकि पहले कहा जा चुका है, बहुलवाद सम्प्रभुताके उग्र अतिवादी रूप के विरुद्ध एक वांछित प्रतिक्रिया है जो हीगेल आदि ने सम्प्रभुताको प्रदान की थी। राज्यको नैतिक सम्प्रभुता देना, जैसाकि हीगेल ने किया है, बहुत ही खतरनाक है। निस्सन्देह वैधिक तौर पर राज्य सर्वोपरि है। पर उसे यह अधिकार नहीं है कि वह अपनेको अपने नागरिकों या अन्य राज्योंके प्रति नैतिक दायित्वोंसे मुक्त कर ले। हीगेल का यह विचार गलत है कि राज्यकी आज्ञाएं सही ही होनी हैं। पर हीगेल द्वारा प्रतिपादित राज्यकी निरकुशताको अस्वीकार करनेका अर्थ यह नहीं है कि हम बहुलवादी बन जाते हैं।

(ख) बहुलवादने राज्योंका ध्यान सघ जीवनकी ओर आकर्षित करके आधुनिक राजनीतिशास्त्र की बहुत बडी सेवा की है। इसमें कोई सन्देह नही कि आर्थिक, व्यावसायिक, सामाजिक और धार्मिक सघोंका सामाजिक जीवनमें बहुत ही महत्वपूर्ण

और अद्वितीय स्थान रहता है। इसलिए यह मानना कि इन संघोंका अस्तित्व राज्यकी कृपा पर निर्भर करता है, धृष्टता है। यह उचित है कि समाजके स्थायी संघोंको स्वयं अपनी व्यवस्था करनेके लिए यथासम्भव अधिकसे अधिक अधिकार दिये जाने चाहिए। राज्यकी सामान्य नीति और विधियोंके निर्माणमें भी उनका प्रभावपूर्ण भाग होना चाहिए। पर इसका मतलब यह नहीं है कि राज्यको घटाकर उसे दूसरे संघों के बराबर बना दिया जाय। राज्यको स्वयं अपने आपमें एक विशिष्ट वर्ग बना रहना चाहिए। इसे सर्वोच्च ही रहना चाहिए।

(ग) समाजके आवश्यक संघोंको पूर्ण आन्तरिक स्वायत्त अधिकार देनेके बाद भी, हमें एक उच्चतर संगठनकी आवश्यकता है जो इन संघोंमें सन्तुलन और समन्वय स्थापित कर सके। यदि राज्य संघोंमें से केवल एक संघ हो और उसके अधिकार और उसकी प्रतिष्ठा अन्य संघोंके समान ही हो तो यह समझमें नहीं आता कि राज्य सन्तुलन और समन्वय स्थापित करनेका अपना काम सन्तोषजनक ढंगसे कैसे कर सकेगा। राज्यकी सदस्यता अनिवार्य और उसकी अधिकार सत्ता व्यापक होनी है। इन अद्वितीय विशेषताओंके बिना राज्य समाजमें न्यायपूर्ण और कल्याणकारी परिस्थितियां कायम नहीं रख सकता। कोकर का यह कहना सही है कि समाज के गैर राजनीतिक संघ राज्यकी सहायताके बिना न तो पनप सकते हैं और न अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। वर्तमान परिस्थितियां भी राज्यके कार्योंकी अनुपमता नष्ट नहीं करतीं। यही नहीं ये परिस्थितियां हमें बताती हैं कि प्रत्येक समाजमें एक अन्तिम अधिकार-सत्ताकी आवश्यकता होती है।

(घ) मानव कल्याणके लिए बहुतसे कार्योंकी जरूरत होती है। समाजमें अनगिनत संघ होते हैं। फिर भी ये संघ उन सब कामोंको पूरा नहीं कर पाते जितने कार्योंकी मानव कल्याणके लिए जरूरत होती है। वे केवल आंशिक हित ही पूरा करते हैं। राज्य ही एक ऐसा संगठन है जो समाजके सदस्योंकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करनेमें समर्थ है। इसीलिए हर सभ्य राज्य सामान्य हितोंकी रखवाली अपना विशेष कर्तव्य समझता है।

(ङ) यदि हम सम्प्रभुताके एकात्मवादी सिद्धान्तको अस्वीकार कर देते हैं तो हमारे लिए तर्क-संगत स्थिति केवल अराजकतावादियों और श्रमिक संघवादियोंकी ही रह जाती है। बहुलवाद तो एक ऐसा मध्य मार्ग अपनानेका प्रयत्न करता है जो असम्भव है। बहुलवादी सिद्धान्त अन्ततोगत्वा अराजकतावादी सिद्धान्त ही है।

(च) यदि 'सम्प्रभुता' शब्दका दुरुपयोग होता है और उसे उस प्रकारकी निरंकुशतासे मुक्त नहीं किया जा सकता, जो हेगेल ने उसे दी है तो प्रधानता (supermacy), अथवा अन्तिम अधिकार सत्ता (final authority) शब्द हमारे दृष्टिकोण को व्यक्त करनेके लिए अपनाये जा सकते हैं। इन पृष्ठोंमें व्यक्त की गयी विचारधारा सम्प्रभुताके परम्परागत समर्थकोंके सिद्धान्तोंकी अपेक्षा बोदां (Bodin) के सिद्धान्त से अधिक मिलती-जुलती है।

(छ) हम जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं उसे सेबाइन (Sabine) के शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "मैं यथासम्भव एकात्मवादी (monist) बननेका अपना अधिकार सुरक्षित रखता हूं, और कोई चारा न रह जाने पर बहुलवादी बनने को तैयार हूं।"

राजनीतिक बहुलवाद और भारत
(Political Pluralism and India)

बहुलवादके अर्धसत्यको मान लेनेसे अधिक खतरनाक भारत की एकता के लिए और कुछ नहीं हो सकता। भारत में हमेशासे एक बातकी कमी रही है। वह कमी है एकता की कमी। भारत सदासे एकता कायम करनेमें असमर्थ रहा है। और यदि कभी एकता कायम भी हुई है तो वह बहुत समय तक टिकी नहीं। हमेशासे भारत की कमजोरी और उसकी शक्ति दोनोंके कारण-देशमें विभक्त समुदाय और विभक्त निष्ठाएं रही हैं। यदि भारत को एक राष्ट्र या एक स्वतंत्र राजनीतिक इकाईके रूपमें जीवित रहना है तो भारतीयोंको सीखना होगा कि वे सबसे पहले भारतीय हैं और इसके बाद और कुछ। यह तभी हो सकता है जब जाति, वर्ग, सम्प्रदाय राज्य, अथवा भाषा सम्बन्धी निष्ठाएं कमजोर हो जायं। और इनमें से कुछ निष्ठाएं तो समय बीतने पर बिल्कुल लुप्त हो जाय।

यदि हम अपनी जातीय समाजों और साम्प्रदायिक संगठनोंको बहुलवादीकी शिक्षाओंसे लाभ उठाने देंगे, तो हमारे गणतंत्रका न सही पर हमारे धर्मनिरपेक्ष आदर्शोंका अवश्य ही अन्त हो जायगा। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब राजनीतिक पार्टियोंने पहले अपनेको सैनिक प्रशिक्षण और सैनिक साज-समानसे युक्त किया और फिर अन्तमें राज्य-सत्ता पर कब्जा कर मनमाने अत्याचार किये। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जर्मनी की नाजी पार्टी है।

पहले कभी भले ही इस बातकी आवश्यकता रही हो कि सम्प्रभुताको बहुलवाद की दिशामें मोड़ा जाय पर आज दिन तो सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि सम्प्रभुताको एकात्मवादी जामा पहनाया जाय। कमसे कम जहां तक संघोंका सम्बन्ध है ऐसा अवश्य ही होना चाहिए।

SELECT READINGS

AUSTIN, J.—*Lectures in Jurisprudence*—Vol. I, Lecture VI.

BARKER, E.—*Political Thought in England from Spencer to Today*—pp. 175-183.

BOSANQUET, B.—*The Philosophical Theory of the State*—Preface and Introduction to the Second Edition.

BRYCE, J.—*Studies in History and Jurisprudence*—Essay X.

COKER, F. W.—*Chapter on Pluralistic Theories and the Attack upon State Sovereignty in Political Theory in Recent Times by Merriam, Barnes and others.*

DICEY, A. V.—*Law of the Constitution*—Lecture II.

DICEY, A. V.—*Law and Public Opinion*—Lecture I.

FOLLETT, M.P.—*The New State.*

GARNER, J. W.—*Political Science and Government*—Chapters VIII and IX.

GETTELL, R. G.—*Introduction to Political Science*—Ch. VIII.

GILCHRIST, R. N.—*Principles of Political Science*—Ch. V.

GREEN, T. H.—*Principles of Political Obligation*—Section E.

HSIAO—*Political Pluralism.*

KRABBE—*The Modern Idea of the State (Translated by Sabine and Shepard).*

LASKI, H. J.—*A Grammar of Politics*—Ch. II.

LEACOCK, S.—*Elements of Political Science*—Ch. IV.

LORD, A. R.—*Principles of Political Science*—Chs. III, IV and V.

MACIVER, R. M.—*The Modern State*—Chapters VI, VII, XV, Sections II and XVI.

MERRIAM, C.E.—*History of the Theory of Sovereignty Since Rousseau.*

POLLOCK, F.—*History of the Science of Politics.*

ROUCEK, J. S. AND OTHERS—*Introduction to Political Science*—Ch. III.

ROUSSEAU, J. J.—*Social Contract*—Books I and II.

SIDGWICK, H.—*Elements of Politics*—Ch. XXXI.

WARD, P.W.—*Sovereignty—A Study of Contemporary Political Nation.*

WILDE, N.—*The Ethical Basis of the State*—Chs. IV and VIII.

WILLOUGHBY, W. W.—*The Nature of State*—Chs. IX and XI.

जो मेरे प्रति सच्चे हैं मैं उनके लिए सच्चा हूं जो मेरे प्रति सच्चे नहीं हैं मैं उनके लिए भी सच्चा हूं और इस प्रकार सभी सच्चे होते जायगे।"

महात्मा गाधी ने कन्फ्यूशियस से यह सिद्धान्त सीखा जिसके अनुसार मनुष्योंको दूसरेके प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा व्यवहार वे स्वयं दूसरोंके द्वारा अपने प्रति न चाहते हों। यह ईसा मसीह के इस स्वर्ण नियमका नकारात्मक रूप है कि दूसरोंके प्रति वैसा बर्ताव करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें।

इस्लाममें भी जिसे बहुधा हिंसा और जोर दबावसे सम्बद्ध किया जाता है, गाधी जी ने अहिंसाकी शिक्षा ली। उन्होंने इसमें दयालुता, शान्ति, प्रेम और विचार शीलताका सन्देश पाया। गाधीजी जानते थे कि 'इस्लाम' शब्दके मतलब ही है शान्ति, सुरक्षा और मुक्ति। कुरानकी एक महत्वपूर्ण शिक्षा है "धर्ममें जोर जबर्दस्ती नहीं होनी चाहिए।"

धर्म निरपेक्ष लेखकोंमें से थोरो (Thoreau), रस्किन (Ruskin) और टॉल्स्टॉय (Tolstoy) ने गाधीजी को सबसे अधिक प्रभावित किया। गाधीजी ने थोरो से सविनय अवज्ञा (Civil disobedience) और करबन्दी (non-payment of taxes) की प्रेरणा प्राप्त की। थोरो के राजनीतिक विचार यह थे, "जनहित करनेवाले सभी व्यक्तियों और सभ्याओंके साथ अधिकतम सहयोग, और यदि वे अहित करे तो असहयोग।" गाधीजी ने रस्किन की पुस्तकें 'अन्टु दिस लास्ट' (*Unto this Last*) और 'क्राउन ऑफ वाइल्ड ओलिव्स' (*Crown of Wild Olives*) से शारीरिक परिश्रम का आदर करना सीखा और इसे अपने जीवनके अन्त तक अपने व्यवहार में लाते रहे। लियोटॉल्स्टॉय से गाधीजी को "ईसाई अराजकता" (Christian anarchism) की झलक मिली।

महात्मा गाधी के सचिव और उनका जीवन चरित्र लिखनेवाले प्यारे लाल इन विभिन्न सूत्रोंके बारेमें लिखते हुए कहते हैं "भगवद्गीता, उपनिषद और ईसा मसीह के जीवन और शिक्षाओं ने गाधीजी और थोरो को समान रूपसे प्रभावित किया है।"[1] वह आगे कहते हैं "जीवनके बारेमें गाधीजी के सम्पूर्ण दृष्टिकोणको टॉल्स्टॉय ने बदल दिया। कला, धर्म, अर्थशास्त्र, पुरुष और महिलाओंके पारस्परिक सम्बन्ध तथा राजनीतिके बारेमें गाधीजी के विचारों पर टॉल्स्टॉय की गहरी छाप पडी थी।"[2] गाधी जी के अहिंसक असहयोगके पूरे कार्यक्रमका आधार टॉल्स्टॉय का यह प्रसिद्ध वाक्य है—"ईश्वरका राज्य तुम्हारे भीतर है।"[3]

यद्यपि महात्मा गाधी ने इन पुस्तकों पर दार्शनिक दृष्टिकोणसे विचार किया था फिर भी वह एक पद्धति निर्माता (system builder) नहीं थे। इस सम्बन्धमें थोरो और गाधीजी की तुलना करते हुए प्यारे लाल कहते हैं कि इन विचारकोंमें

---

१ The Statesman, February 1, 1957.

२ Ibid.

३ Ibid.

से कोई भी पद्धति निर्माता नहीं था, पर दोनों गम्भीर विचारक, सत्यकी खोज करने वाले और सत्य वक्ता थे। दोनोंमें सत्यके लिए प्रबल इच्छा थी, और दोनों कार्यरूपमें दर्शन-शास्त्रका प्रतिनिधित्व करते थे।

गांधीजी की विचारधारामें पद्धतिकी कमी के सम्बन्धमें लिखते हुए हुमायूं कबीर ठीक ही कहते हैं कि गांधीजी वास्तविकताके एक निष्पक्ष छात्र (objective student) थे और उनका ढंग मूलतः प्रयोगात्मक (experimental) और वैज्ञानिक था। गांधीजी के जीवनकी विशेषता, आत्मप्रेरणा और कार्यसम्पादन थी न कि तर्क और पद्धति थी। जवाहरलाल नेहरू, जो बहुत वर्षों तक गांधीजी को अन्य अनेक लोगोंकी अपेक्षा अधिक नजदीकसे जानते थे, कहते हैं "हम लोगोंमें और गांधीजी में शायद ही कभी किसी प्रश्न पर वादविवाद, बहस-मुबाहसा या दर्शनशास्त्रीय स्तर पर विचार विमर्श होता था। हम लोग मिलकर काम करते थे।"

राजनीतिज्ञ नहीं. यदि गांधीजी एक पद्धतिपूर्ण राजनीतिक विचारक नहीं थे तो वह राजनीतिज्ञ तो और भी कम थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जनताकी कल्याणकी चिन्ताने ही उन्हें राजनीति में ढकेल दिया। उनके जीवनमें ऐसे भी अवसर आये जब उनका राजनीतिक आन्दोलन जोरोंसे चल रहा था और तब उन्होंने छुआछूत मिटाने, मद्य-निषेध, ग्रामीण उद्योगको जनप्रिय बनाने और हिन्दू मुस्लिम एकता स्थापित करने तथा इसी प्रकारके अन्य काम करनेके लिए अपना राजनीतिक आन्दोलन बन्द कर दिया। इन्हीं सब बातोंके कारण आचार्य कृपलानी गांधीजी को मूलतः एक समाज सुधारक मानते हैं। पर हमारी राय में कृपलानीजी का यह विचार संकुचित और एकपक्षीय है और महात्मा गांधी के बहुपक्षीय स्वरूपके प्रति पूर्ण न्याय नहीं करता है।

यद्यपि गांधीजी साधारण अर्थमें राजनीतिज्ञ नहीं थे पर उन्होंने अपने अहिंसक आन्दोलनोंको आरम्भ करनेका समय निश्चित करनेमें और उसकी रूपरेखा निर्धारित करनेमें असाधारण बुद्धिमानीका परिचय दिया था। इस दृष्टिकोणसे हम गांधीजी की हत्याके समय प्रकट किये गये 'मैंचेस्टर गार्जियन' (ब्रिटेन का प्रसिद्ध दैनिक पत्र) के इस मतसे अंशतः सहमत हो सकते हैं कि गांधीजी राजनीतिज्ञोंमें महात्मा और महात्माओंमें राजनीतिज्ञ थे। ब्रिटिश शासनके विरुद्ध प्रत्येक आन्दोलनमें उन्होंने नया प्रतीक और नये तरीके अपनाये। १९१९-२० में यह अहिंसक असहयोग था जिसमें छात्रों, वकीलों और सरकारी नौकरोंसे अपना-अपना काम छोड़नेको कहा गया था; १९३० में सरकारके विरोधका प्रतीक नमक बना। १९३९ में यह कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन था; १९४० में आन्दोलन का रूप जनताके एक स्थान पर एकत्र होने पर लगी रोकको तोड़ना था। १९४२ में 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन चला जिसका नारा था "करो या मरो"। इन सभी आन्दोलनोंमें अंग्रेजी वस्तुओंका बहिष्कार और खद्दर के उपयोग और चरखे की निशानीका विशेष महत्व रहा है।

अपने आन्दोलनोंकी रूपरेखा निर्धारित करनेमें गाधीजी ने अपनेको एक अत्यन्त निपुण व्यक्ति (tactician) और अनुभवी मनोवैज्ञानिक प्रमाणित किया है। वह जानते थे कि जनतासे कैसे अपीलकी जाय और कब जनताको पीछे छोड़कर अकेले खड़ा हुआ जाय। वह जानते थे कि किसी एक कार्यको अनगिनत बार दोहराकर जनता के मस्तिष्कको प्रभावित किया जा सकता है। वह अपने आन्दोलनका आधार किसी ऐसी वस्तु को बनाते थे जिसके छिपे अर्थको जनता आसानीसे समझ सकती थी। वह जनताको उस समय तक एक-एक कदम करके आगे ले जाते थे जब तक कि जनता में नैतिक और आध्यात्मिक बल पूरी तरह नहीं आ जाता था। वह पहले सामान्य जनतासे अपील करते थे और फिर पढ़े-लिखे मेधावी उनका अनुसरण करते थे। अपने एक समकालीनके शब्दोंमें 'गाधीजी अपने आदर्शों पर अमल करनेके पूर्व इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते थे कि सारे संसारको अपने मनका बना लिया जाय। वह अपनेसे ही आरम्भ करते थे और आशा करते थे कि समय आने पर अन्य लोगोंको भी अपने साथ ले चलेंगे।'

राजनीतिका आध्यात्मीकरण (Spiritualisation of Politics). राजनीतिका आध्यात्मीकरण राजनीति और राजनीति शास्त्रको महात्मा गाधी की स्थायी देन है। उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि राजनीति को मानवसमाजके लिए श्राप न होकर आशीर्वाद होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। किसी तरह भी काम निकालने में कभी उन्होंने विश्वास नहीं किया। उनका कहना था कि साधन भी उतना ही महत्व रखते है जितना लक्ष्य। उनका विश्वास था कि केवल अच्छे साधन से ही अच्छे लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें साधन और लक्ष्य या साध्य एक ही वस्तु हैं जो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखी जाती हैं। यदि साधनो पर समुचित ध्यान दिया जाय तो लक्ष्य अपने आप सिद्ध हो जायगें। गाधीजी के विचार और व्यवहारके मौलिक आधारोंमें से एक आधार साधनोंकी पूर्ण स्वच्छता थी। इसी सम्बन्धमें सन् १९५३ में नयी दिल्ली में हुई गाधी गोष्ठीमें भाग लेनेवाले डा० अलवे मर्डल (Alve Myrdal) ने लिखा था. "साधन और साध्य एक दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते क्योंकि गलत साधनोंसे सही लक्ष्य नहीं प्राप्त किया जा सकता।"

दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism). गाधीजी के विचार पश्चिमी राजनीतिक विचारधाराके दार्शनिक अराजकतावाद (philosophical anarchism) से मिलते-जुलते हैं। इसका कारण अशंत थोरो का प्रभाव था। थोरो की पुस्तक 'एसे आन सिविल डिसोबीडियँस' (*Essay on Civil Disobedience*) के अनधिकृत भारतीय संस्करणकी भूमिका में महात्मा गाधी ने लिखा है: (*इसका उद्धरण प्यारे लाल ने किया है*) "मैं इस आदर्श को हृदयसे स्वीकार करता हूं कि वह सरकार सर्वोत्तम होती है जो कमसे-कम शासन करती है····इसका मतलब अन्ततोगत्वा यह होता है और जिस पर मेरा पूरा

विश्वास है कि वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल ही शासन नहीं करती।"

गांधीजी ने राज्यके व्यापक कार्यक्षेत्रका समर्थन नहीं किया, यद्यपि आज बहुतसे लोग भारतमें राज्यके कार्य-क्षेत्रका विस्तार चाहते हैं। गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि लोगोंको अपना कार्य स्वयं करना चाहिए। वह ग्राम-स्तरके स्वेच्छा प्रेरित सहयोग पर बहुत जोर देते थे। उनका कहना था कि राज्य द्वारा अत्यधिक कार्य किये जानेसे जनताकी पहलकदमी (initiative) समाप्त हो जाती है और भ्रष्टाचार तथा कुनबा परस्ती (nepotism) को प्रोत्साहन मिलता है। दार्शनिक अराजकतावादियोंकी भांति गांधीजी भी इस बातमें विश्वास करते थे कि राज्यका, बातोंको जबर्दस्ती मनवानेवाला, स्वरूप वैयक्तिक कर्मको नैतिकतासे जुदा कर देता है। जब मनुष्य मशीनोंकी तरह काम करते हैं तब नैतिकताका प्रश्न ही नहीं उठता। गांधीजी और थोरो (Thoreau) दोनों ही राज्यको आत्माहीन मशीन मानते थे। इसलिए गांधीजी राज्यविहीन लोकतंत्रको आदर्श समाज मानते थे। गांधीजी ने अपने पत्र "यंग इण्डिया" (*Young India*) के २ जुलाई, १९३१ के अंकमें लिखा था "इस प्रकारके (अराजकतापूर्ण) राज्यमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपना कार्य इस प्रकारसे करता है कि उसके किसी कार्यसे उसके पड़ोसीको कभी किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुंचती। इसलिए आदर्श राज्यमें राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि राज्य ही नहीं होता।" गांधीजी चाहते थे कि जो सुधार हो वह सब भीतरसे हो। वह नहीं चाहते थे कि किसी बाहरी शक्ति द्वारा सुधार लाये जायें।

राज्य कार्य (State Action). यद्यपि गांधीजी का झुकाव दार्शनिक अराजकतावादकी ओर था पर वह इसके लिए कट्टरता पूर्वक अड़ते न थे। अपने विचार और कार्य में गांधीजी ऐसे व्यक्ति नहीं थे जो सिद्धान्तों पर ही अड़े रहें और यथार्थवादी न हों। वह चाहते थे कि राज्य कमसे-कम कार्य करे और अपने अधिकाधिक अधिकार स्वेच्छा प्रेरित संस्थाओं (voluntary associations) को हस्तान्तरित कर दें। राज्य के प्रत्येक कार्यको उसके परिणामकी कसौटी पर कसा जाना चाहिए। यदि राज्यके किसी कार्यसे जनताके कल्याणकी आशा होती थी तो गांधीजी राज्यके प्रति अपने अविश्वासके बावजूद राज्यके कार्यका स्वागत करते थे। राज्यके कार्योंका एकमात्र लक्ष्य जन सेवा ही होना चाहिए। लेकिन राज्यको अपना कार्य करनेमें कमसे कम शक्तिका उपयोग करना चाहिए।

गांधीजी का विश्वास था कि राज्य हिंसा पर आधारित होता है; वह गरीबों का शोषण करता है; और अपनी बात लोगों पर जबर्दस्ती लादकर व्यक्तिके स्वशासन-क्षेत्रको कम करता है। इसलिए अहिंसा पर आधारित समाजमें राज्य कमसे कम शासन करेगा और कमसे कम शक्तिका उपयोग करेगा। जनताका नैतिक स्तर जैसे-जैसे ऊपर उठता जायगा वैसे-वैसे राज्यके कार्य कम होते जायंगे, और एक

दिन वह आयेगा कि राज्यका अन्त होकर स्वनियंत्रित और नियमित अराजकताका उदय होगा।

कल्याणकारी राज्य (The Welfare State). हुमायू कबीर के कथनानुसार गाधीजी उदार परम्परा (व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि) व दार्शनिक अराजकताकी परम्पराके उत्तराधिकारी थे। समाजवादी विचारमें पाये जानेवाले इस समूहवाद के भी वह उत्तराधिकारी थे कि जीवनकी अच्छी वस्तुएं सबको बराबर-बराबर मिलनी चाहिएं। यदि गांधीजी आज जीवित होते तो वह सामाजिक कल्याणकारी राज्यके आदर्शका समर्थन तो करते पर ऐसे राज्यकी व्याख्या उनकी अपनी होती। जन हितैषी होनेके कारण और इस कारण कि अशिक्षित और पिछड़े वर्गके प्रति उनकी हार्दिक और गहरी सहानुभूति थी गाधीजी कल्याणकारी राज्यका समर्थन करते। गाधीजी समाजवादी समाजको और विभिन्न पंच-वर्षीय योजनाओंको तभी पसन्द करते जब जनता ही उन्हें बनाती और कार्यान्वित करती। वह यह कभी पसन्द न करते कि पचवर्षीय योजनाओंके फलस्वरूप सरकारी कार्योंका क्षेत्र बढ़ता जाय, सार्वजनिक धनकी भारी बर्बादी हो, लोगों को भ्रष्टाचार और आलस्यका अधिक अवसर मिले। गाधीजी यह कभी पसन्द न करते कि भारी उद्योगों और बहुधन्धी विशाल नदी-घाटी योजनाओं पर इतना अधिक ध्यान दिया जाय क्योंकि इन पर खर्च होनेवाले भारी धनके अनुपातमें गरीबोंको इन योजनाओंसे लाभ नही पहुंच सका है। वह सामुदायिक कल्याणकारी योजनाओंका समर्थन करते और इन्ही योजनाओंको कल्याणकारी राज्यका आधार बनाते।

कष्ट और शोषण का विरोध (Against Misery and Exploitation). गाधीजी हर प्रकारके कष्ट, दरिद्रता और शोषणके विरुद्ध थे। वह जाति व्यवस्था की निन्दा करते थे और छुआ-छूतको पाप मानते थे पर वह वर्णाश्रम धर्मके हिन्दू आदर्शका समर्थन करते थे जिसके अनुसार हर व्यक्तिको समाज में अपनी क्षमताओं और प्रशिक्षण के अनुसार निश्चित काम करना पड़ता था। जनताका कल्याण करनेके उत्साहमें गाधीजी ने समाजको समृद्ध और सर्वहारावर्ग में (the haves and the have-nots) या शोषकों और शोषितोंमें विभाजित नही किया था। उन्होने अपनेको जनतासे पूर्ण रूपेण मिला दिया था। गांधीजी मार्क्सवादी नही थे। वह अपनेको जुलाहा और किसान कहते थे। और उन्होने खाना, कपड़ा और बोल-चालमें अपनेको जनतासे एक कर दिया था। मन्दिर प्रवेश के समर्थनमें और छुआ-छूतके विरुद्ध लगातार प्रचार करके उन्होने जाति-व्यवस्थाकी रीढ़ तोड़ दी थी। उन्होने एक अछूत कन्याको अपनी लड़की बनाया और अछूत शब्दके स्थान पर 'हरिजन' शब्दका उपयोग किया और हरिजनोको हिन्दू समाजमें सम्मानित स्थान दिया। उन्होंने अछूतोंके लिए पृथक निर्वाचन प्रणालीके विरुद्ध अनशन किया और सयुक्त निर्वाचन प्रणाली द्वारा अछूतोंके लिए स्थानोको सुरक्षित करके विधायिकामें अछूतोंको उनकी सख्यासे अधिक स्थान दिये। उन्हें महिलाओं और बच्चोंकी विशेष

चिन्ता रहती थी और दक्षिणी अफ्रीका में अपने अहिंसक आन्दोलनोंके प्रारम्भिक कालमें उन्होंने महिलाओं की नैतिक शक्तिको खोज निकाला। वह किसानों और मजदूरोंकी भी उतनी ही चिन्ता करते थे। आरम्भमें जब उनके पास अधिक समय रहता था छोटेसे छोटा व्यक्ति भी उनके पास जाकर अपनी व्यक्तिगत समस्याओं पर उनसे विस्तारपूर्वक विचार विमर्श कर सकता था। गांधीजी की नई शिक्षा प्रणाली जिसे 'नयी तालीम' कहते हैं सत्य और मानव प्रतिष्ठाके दो सिद्धान्तों पर आधारित थी। वैसे तो उनसे पूर्वके विचारकोंने भी मानव-प्रतिष्ठा, समानता और भ्रातृत्व का जोरदार समर्थन किया था पर गांधीजी इन पर अमल करते थे और इसे राजनीति और मानव जीवन के लिए उनकी सबसे बड़ी देन माना जा सकता है। संक्षेपमें, उन्होंने राजनीतिका आध्यात्मीकरण किया।

अहिंसाका दर्शन-शास्त्र (The Philosophy of Non-violence)

इतना सब कहने सुननेके बाद भी यह स्वीकार किया जायेगा कि राजनीतिको और साधारण मानव जीवनको गांधीजी की सबसे बड़ी देन उनकी अहिंसाकी शिक्षा और व्यवहार था। उन्होंने १९२० में ही लिखा था "जिस प्रकार हिंसा पशुओंकी विधि है उसी प्रकार अहिंसा मानव जातिकी विधि है। आत्मा (spirit) पशुओंमें प्रसुप्त रहती है और वह केवल शारीरिक शक्तिको ही जानता है। मानव महत्वका तकाजा है कि हम एक उच्चतर विधिको—आत्माके सबलको—मानें......अहिंसा एक पूर्णता (perfection) की स्थिति है। यह वह लक्ष्य है जिसकी ओर मानव समाज स्वाभाविक और अनजाने तौर पर बढ़ता जाता है" (यंग इण्डिया, १४ अगस्त १९२०)। उन्होंने फिर लिखा "मेरे लिए अहिंसा केवल एक दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं है। यह मेरे जीवनका ताना-बाना है......यह दिमाग की चीज न होकर हृदयकी चीज है।" गांधीजी किसी भी अर्थमें अहिंसाके सिद्धान्तके या इसी प्रकारके अन्य सिद्धान्तोंके प्रवर्तक (originator) नहीं थे। पर वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सामूहिक तौर पर और राजनीतिक क्षेत्रमें इन सिद्धान्तोंको लागू किया।

अहिंसा निष्क्रियता नहीं है (Non-violence is not Passivity)

गांधीजी की अहिंसाका अर्थ चुपचाप जुल्म बर्दाश्त करना नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि खतरा या बुराईके सामने हाथ पर हाथ रखकर बैठ रहा जाय। "यह आत्म-शक्ति या सत्यकी खोज करनेवाली शक्ति है। संक्षेपमें यह सत्याग्रह है जिसका अर्थ है अपनी सम्पूर्ण नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति से असत्य या गलत बातका मुकाबला करना। यह संघर्ष के लिए नैतिक शक्ति का दूसरा उपयोग है।" यह आत्म-शक्ति या हमारे भीतर रहनेवाले परमात्माकी शक्ति है। यह आत्म-बलिदानके

प्राचीन हिन्दू सिद्धान्तके अनुकूल है। इसका मतलब है जान-बूझकर कष्ट उठाना। गाधीजी के ही शब्दोंमें "इसका अर्थ बुराई करनेवालेके सामने चुप-चाप घुटने टेक देना नही है।" "यह नकारात्मक शक्ति नहीं है······यह बिजलीसे अधिक निश्चयात्मक और ईथर (ether) से अधिक शक्तिशाली है।" "बडीसे बडी हिंसाका बडी से बडी अहिंसासे मुकाबला किया जा सकता है।" गाधीजी अपने को "सत्याग्रह नामक प्रकाशगृह (light house) का चौकीदार कहते थे।" "यह वह सिद्धान्त है जिसके लिए मैं जीवित रहता हू, जिसके लिए मैं जीवित रहना चाहता हूं और मेरा विश्वास है कि जिसके लिए मैं मरनेको भी तैयार हूं।" (इस वाक्यका अन्तिम अश ३० जनवरी, १९४८ को सही प्रमाणित हुआ)।

गाधीजी की अहिंसाकी व्याख्या करनेवाले अन्य लोगोने इसे 'आत्माकी वीरता' 'साधु का युद्ध' और 'प्रेम पूर्ण साहसिक कार्य' कहा है। यह नकारात्मक होनेसे कोसो दूर है। यह निश्चयात्मक, शक्तिशाली और रचनात्मक है।

अहिंसाका आधार (Non-violence rooted in Ahimsa)

जिस अहिंसाकी गाधीजी शिक्षा देते थे और जिस पर वह अमल करते थे उसका आधार अहिंसा या किसी को दुख न पहुचानेका भारतीय सिद्धान्त है। नकारात्मक तौर पर इसका अर्थ है किसी को कष्ट न देना या किसी की जान न लेना। "अहिंसा का अर्थ है ससारकी किसी वस्तुको मनसा, वाचा और कर्मणा क्षति न पहुचाना।" (हरिजन, ७ सितम्बर, १९३५, पृष्ठ २३५)। इसका मतलब है कठोर शब्द न बोलना कडी बात न कहना, ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, और क्रूरतासे बचना। इसका मतलब खास तौर पर यह है कि किसी व्यक्तिको अपने शत्रुके प्रति भी बुरे विचार नही रखने चाहिएं।

क्रियात्मक पक्षमें (On the Positive Side), अहिंसा ईसाई धर्मके प्रेमके सिद्धान्त के निकट है। यह सर्वशक्तिमान, अनन्त और परम ईश्वरका पर्यायवाची है। यह सर्वत्र व्यापक तथा अनादि सिद्धान्त है जिसको जीवनकी हर स्थिति पर लागू किया जा सकता है। डा० जी० एन० धवन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द पोलिटिकल फिलॉसॉफी आफ महात्मा गाधी' में इस प्रकार लिखते है "अहिंसाका अर्थ है हिंसाको छोडनेका प्रयत्न जो जीवनमे अनिवार्य है। अहिंसाका लक्ष्य है मनुष्यको शारीरिक बन्धनसे छुडाना ताकि वह ऐसी स्थिति प्राप्त कर सके जिसमें नाशवान शरीरके बिना जीवन सम्भव हो।"[१]

दुर्बलका अस्त्र (Weapon of the Weak). सत्याग्रह उन लोगोका अस्त्र है जो शारीरिक तौर पर दुर्बल लेकिन नैतिक तौर पर सबल होते है। यह उन लोगोका भी अस्त्र हो सकता है जो शारीरिक और नैतिक दोनो तरह से ताकतवर होते है। पर

[१] The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 60.

नैतिक तौर पर दुर्बल लोगोंका यह कभी अस्त्र नहीं हो सकता। प्यारे लाल लिखते हैं "गांधीजी की तकनीक (technique) का आरम्भ इस सिद्धान्तसे होता है कि अहिंसा निर्बलका बल है।"[1] "सुदृढ़ नेतृत्वमें अहिंसाका उपयोग महिलाएं, बच्चे तथा अपढ़ लोग और ऐसे अन्य लोग भी कर सकते हैं जिन्हें हम दुर्बल मानते हैं। अहिंसाका मतलब है बुराईका प्रतिरोध, बुराईसे न करके अच्छाई से करना। यह बुराई को अच्छाईसे जीतना है। गांधीजी के ही शब्दोंमें "शत्रुसे प्रेम करनेका आदेश केवल उच्चतम आदर्श ही नहीं है अपितु यह सबसे अधिक व्यावहारिक राजनीति भी है।"

सत्य आधारभूत सिद्धान्त है (Basic Principle is Truth). अहिंसाका आधार सत्य है। गांधीजी के कथनानुसार केवल इतना ही कहना काफी नहीं है कि ईश्वर सत्य है, हमें यह भी कहना चाहिए कि सत्य ईश्वर है। (हमारे युगके प्रसिद्ध जर्मन ईसाई पादरी और विचारक नीमोलर (Niemoller) का कहना है कि जिसे हिन्दू सत्य कहते हैं उसे ईसाई 'ईश्वर में विश्वास' मानते हैं)। अहिंसा सत्य के लिए संघर्ष है। इस संघर्षमें यदि यह ठीक प्रकार किया जाता है, तो दोनों पक्ष सत्यकी खोज करते हैं, और इसलिए एक का विजयी होने और दूसरेका पराजित होनेका प्रश्न ही नहीं उठता है। अहिंसा के संघर्षमें "लड़ते-लड़ते मर जाने" की भी बात नहीं होती। अहिंसाका संघर्ष करते समय व्यक्तिको यथासम्भव इस बात के लिए सावधान रहना चाहिए कि उसके संघर्षका लक्ष्य पूर्ण सत्य है, जहां तक कि ईश्वर सत्यको परखने देता है। यदि संघर्ष के दौरानमें किसी समय इस बातकी आशंका हो कि वह सत्यके पथसे हट गया है तो उसे अपना अपराध स्वीकार करनेमें झिझक नहीं होनी चाहिए और संघर्ष से प्राप्त लाभको छोड़ देना चाहिए जैसे गांधीजी ने १९२२ में अपना अहिंसक आन्दोलन यह कहकर वापस ले लिया था कि उन्होंने एक बहुत बड़ी भूल की थी। यद्यपि वह सफलताके करीब पहुंच चुके थे। सत्याग्रहीके लिए विजयकी अपेक्षा सत्य अधिक मूल्यवान है। इस सन्दर्भमें सत्यके सिद्धान्तका मतलब है कि अहिंसाका उपयोग बहुत सोच-समझ कर करना चाहिए। इसका मतलब है कि व्यक्तिको अपनेको ईश्वरके निकट रखना चाहिए और ईश्वरके आदेश पर ही अहिंसाका संघर्ष छेड़ना चाहिए; जैसाकि गांधीजी करते थे।

प्रेम भावनासे अन्तःकरणको अपील (Appeal to the Moral Sense in a Spirit of Love). सत्याग्रहीका मुख्य बल उसकी यह धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वरका कुछ न कुछ अंश होता है और इस अंशमें प्रेमके जरिए और स्वयं कष्ट उठाकर अपील की जा सकती है। सत्याग्रहीको यह पक्का विश्वास होता है कि प्रेम और कष्ट उठानेके सिद्धान्तसे वह उन नैतिक भावनाओंको जाग्रत कर सकता है जो उसके विरोधीमें सुषुप्त रहती हैं। पादरी नीमोलर के शब्दोंमें: कष्ट झेलने वालेको

[1] Gandhiji's Outlook and Techniques (Government of India Publication, p. 168.)

कष्ट बल प्रदान करता है और कष्ट देनेवालेको कमजोर करता है। यदि गाधीजी के कथनानुसार सत्य आधारभूत सिद्धान्त है तो प्रेम वह साधन है जिसके द्वारा सत्यकी अनुभूति की जाती है। गाधीजी कहते थे कि अहिंसा कठोरसे कठोर हृदयोको भी पिघला सकती है। गाधीजी का विश्वास था कि जनताको अधिकार शक्तिकी अपेक्षा समझाबुझाकर अपने पक्षमें करना चाहिए। उनका यह भी विश्वास था कि बुराई करनेवाले से घृणा किये बिना बुराईसे घृणा की जा सकती है। अंग्रेजोंके अपने सम्बन्धमें उन्होंने एक से अधिक अवसर पर स्पष्ट तौर पर यह कर दिखाया। गाधीजी का कहना था कि अग्रेजो से घृणा किये बिना अग्रेज शासकत्वसे घृणा की जा सकती है और इसे पैशाचिक तक कहा जा सकता है। यह ईसा मसीह की इस शिक्षाके अनुरूप है कि 'अपने शत्रुओको भी प्यार करना चाहिए'। गाधीजी के शब्दोंमें "यदि मेरा प्रेम सच्चा है तो मुझे अग्रेजो में विश्वास न रखते हुए भी उनसे प्रेम करना चाहिए।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था " मैं ब्रिटिश साम्राज्य-वादसे लड रहा हू। लेकिन मैं अग्रेजसे नहीं लड रहा हू। मेरी लडाई अग्रेज या किसी अन्य व्यक्तिसे नही है। वे मेरे मित्र हैं, लेकिन मैं ब्रिटिश साम्राज्यवादसे अवश्य लडूगा।"

गाधीजी के इस प्रेमपूर्ण व्यवहारके कुछ उदाहरण ये हैं: जिस अग्रेज न्यायाधीश ने १९२२ में गाधीजी को ६ सालकी सजा देकर अपना 'धर्म' निभाया था उसकी गाधीजी ने प्रशसा की थी। १९२४ में जिस डाक्टर ने गाधीजी के 'अपेण्डिसाइटिस' (appendicitus) का आपरेशन किया था, उसके प्रति गाधीजी प्रेमकी भावना रखते थे। गाधीजी लार्ड इरविन, लार्ड लिनलिथिगो और लार्ड वेवेल वाइसरायो के प्रति प्रेमकी भावना रखते थे, यद्यपि इनमें से हरएक से समय-समय पर उनका तीव्र मतभेद रहा है। १९३९ में जब इस बातकी आशका हो गई थी कि नाजी जर्मनी के विमान अपनी बमबाजीसे लन्दन को तबाह कर देंगे तब युद्धके प्रश्न पर उनका तात्कालिक सहयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। गाधीजी तत्कालीन राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए बारम्बार जिन्ना के पास जाकर अपनी प्रतिष्ठता खोते थे। जिन्ना ने वार्ता के लिए गाधीजी को हमेशा अपने पास दौडाया और खुद गाधीजी के पास कभी नही गये।

अहिंसाके उपयोगमे प्रेमके महत्त्वके सम्बन्धमें महात्मा गाधी इस प्रकार लिखते हैं: "प्रेम कभी कोई माग नही करता, वह हमेशा देता है। प्रेम हमेशा कष्ट उठाता है, वह कभी बदला नहीं लेता।" वह आगे कहते है कि अहिंसाका आधार सत्य और उसका अस्त्र प्रेम है। स्वय कष्ट उठानेके बारेमें गाधीजी कहते हैं "एक राष्ट्र जो असीमित कष्ट उठानेकी क्षमता रखता है, असीमित ऊचाई तक उठने की भी क्षमता रखता है। जितना ही अधिक त्याग होगा उतनी ही जल्दी प्रगति होगी।" गाधीजी आत्म बलिदान, आत्म त्याग और स्वयं कष्ट झेलनेकी शिक्षा देते थे, और इन पर अमल करते थे।

अहिंसाकी अन्य आवश्यकताएं
(Other Requisites of Non-violence)

१. *आन्तरिक शुद्धि (Inner Purity).* गांधीजी के विचारमें सत्याग्रहीको केवल प्रेमका व्यवहार ही नहीं करना चाहिए बल्कि उसकी अन्तरात्माको भी शुद्ध होना चाहिए। गांधीजी के कथनानुसार यदि अहिंसाको तपस्वीका अस्त्र होना है तो आत्म-अनुशासन, शिष्टता और आन्तरिक शुद्धि द्वारा इसके लिए तैयारी की जानी चाहिए। जिस प्रकार विषकी एक बूंद दूधको खराब कर देती है, ठीक उसी प्रकार अशिष्टता सत्याग्रहको दूषित कर देती है। एक अन्य स्थान पर गांधीजी लिखते हैं कि सत्याग्रहीको ब्रह्मचारी रहकर दरिद्रताको अपनाना चाहिए, सत्यका अनुसरण करना चाहिए, और निर्भय रहनेकी आदत डालनी चाहिए। आन्तरिक शुद्धि पर बल देते हुए गांधीजी सत्याग्रहको राष्ट्रीय पूर्णताका आन्दोलन कहते थे। गांधीजी ने अपने जीवनके ३७वें वर्षमें ब्रह्मचर्य का पालन किया, पर उन्होंने हरेक से ब्रह्मचर्य पालन करनेको नहीं कहा। सर गैलेहेड की भांति गांधीजी सचमुच कह सकते थे कि मेरी शक्ति दस व्यक्तियोंकी शक्तिके समान है क्योंकि मेरा हृदय शुद्ध है। शुद्धताके महत्वकी चर्चा करते हुए डा० सुशीला नायर कहती हैं "सत्याग्रहका आधार आन्तरिक शुद्धि और निस्वार्थताकी चट्टान होनी चाहिए ताकि विरोधीके हृदयको प्रभावित करके उसमें सुषुप्त अच्छाई और ईश्वरत्वकी चिनगारीको सुलगाया जा सके।" गांधीजी के ही शब्दोंमें "ब्रह्मचर्य महानतम् अनुशासनोंमें से एक है जिसके बिना मस्तिष्क आवश्यक दृढ़ता नहीं प्राप्त कर सकता।"

२. *अनशन (Fasting).* गांधीजी अनशनको भी अहिंसाके उपयोगमें महत्वपूर्ण तत्व मानते थे। ऐसा मानना भारतीय परम्परा और व्यवहारके अनुरूप ही है। यह आत्मशुद्धिका एक साधन है, और राष्ट्रीय आन्दोलन में यह राष्ट्रीय पश्चातापका साधन है। गांधीजी का दावा है कि "शुद्ध अनशन शरीर, मस्तिष्क और आत्माको शुद्ध करता है। यह शरीर को कष्ट देकर आत्माको बन्धन-मुक्त करता है।" अनशन प्रार्थना है। ईसा मसीह की भांति गांधीजी के जीवनमें अनशन और प्रार्थना अभिन्न थे। वह लिखते हैं: "अनशन या तो प्रार्थना है या प्रार्थनाकी तैयारी है बशर्ते कि अनशन आध्यात्मिक कार्य हो। अनशन टूटे हृदयकी प्रार्थना है।" गांधीजी के कथनानुसार "शरीरको कष्ट देना आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है। पूर्ण अनशन पूर्ण और सही अर्थ में आत्म-निषेध है।"

अनशनके विरुद्ध बहुधा आरोप लगाया जाता है कि यह नैतिक बल प्रयोग है। इस आरोपके उत्तरमें गांधीजी कहते हैं कि "अनशन आन्तरिक प्रेरणाके कारण किया जाता है और वह किसी व्यक्ति विशेषके विरुद्ध नहीं होता है।" "विशेषकर तो यह अपने ही विरुद्ध होता है," "यह आत्म शुद्धिके लिए हृदयकी प्रार्थना है और अनशनकारीको अधिक सावधान और सतर्क बनाता है।" गांधीजी का कहना था कि "पर्याप्त

मानसिक और आध्यात्मिक संघर्षके बाद अनशन करने की प्रेरणा उन्हें ईश्वरसे मिलती थी।" ईश्वर की आवाज उतनी ही स्पष्ट होती थी जितनी प्रत्यक्ष बातचीत करने वाले मनुष्यकी आवाज और इसे मानना ही होता था। यह भ्रान्ति नहीं थी। "मेरे लिए ईश्वरकी आवाज मेरे अस्तित्व से भी अधिक वास्तविक थी।"

राजकोट अनशनके अवसर पर लिखते हुए गांधीजी ने कहा था "मुझे अपने एक भी ऐसे अनशनका स्मरण नहीं है जो व्यर्थ रहा हो। यही नहीं, मुझे अपने सभी अनशनोंमें अमूल्य शान्ति और अनन्त आनन्दका अनुभव होता रहा है। मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि ईश्वरकी प्रेरणाके बिना किया गया अनशन अपनेको व्यर्थमें भूखों मारना है। जिसने मुझे अनशन करने की प्रेरणा दी है वह ही मुझे इसे सहन करनेकी शक्ति भी देगा। यदि परमात्मा चाहता है कि मैं कुछ दिन और जीवित रह कर अपना मिशन पूरा करूं तो कोई अनशन वह चाहे जितना लम्बा क्यों न हो, मेरे शरीरका अन्त नहीं कर सकता।"

जब-जब गांधीजी ने अनशन किया तब-तब उन्होंने चाहा कि जनता उनकी बात में विश्वास करे और यदि उसे गांधीजी की बात न्यायपूर्ण मालूम पड़े तो वह उसे माने। एक समय गांधीजी ने कहा था "मैं चाहता था कि सरकार मेरी बात पर विश्वास करे और यदि वह समझती है कि जिन सुविधाओंको पानेकी मैंने इच्छा प्रकट की थी उन्हें दिया जाना न्यायपूर्ण नहीं है तो वह मुझे शान्तिसे मरने दें।" गांधीजी का कहना था कि उनके सभी अनशनोंका लक्ष्य जनताको नैतिक तौर पर प्रभावित करना था, न कि उस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर दबाव डालना। अनशनोंका उद्देश्य जनताकी अन्तरात्मा को जाग्रत करना था। गांधीजी अनशनके द्वारा आत्म-हत्या नहीं करना चाहते थे। उन्होंने एक अवसर पर लिखा था "मेरी इच्छा मरनेकी नहीं है; मैं अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिए जीवित रहना चाहता हूं। यद्यपि इसके लिए मैं मरनेको भी तैयार हूं।" अनशन गांधीजी के लिए राजनीतिक दाव-पेंच की बात नहीं थी। उसका नैतिक और आध्यात्मिक महत्व था।

महात्मा गांधी निजी और सार्वजनिक दोनों प्रकारोंके अनशनका समर्थन करते थे। पर यदि इनमें से कोई भी अनशन स्वार्थ सिद्धिके लिए किया जाता था तो वह महत्वहीन हो जाता था। गांधीजी ने अनेक बार अपने अनुयायियोंकी गलतियोंके विरुद्ध अनशन किया था। उनका कहना था कि आन्तरिक अनशन भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना बाहरी अनशन। आन्तरिक अनशनके तरीके ये हैं: सत्य के लिए प्रयत्नशील रहना, प्रेमपूर्ण व्यवहार और भौतिक सम्पत्ति और महत्वाकांक्षाको त्यागना। गांधीजी के अनुसार "विशेष परिस्थितियोंमें आमरण अनशन सत्याग्रहका अविच्छिन्न अंग है।" अन्य अच्छे कार्योंकी भांति अनशन करनेमें भी फल की आशा नहीं करनी चाहिए। "जो व्यक्ति फलकी आशासे अनशन करता है वह आमतौर पर विफल होता है।" संक्षेपमें, स्वार्थ सिद्धिके लिए अनशन करना गलत है।

३. अभय (Fearlessness). निर्भयता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी पवित्रता और अनशन। अहिंसा पर सफलतापूर्वक अमल करनेके लिए सत्याग्रही में किंचित् मात्र भी कायरता नहीं होनी चाहिए। गांधीजी का अभय निस्स्वार्थतासे उत्पन्न अभय था। व्यक्ति भयका शिकार तभी होता है जब वह अपनी और अपने स्वार्थकी अत्यधिक चिन्ता करता है। आत्म-त्यागके बाद भयका कोई कारण नहीं रह जाता। गांधीजी के ही शब्दोंमें "यदि आप सत्यका अनुकरण करना चाहते हैं तो आपके लिए अभय बिल्कुल अनिवार्य है। अभय आध्यात्मिकताके लिए सबसे अधिक जरूरी है, कायर कभी नैतिक नहीं हो सकते।" इसी सम्बन्ध में लाओत्से ने कहा था "हमारे भयका कारण 'आत्म' है। यदि हम आत्मको आत्म न मानें तो फिर डरनेका कारण क्या रह जाता है?" सन् १९५३ में हुई गांधी-गोष्ठी में जापान के प्रतिनिधि त्सुरूमी (Tsurumi) ने गांधीजी को साहस और निर्भयतासे ओत-प्रोत शान्तिवादी योद्धा (Militant pacifist) कहा था। आचार्य कृपालानी के कथनानुसार गांधीजी चाहते थे कि जनता केवल बहादुर ही न हो बल्कि निर्भय भी हो। कायरता और भय पाप है। गांधीजी स्वयं कहा करते थे कि कायरकी तरह भाग खड़े होनेसे तो हिंसा का उपयोग ही अच्छा है। यदि किसी व्यक्तिको अहिंसामें पूर्ण विश्वास न हो और वह प्रेमसे और कष्ट उठाकर अपनी और दूसरोंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हो तो उसे हिंसा का उपयोग करना चाहिए।

४. अपरिग्रह (Non-possession). जिस निर्भयताका गांधीजी समर्थन करते थे वह निर्भयता तभी प्राप्त हो सकती है जब व्यक्तिमें जीवनके भौतिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो। ईसाई धर्मके शब्दोंमें व्यक्ति संसारमें रहे, पर संसारका होकर नहीं। अहिंसाको भारत में जितनी सफलता मिली उतनी उसे पश्चिममें नहीं मिली। इसका कारण यह है कि पश्चिममें निर्लिप्ति (non-attachment) की भावना उतनी प्रबल नहीं है, जितनी भारत में, यद्यपि ईसा मसीह ने असन्दिग्ध शब्दोंमें इसकी शिक्षा दी थी। उनकी एक प्रसिद्ध शिक्षा यह है "कल की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कल स्वयं अपनी चिन्ता कर लेगा।" उनका कहना था कि व्यक्तिको उतना ही निश्चिन्त होना चाहिए जितनी कि निश्चिन्त हवामें उड़ने वाली चिड़िया या बगीचेमें उगने वाले पुष्प। गांधीजी का कहना था कि "जीवनकी तथाकथित बहुत सी सुविधाएं मानवके उत्थानमें बाधक हैं और इन सुविधाओंके बिना जीवनका काम चल सकता है। त्यागमें ही सिद्धि होती है।" गांधीजी की शिक्षाओं पर प्रकाश डालते हुए प्यारे लाल कहते हैं कि *सम्पत्तिका रखना अहिंसा के,* और अपने को सम्पूर्ण संसारके एक रूप बनानेके आदर्शके विपरीत है। सम्पत्ति न रखना ही आदर्श है। क्योंकि सम्पत्ति रखनेके लिए हिंसाका उपयोग जरूरी हो जाता है। ऐसी हालत में गांधीजी की आर्थिक व्यवस्थामें कर्तव्य पर बल दिया गया है, अधिकार पर नहीं।

५. धैर्य (Perseverance). यदि अहिंसा एक शाश्वत (eternal) सद्धान्त है तो फिर व्यक्तिको परिणामोंके लिए उत्सुकता नहीं करनी चाहिए।

व्यक्तिको दैवी धैर्य और सब्रकी आदत डालनी चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि बहुधा हिंसाकी अपेक्षा अहिंसाको सफलता प्राप्त करनेमें अधिक समय लगता है। हमें यह भी न भूलना चाहिए कि लडाईमें परिणाम जल्दी तो निकल सकता है पर यह परिणाम कभी स्थायी नहीं होता। एक अहिंसक व्यक्ति पराजय जानता ही नहीं, क्योंकि उसका परमेश्वरमें असीमित विश्वास होता है। विफल होने पर भी उसे यह सन्तोष रहता है कि वह अनन्त काल के लिए कार्य कर रहा है। टी० एच० ग्रीन के शब्दोंमें एक अहिंसक व्यक्ति जल्द ही यह समझ लेता है कि एक अच्छे लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए बार-बार प्रयत्न करना और बार-बार विफल होना जरूरी हो सकता है।

गांधीजी आलस्य और भाग्यवादको धैर्य और सब्र नहीं मानते थे। आवश्यकता पड़ने पर गांधीजी एक क्षणकी भी देर किये बिना तत्काल कार्य करते थे। सन् १९४२ की 'करो या मरो' की नीति इसका एक अच्छा उदाहरण है। भीषण सघर्षके बीच सन् १९४२ में जब भारतका भाग्य अधरमें लटक रहा था उस समय गाधीजी में इतना नैतिक साहस था कि उन्होंने अग्रेजो से कहा कि वे भारत को भगवान और अराजकताके भरोसे छोड़कर भारतसे चले जाय।

गांधीजी की अहिंसा (Gandhiji's Non-violence Graded). महात्मा गाधी की विचारधाराके विद्यार्थी बहुधा इस असमंजसमें रहे हैं कि गाधीजी की अहिंसा असीमित और परमपूर्ण है या नहीं। मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे लोगों का विचार है कि गाधीजी की अहिसा परमपूर्ण (absolute) है। पर आम तौर पर ऐसा नही माना जाता है जैसा कि पहले बताया जा चुका है। गाधीजी का कहना था कि जो लोग अहिंसा पर निर्भर नहीं रह सकते है, वे अपनी शक्तिका उपयोग कर सकते हैं। राष्ट्रोमें होनेवाले सघर्षमें भी गाधीजी हमेशा निष्क्रिय प्रतिरोध (passive resistance) की शिक्षा नहीं देते थे। १९३०-३९ और १९४०-४९की अवधिमें जब जापान ने चीन में निर्दय युद्ध छेड रखा था, गाधीजी के विचारमें यह उचित ही था कि चीन जापान के विरुद्ध हथियार उठाये। उनकी ऐसी ही राय पोलैण्ड के बारेमें भी थी जब १९३९ में जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया था। ऐसी हालतोंमें भौतिक प्रतिरोधको गाधीजी अहिंसाके निकटतम मानते थे। साथ ही उन्होंने अहिंसाको कार्य-सम्पादनका साधन नहीं माना। उन्होंने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि सत्याग्रहीको अहिंसाका पालन, मनसा, वाचा और कर्मणा से करना चाहिए।

गांधीजी की अहिंसा का आधार धार्मिक (Gandhiji's Non-violence Religiously Motivated). जैसा कि बार-बार कहा जा चुका है, गाधीजी मूलतः धार्मिक पुरुष थे। अपने धार्मिक विचारोके कारण, ही उन्होंने अहिंसाको अपनाया। वह नैतिकताको धर्मका पर्यायवाची मानते थे। उनके धर्ममें रीति रिवाजों या अन्धविश्वास आदि का कोई स्थान नहीं था।

उनका कहना था कि "नैतिकता वस्तुओंका आधार है और नैतिकताका आधार सत्य है।" मनुष्यकी आध्यात्मिक मुक्ति जीवन और समाजके कार्य कलापोंसे पृथक नहीं है। हर प्रकार से अच्छा जीवन बिताना ही मुक्ति है। "यदि कोई व्यक्ति आत्म-अनुभूति करना चाहता है और अपने भीतर दवी भावना को जाग्रत करना चाहता है तो उसे निम्नलिखित बातों पर अमल करना चाहिए : आत्म-शुद्धि, अहं से मुक्ति, त्याग, भक्ति, ज्ञान, आत्म लोप (self-effacement), प्रार्थना, मौन, ब्रह्मचर्य, व्रत और नियंत्रित भोजन। इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित जीवनके बल पर ही गांधीजी अहिंसाका उपयोग किया करते थे। गांधीजी ने निम्नलिखित पांच बातोंकी प्रतिज्ञा ले रखी थी। सत्य, अहिंसा, सम्पत्ति त्याग, चोरी न करना और ब्रह्मचर्यका पालन।

गांधीजी शक्तिके पुंज (Gandhiji a tower of Strength). गांधीजी अपनी नैतिक और आध्यात्मिक महानताके कारण लाखों व्यक्तियोंके लिए शक्ति के पुंज थे। गांधीजी की इस शक्तिके पांच मुख्य कारण थे। गांधीजी का परमेश्वरमें अडिग विश्वास था। वह ईश्वरको सर्वव्यापी मानते थे। अपने जीवनके आरम्भसे ही उन्होंने परमेश्वरसे आदेश लेना सीख लिया था। एक बार ईश्वरका आदेश पा लेनेके बाद फिर पीछे लौटनेका प्रश्न ही नहीं उठता था। किसी प्रकारके सोच-विचारकी जरूरत नहीं रह जाती थी। उन्होंने लिखा था "शक्ति ईश्वरसे आती है ... मैंने अपनी कोई शक्ति होनेका दावा कभी नहीं किया।" "परमेश्वर अहिंसककी ढाल है।" आमरण अनशन को भी वह "सत्याग्रह का अभिन्न अंग" मानते थे।

गांधीजी को जितना विश्वास परमेश्वरमें था उतना ही अडिग विश्वास उन्हें अपने साथी मनुष्योंमें था। उन्हें मानव सम्भावनाओंमें असीमित विश्वास था। उनका पक्का विश्वास था कि मानव स्वभाव हमेशा सुधारा जा सकता है। आज के संसारमें जब लोगोंका विश्वास परमेश्वर और मनुष्योंसे हटकर मशीनोंमें होता जाता है, गांधीजी का यह विश्वास बहुत ही स्फूर्तिदायक है। यदि ईसा मसीह के जन्मके समय देवदूतोंने "उच्चतमका श्रेय परमेश्वर को है" का नारा लगाया था और १९वीं शताब्दीमें स्विनबर्न ने "उच्चतमका श्रेय आदमी को है" का नारा लगाया तो आधुनिक युगका नारा है "उच्चतमका श्रेय मशीनको है।" यदि हम परमेश्वर और मनुष्यमें विश्वास करना छोड़कर केवल मशीनमें ही विश्वास करें तो हम अपनेको मनुष्योंमें सबसे अधिक निराशावादी प्राणी पायेंगे।

निस्स्वार्थता, पवित्रता और अनुशासित जीवन तथा इन्द्रिय नियन्त्रणसे उत्पन्न गांधीजी की निर्भयताकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। अतः इस बारेमें और अधिक नहीं लिखा जायगा।

अपनी महानता, क्षमाशीलता, और मेल करने (reconciliation) की प्रवृत्तिके कारण गांधीजी शक्तिके स्तम्भ थे। वह अपनी विजयको कभी उस हद तक नहीं ले जाते थे कि विरोधीसे हमेशाके लिए सम्बन्ध टूट जाय। वह कभी विरोधीको नीचा नहीं दिखाना चाहते थे। उनके विभिन्न अहिंसक आन्दोलनोंमें विजय और पराजय

पश्चिमी देशोंमें भी जहां व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकताका स्तर ऊंचा है वहां भी पारिवारिक एकता और बड़े परिवारके प्रति वफादारीको धक्का लगा है। पड़ोसी सम्बन्धों और सामुदायिक भावनाने रस्मी रूप ग्रहण कर लिया है। इस सबके बावजूद यह मानना ही चाहिए कि मशीन भी उसी प्रकार ईश्वरकी देन है जिस प्रकार शारीरिक श्रम। इसलिए बुद्धिमानी यही है कि दोनोंका विकास किया जाय और मशीनको मनुष्यका स्थान न लेने दिया जाय और उसे यह मौका न दिया जाय कि वह मानव व्यक्तित्वको कुचल दे।

ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था का पुनरुद्धार (Revival of Village Economy). गांधीजी के विचारोंका केन्द्र ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था थी। उन्होंने अपना समय और ध्यान गांवके आन्तरिक विकासमें लगाया था। वह सबसे पहले स्वदेशी उद्योगों का पुनरुद्धार करना चाहते थे ताकि लोगोंको काफी भोजन मिल सके और वे क्षुधासे पीड़ित न हों। उनकी रायमें ऐसी आर्थिक व्यवस्था निन्दनीय है जो जनताका शोषण करके कुछ थोड़ेसे लोगोंके हाथोंमें सम्पत्ति केन्द्रित करती है। वह हाथकी कताई और बुनाई पर अधिक जोर देते थे। इसका आर्थिक महत्त्व तो था ही पर साथ ही साथ इसने अंग्रेजी साम्राज्यवादके सिंहासनको हिला दिया था। अन्य कुटीर उद्योगों जैसे, गुड़ बनाना, धान कूटना, तेल पेरना, कागज बनाना, चमड़ेका काम, टोकरियां बनाना आदि पर भी गांधीजी ने जोर दिया। हालांकि इन उद्योगोंकी उन्नति मात्रसे ही भारतके करोड़ों लोगोंके भोजन वस्त्र, और आवासकी समस्याएं हल नहीं हो सकती। गांधीजी ने सर्वोदयकी योजनाके जरिए सबकी उन्नतिके विचारको जन्म दिया। सर्वोदयका आज भारतमें व्यापक उपयोग किया जा रहा है।

आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रमें गांधीजी चाहते थे कि भारतमें स्वशासित और स्वावलम्बी ग्राम गणतन्त्रोंका जाल बिछ जाय। हर गांव या गांवोंके समूहमें अपने उद्योग धन्धे हों और उनमें से हरएक का स्वशासित अस्तित्व हो। आर्थिक व्यवस्था और प्रशासन दोनोंका विकेन्द्रीकरण मुख्य बात थी। गांधीजी राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्थाके लिए क्षेत्रीय आत्म-निर्भरताके विचारका समर्थन करते थे। खाद्यान्न और वस्त्रोंमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके वह विरोधी थे। वह चाहते थे कि खपतसे अधिक पैदा होने-वाली वस्तुओंका और विलासकी चीजोंका ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो, पर आज हालत यह है कि जिन जमीनों पर खाद्यान्न पैदा किया जाना चाहिए उनमें से कुछ पर ऐसी चीजें पैदा की जाती हैं जिन्हें बाहर भेजकर डॉलर प्राप्त किया जा सके। मुमकिन है कि व्यापक सिंचाई और विद्युत् योजनाओंके कारण आगे चलकर भारतको अपने मतलब भरका खाद्यान्न पैदा करनेके लिए इतनी जमीनकी जरूरत न पड़े जितनी की जरूरत आज दिन पड़ती है। पर गांधीजी के इस विचार पर ध्यान न देना बेवकूफी होगी कि भारतके गांव अपनी आधारभूत आवश्यकताओंको स्वयं पूरी करनेमें समर्थ हों। एक समकालीन लेखकके अनुसार गांधीजी नहीं मानते थे कि किसी तरहका

शारीरिक श्रम 'ईश्वरका श्राप' है बल्कि वह शारीरिक प्रयत्नको व्यक्तित्वके विकास का साधन मानते थे।

सीमा सिद्धान्त (Doctrine of Limits). सम्पत्तिके सम्बन्धमें गांधीजी का सिद्धान्त सीमा-सिद्धान्तसे मिलता-जुलता था। वह जीवन-स्तरको सरल बनानेमें विश्वास रखते थे। उनका कहना था कि व्यक्तिको स्वयं अपनी सम्पत्तिको सीमित कर, त्यागकी नीति अपनानी चाहिए। गांधीजी अनुभव करते थे कि सम्पत्ति चिन्ताका कारण होती है और इसके बहुतसे समाज विरोधी परिणाम होते हैं। मनुष्य अपने ही जालमें फंस जाता है। गांधीजी का यह विचार ठीक ही था कि जीवनकी तथाकथित सुविधाएं केवल अनावश्यक ही नहीं हैं अपितु मानव उत्थानमें बाधक भी हैं।" इस सम्बन्धमें प्यारेलाल जी का कहना है कि अहिंसा और वसुधैव कुटुम्बकम्के आदर्शसे सम्पत्तिका मेल नहीं बैठता। सम्पत्ति न रखना ही आदर्श है। गांधीजी का कहना था कि सम्पत्तिके एकाधिकारके लिए हिंसाकी आवश्यकता पड़ती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गांधीजी की अहिंसाका आधार किसी वस्तुके प्रति अनुराग न होना था।

सीमाके सिद्धान्तसे गांधीजी ने न्यास (Trusteeship) के सिद्धान्तका विकास किया। वह चाहते थे कि अमीर लोग अपनेको समाजका ट्रस्टी मानें। उन्हें अपनी सम्पत्तिका उपयोग समस्त समाजके हितमें करना चाहिए। ईसाई धर्मके कथनानुसार कोई व्यक्ति सम्पत्तिका मालिक नहीं होता। वह केवल ईश्वरकी तरफसे सम्पत्तिका रखवाला होता है। गांधीजी के ही शब्दोंमें "धनी लोगोंसे यह आशा नहीं की जाती कि वह अपनी सम्पत्तिको फेंक दें, पर उनसे यह आशा अवश्य की जाती है कि वह अपनी सम्पत्तिमें लिप्त न रहें।"

दुर्भाग्यसे इतिहासमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन बहुत ही कम पाया जाता है। मनुष्य सम्पत्तिसे इतना ज्यादा लिप्त रहता है कि मैकियावेली के प्रभावपूर्ण शब्दोंमें, "मनुष्य अपने पिताकी हत्याको जल्दी भूल जाता है, पर अपनी पैतृक सम्पत्तिकी हानिको देरमें भूलता है।" फिर भी इस वास्तविकतासे भविष्यके लिए कुछ आशा बंधती है कि विनोबा भावे छोटे और बड़े भूस्वामियोंसे ४० लाख एकड़ भूमि दानमें पा चुके हैं। सम्भव है उचित, नैतिक और आध्यात्मिक वातावरण पाकर न्यासका सिद्धान्त वास्तविकता हो जाय। मानव विकासमें वर्तमान स्तरमें किसी न किसी किस्मका दबाव जरूरी मालूम होता है। लेकिन गांधीजी इसे हिंसा मानेंगे।

क्या गांधीजी समाजवादी थे? (Was Gandhiji a Socialist?) ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि गांधीजी उस अर्थमें समाजवादी नहीं थे जो अर्थ आज इस शब्दको दिया जाता है। यदि वह समाजवादी थे तो उनका समाजवाद ग्राम समाजवाद था। वह उस प्रकारके सिद्धान्तवादी समाजवादी नहीं थे जो चाहते हैं कि उत्पादनके साधनोंपर राज्यका अधिकार रहे। उनका विश्वास था कि जो मनुष्य आवश्यकतासे अधिक उपभोग करता है वह दूसरोंका हक मारता है। इस

बार लुई फिशर ने गाधीजी से पूछा कि आप समाजवादके क्या मतलब समझते हैं। इसके उत्तरमें गाधीजी ने कहा "मेरे समाजवादका मतलब है सबके लिए समाजवाद। मैं अन्धे, गूगे और बहरोंकी राख पर प्रगति नहीं करना चाहता; ....मैं अपने व्यक्तित्वकी पूर्ण अभिव्यक्तिकी स्वतत्रता चाहता हूं.............. अन्य प्रकारके समाजवादमें व्यक्तिगत स्वतत्रता नही रहती। आपका कुछ नही होता। आपका शरीर भी आपका नही होता।"[1]

यद्यपि गाधीजी सामान्य अर्थमे समाजवादी नही थे पर सहयोगके विभिन्न साधनो मे उनका दृढ विश्वास था। वह कहा करते थे कि "मैं जन्मत. सहयोग करने वाला हू।" साथ ही वह अनुदारता और उदारता, समाजवाद और साम्यवाद तथा अराजकतावाद में भी कुछ न कुछ अच्छाई पाते थे।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसका निचोड काका साहब कालेलकर के कथनानुसार यह है कि भारतकी समस्याओंका हल गाधीजी निम्नलिखित बातोंमें पाते थे: उत्पादनका विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीय आत्म निर्भरता; अत्यधिक धन और दरिद्रता से बचाव, सभी धर्मोंके लिए समान आदर; समाजमें ऊंच और नीचकी भावना का त्याग, धन और सम्पत्तिका समूचे मानव समाजके कल्याणके लिए उपयोग; विलासी जीवनके भौतिक स्तरको कम करके जीवनके नैतिक स्तरको उठाना; प्रतिशोध मूलक सजाओंकी समाप्ति और शान्ति तथा व्यवस्था कायम करनेके प्रयत्नमें कमसे कम शारीरिक शक्तिका उपयोग।"[2]

क्या गांधीजी अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे?
(Was Gandhiji an Internationalist?)

गाधीजी के समयमें भारतके देशभक्तोंका सारा ध्यान और प्रयत्न राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनेमें केन्द्रित था। गाधीजी इसके अपवाद नही थे। फिर भी भारतके बाहर ससारकी हलचलोंमें उनकी दिलचस्पी थी। एक फ्रांसीसी समाचार पत्रमें उन्होंने कहा था "मेरी राष्ट्रीयता गहरी अन्तर्राष्ट्रीयता है।" गाधी-गोष्ठीमें भाग लेनेवाले डॉ० राल्फ बुंचे के कथनानुसार यद्यपि गाधीजी के प्रयत्न भारत पर केन्द्रित थे, पर वह सच्चे अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे।

एक बात और है, गाधीजी के जीवन और विचारधाराके दो महान् मौलिक कार्य सिद्धान्त—सत्य और अहिंसा, विश्वव्यापी सिद्धान्त हैं। इस अर्थमें गाधीजी एक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे। फिर भी उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और कर्त्तव्योंके बारेमें किसी पूर्ण सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं किया। यद्यपि उन्होंने शान्ति-सेनाओं

---

1 Quoted by Pyarelal in 'Harijan' 4-8-46.
2 Gandhian Outlook and Technique, pp. 372-73.

की चर्चा की, पर इन सेनाओंकी भर्ती, इनके संगठन और उपयोगके प्रश्नों पर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। वे सुदूर भविष्यके स्वप्न ही बने रहे। यदि गांधीजी आज जीवित होते तो सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें वह दूसरे नेहरू होते। पर यह तो केवल कल्पना मात्र है।

गांधीजी के धार्मिक विचार
(The Religious Ideas of Gandhiji)

आम तौर पर किसी व्यक्तिकी राजनीतिक विचारधारा लिखते समय उसके धार्मिक विचारोंका जिक्र नहीं किया जाता पर गांधीजी के सम्बन्धमें बात भिन्न है। उनके लिए राजनीति और धर्म एक दूसरेमें इतने घुले-मिले थे कि उनके धार्मिक विचारों का संक्षिप्त विवरण देना अनुचित न होगा।

सब धर्मोंकी समानता (The Equality of All Religions). गांधीजी का पक्का विश्वास था कि सभी धर्म सच्चे, सप्रमाण हैं, साथ ही सभी धर्म अपूर्ण हैं। उन्ही के शब्दोंमें 'हर राष्ट्रका धर्म उतना ही अच्छा है जितना किसी दूसरे राष्ट्रका धर्म।' निस्सन्देह भारतके धर्म उसकी जनताके लिए ठीक हैं। हमें आध्यात्मिक परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं है। 'सबसे आवश्यकता यह नहीं है कि एक ही धर्म हो बल्कि यह है कि विभिन्न धर्मोंके अनुयायी एक दूसरेका आदर करें और सहनशीलतासे काम लें।" सभी धर्म सत्य पर प्रकाश डालते हैं पर सभी धर्म अपूर्ण हैं और गलती कर सकते हैं। "मेरा विश्वास है कि ईसाई धर्म उतना ही अच्छा है जितना कि मेरा धर्म। ऐसा एक भी धर्म नहीं है जो बिल्कुल पूर्ण हो। सभी धर्म समान रूपसे कुछ न कुछ अपूर्ण हैं।" "सभी धर्म सत्य पर प्रकाश डालते हैं, पर सभी अपूर्ण हैं और गलती कर सकते हैं।"

यद्यपि गांधीजी सभी धर्मोंकी समानता पर पक्का विश्वास रखते थे और अपने विश्वास पर अमल करते थे पर उन्होंने इस धारणाका विश्लेषण बहुत सावधानीसे नहीं किया था। हमारे विचारमें सभी धर्म एक दूसरेके बिल्कुल समान नहीं हैं। उनमें समानता भी है और असमानता भी और असमानता भी उतनी महत्त्वपूर्ण है जितनी समानता।

फिर भी गांधीजी का इस बातका श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने बड़ी सावधानीसे, आरम्भसे लेकर अन्त तक, अपने सभी आश्रमोंमें धार्मिक एकता पर अमल किया। वह सभी धर्मोंकी प्रार्थनाओं और सभी धर्मोंके धार्मिक ग्रन्थों, भगवद्-गीता, अवस्ता, सर्मन ऑन द माउन्ट, ग्रन्थ साहब और कुरान, का उपयोग करते थे। साथ ही उन्होंने इस बातसे जोरोंसे इन्कार किया था कि वह एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनका लगाव किसी खास धर्मसे नहीं था। उन्होंने सभी धर्मोंके कुछ अंशोंको अपनी समझके अनुसार हिन्दू धर्ममें मिलाया और उन सबका पुनः निर्माण किया। उनकी धार्मिक एकताकी भावनाका सबसे बड़ा उदाहरण वह प्रार्थना है जो एक मुस्लिम

भूतपूर्व न्यायाधीशने १९३० में नमक सत्याग्रह आरम्भ करनेके पूर्वकी थी। इसे हिन्दू प्रेरणाके अन्तर्गत एक मुसल्मान द्वाराकी गई ईसाई प्रार्थना कह सकते हैं। प्रार्थना यह है

"ऐ ईश्वर तेरे नाम पर हम आज शुभारम्भ करते है। हमें आगे बढनेकी, हमते-हसते सभी कष्टोंको सहनेकी शक्ति दीजिए। हमें ऐसा हृदय दीजिए जो आपके गुण गीत गाये। हमें अपने ज्ञानमें प्रकाशित कीजिए और हमारे हृदयमें दुर्भावना और घृणाको दूर कीजिए। हमारे किसी भी काममें कालिमा न लगने पाये। हमारे विरोधियों को भी सही मार्ग पर लगाइए और उन्हें आशीर्वाद दीजिए। हमारे कार्यको भी अपना आशीर्वाद दीजिए क्योंकि आपका यह आश्वासन है कि अच्छाई और सत्यकी हमेशा विजय होती है।

विभिन्न धर्मोंके बारेमें गांधीजी के निम्नलिखित कथन महत्वपूर्ण है. "ससार के धर्मोंका मैत्रीपूर्ण अध्ययन हरएकका पावन कर्त्तव्य है, "मेरे लिए बाइबिल उसी प्रकार धार्मिक पुस्तक है जिस प्रकार गीता और कुरान।" मैं बाइबिल में उतना ही विश्वास करता हू जितना गीतामें। "मैं ससारके सभी बडे धर्मोंको अपने धर्मके समान ही सच्चा मानता हू।"

धर्मका तत्व (The Essence of Religion). यद्यपि गांधीजी बहुत रहस्यवादी थे और बहुधा 'आन्तरिक पुकार' (The Inner Voice) से प्रेरित होते थे पर जब-जब धर्मकी व्याख्या करनेका अवसर आया उन्होंने इसकी व्याख्या व्यावहारिक तौर पर की। गांधीजी ने एक बार कहा था कि सबकी सेवा करना तथा सबको मित्र बनाना सच्चे धर्मका सार है। उन्होंने एक अन्य अवसर पर अच्छाईसे बुराईको जीतनेको धर्म कहा था। उन्होंने कहा था अपने मित्रोंके प्रति मैत्रीपूर्ण रहना तो सरल है। पर धर्मका सार-तत्व है ऐसे व्यक्तिको भी मित्र बनाना जो आपको अपना शत्रु मानता हो। महानता और उदारता उनके धर्मकी कुंजिया थी।

हृदय-धर्म (Heart Religion). गांधीजी का धार्मिक दृष्टिकोण केवल मानववादी या मानवतावादी ही नही था। वह अपने भीतरी धर्मको 'हृदयका धर्म' कहते थे। उनके स्मरणीय शब्द ये हैं "मुझे तो ईश्वर पर विश्वास और उसकी प्रार्थनाका सहारा है। यदि मेरे टुकडे-टुकडे भी कर दिये जाय तो ईश्वर मुझ उसमें विश्वास करने और उसके अस्तित्वकी घोषणा करनेकी शक्ति देगा।" जब वह १९१४ में दक्षिण अफ्रीका से लौटकर भारत आये थे तब उन्होंने कहा था कि "धर्म ही उनके जीवनका निश्चित पथ-प्रदर्शक है।" अपने हार्दिक धर्मके दृष्टिकोणमें गांधीजी वैष्णव व जैन धर्ममें तथा गीतासे बहुत प्रभावित हुए थे। जीवनकी पवित्रताकी पहली झलक उनको जैन धर्मकी शिक्षाओंसे मिली थी। सभी सच्चे धार्मिक पुरुषोंकी भांति ही गांधीजी का ईश्वरमें विश्वास युक्तिका विरोधी न होकर उसके ऊपर निर्भर चुका था।

सत्य ही ईश्वर है (*Truth is God*). *जैसा कि पहले कहा जा चुका है,* गांधीजी के लिए सत्य ही सब कुछ था। उनका कहना था कि सत्य ही ईश्वर है। उनके शब्द इस प्रकार हैं "मैं ईश्वर को व्यक्ति नहीं मानता। मेरे लिए सत्य ही ईश्वर और ईश्वरकी विधि है, ईश्वर सत्यके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" "हम सबमें सत्य होता है पर पूर्ण सत्य नहीं।" "धर्म आत्माके विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है।" आत्माका बल संसारमें सबसे बड़ा बल है। इस सबसे यह स्पष्ट है कि गांधीजी केवल युक्तिवादी ही नहीं थे।

हिन्दुओंके हिन्दू (A Hindu of Hindus). यद्यपि गांधीजी सभी धर्मोंके प्रति—आदिम धर्मके प्रति भी—सहनशील और उदार थे, पर वह अपनेको "हिन्दुओंके हिन्दू" और सनातनी कहते थे। लेकिन वह यह भी कहा करते थे कि जितने वह हिन्दू हैं उतने ही वह ईसाई या मुसलमान भी हैं। वह हिन्दू धर्मकी बुराइयोंको जानते थे, *लेकिन उन्होंने उसको भीतर से सुधारनेकी कोशिश की। वह मूर्ति-पूजाका* समर्थन करते थे, यद्यपि वह स्वयं मूर्ति-पूजा नहीं करते थे। वह गो रक्षामें विश्वास करते थे पर इसे उस हद तक नहीं ले जाते थे जिस हद तक कुछ राजनीतिक और धार्मिक व्यक्ति ले जाते हैं। उन्होंने छुआछूतके विरुद्ध युद्ध छेड़ा, पर साथ ही वह वर्णाश्रम धर्मको मानते थे। वह रामनामके उच्चारणको मानवीय बुराइयोंका अचूक इलाज मानते थे। हिन्दूधर्मकी सहनशीलताकी विशदताके कारण उनके हृदयमें हिन्दू धर्मके लिए बड़ा आदर था। वह इस व्यापक मानते थे। वह कहते थे कि हिन्दू धर्म 'अपनी सहनशीलताके कारण उस समय तक कायम रहेगा जब तक कि सूर्य चमकता है।' उनका कहना था कि दूसरे धर्मके लोगोंका हिन्दू धर्मसे और हिन्दू धर्मसे डरनेकी जरूरत नहीं है।

गीतामें श्रद्धा (Regard for Gita). गांधीजी का गीतामें विशेष श्रद्धा थी। वह कहते थे "*मैं गीताको सत्यके ज्ञानके लिए अद्वितीय पुस्तक मानता हूं।*" जीवनके अन्तिम वर्षोंमें गांधीजी को 'Sermon on the Mount' से भी अधिक गीतासे सन्तोष मिला। "हिन्दू धार्मिक पुस्तकोंसे मेरी आत्माकी भूख मिट जाती है।" साथ ही साथ वह धार्मिक पुस्तकोंकी लकीरके फकीर न थे। उन्होंने लिखा था "धार्मिक पुस्तककी किसी बात को मैं अपनी तर्कबुद्धिसे अधिक महत्त्व नहीं देता।'

धर्म परिवर्तनका विरोध (Opposition to Proselytism). गांधीजी धर्म परिवर्तनके विरोधी थे। विशेषकर जब धर्म परिवर्तन सामूहिक रूप ग्रहण करता था और मुख्यतः भौतिक लाभके लिए किया जाता था। उनका कहना था कि धर्म परिवर्तन तो हृदय से होता है। इसका अर्थ होता है आत्म शुद्धि और आत्म अनुभूति। मानव कल्याणके नाम पर लोभ व लालच दिखाकर धर्म परिवर्तनकी गांधीजी निन्दा करते थे। उन्होंने ईसाई मिशनरियोंको सलाह दी थी कि वे धर्म-परिवर्तनके कार्यको अपने शैक्षिक, मेडिकल और इसी प्रकारके अन्य कार्योंसे पृथक रखें। गांधीजी ने एक बार लिखा था "यदि मुझे अधिकार होता और मैं विधि

बना सकता तो मैं भौतिक लाभके लिए धर्म परिवर्तनको एकदम बन्द कर देना।" उनका कहना था कि धर्म परिवर्तनके तरीकोंको सीजरकी पत्नीकी तरह सन्देहसे परे होना चाहिए। उनका कहना था कि यदि कोई हिन्दू अपने धर्मसे असन्तुष्ट है तो "उससे कहिए कि वह हिन्दू धर्मका अध्ययन करके अच्छा हिन्दू बने।" प्रत्येक धार्मिक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह एक हिन्दूको अच्छा हिन्दू बननेमें, एक मुसलमान को अच्छा मुसलमान बननेमें और एक ईसाईको अच्छा ईसाई बननेमें सहायता दे। एक व्यक्तिको यह अधिकार है कि वह हिन्दू धर्ममें सुधार करे पर उसे यह अधिकार नहीं है कि वह उसे उखाड फेंके। एक व्यक्तिको यह भी अधिकार है कि वह प्रार्थना करे कि दूसरा व्यक्ति उसके धर्मको स्वीकार करले पर उसे यह अधिकार नहीं है कि वह धर्म परिवर्तनका प्रचार करे और दूसरोंको अपने धर्ममें लाये। गांधीजी का कहना था कि हिन्दू धर्मकी कठिनाइयोंका ईसाइयोंको लाभ नहीं उठाना चाहिए। छुआछूतकी समाप्ति हिन्दुओंके प्रयत्न से ही होगी। ईसाई मिशनरियों को हिन्दू धर्मके दुर्भाग्योंसे लाभ नहीं उठाना चाहिए। 'यदि हम हिन्दू छुआछूत रूपी दैत्यको नष्ट नहीं कर देते तो वह हिन्दुओंको और हिन्दू धर्म दोनोंको नष्ट कर देगा।'

ईसाई मिशन और मिशनरियों के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards Christian Missions and Missionaries). यद्यपि गांधीजी ईसा मसीह के व्यक्तित्वसे बहुत आकर्षित थे पर ईसाइयों और ईसाई मिशनोंके बारेमें उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ विरोधी था। इसका एक कारण यह था कि अपने जीवनके आरम्भमें जिन मिशनरियों और भारतीय ईसाइयोंसे उनका सम्पर्क रहा था वे संकुचित विचारोंके थे। करीब-करीब उन सबके बारेमें उनकी राय यह थी कि अछूतोंको येन-केन प्रकारेण ईसाई बनाना ही उनका काम था। साथ ही स्वर्गीय सी० एफ० एण्ड्रयूज जो पहले ईसाई मिशनरी रह चुके थे, और कुछ भारतीय ईसाई गांधीजी के घनिष्ठ मित्रों और साथियोंमें से थे। उनमेंसे बहुतसे अब भी जीवित हैं और शिक्षा तथा अर्थशास्त्र सम्बन्धी गांधीजी के विचारोंको व्यावहारिक रूप देने में लगे हैं। गांधीजी बराबर निस्स्वार्थ सेवा करनेकी सलाह मिशनरियोंको दिया करते थे। "निस्वार्थ सेवा जिसमें स्वार्थका लेशमात्र भी अंश न हो स्वयं उच्चतम धर्म है"······धर्म परिवर्तन और सेवा एक साथ चलेंगे।" "उन्होंने मिशनरियोंसे अपना साम्राज्यवाद छोड देनेको कहा था।" जैसे ही आप साम्राज्यवाद छोड देंगे वैसे ही आपके लिए सेवाका क्षेत्र असीमित हो जायेगा। "उन्होंने उनसे कहा था कि भारतीयोंको जो कुछ वह देना चाहते हैं उसे वह खुद अपनायें।" गांधीजी का कहना था कि "मिशनरियोंको अध्यात्म विद्यासे अधिक सत्यका प्रचार और अनुकरण करना चाहिए।" उनका विश्वास था कि ईसाई उतने त्यागी नहीं होते जितने त्यागी हिन्दू होते हैं। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि मिशनरी लोग भारतीय ईसाइयोंके विशेष संरक्षक या विरोधी बनें। वह चाहते थे कि ईसाई लोग दूसरे धर्मोंको भी मान्यता

हैं। "दूसरे धर्म चाहे जितने अधूरे हों पर वे अपने अनुयायियोंके लिए मूल्यवान हैं।" मैं जनताकी आस्था और निष्ठाको मजबूत बनाता हूं पर ईसाई मिशन इसे कमजोर करता हैं।

ईसा मसीह के लिए आदर (Reverence for Christ). ईसाइयों और उनके मिशनों के प्रति कुछ विपरीत विचारोंके बावजूद गांधीजी ईसा मसीह के व्यक्तित्वका,बहुत आदर करते थे। उनका कहना था कि "ईसा मसीह पूर्णताके उतने नजदीक थे जितना ज्यादासे ज्यादा नजदीक होना सम्भव है।" पर उन्हें पूर्ण कहनेका मतलब है कि ईश्वर को भी ईसा मसीह से श्रेष्ठ न मानना। वह ईश्वर के पुत्र उसी प्रकार थे जिस प्रकार हममें से हरएक ईश्वर का पुत्र है। वह मानवताके महान् शिक्षक और शहीद थे, पर वह एकमात्र ईश्वर के अवतार और ईश्वर और मनुष्यके बीच मध्यस्थ नहीं थे। वह मुक्तिदाता (saviour) नहीं थे। उनके प्रायश्चितका आध्यात्मिक महत्त्व हो सकता है पर इससे अधिक और कुछ नहीं। उनके आश्चर्यजनक कार्योंका कारण उनका आत्मिक बल (psychic power) था।

गांधीजी के प्रिय भजनोंमें ईसाइयोंके निम्नलिखित भजन भी थे 'Lead kindly Light' और 'When I Survey the Wondrous Cross'। ये भजन गांधीजी की हत्याके बाद भारतीय आकाशवाणी द्वारा गाये गये थे।

मौन व्रत (Practice of Silence). गांधीजी मौन रहनेका महत्त्व जानते थे। अपने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें वह नियमित तौर पर सप्ताहमें एक दिन मौन रहते थे। शारीरिक और आध्यात्मिक लाभके लिए वह मौन रहना जरूरी मानते थे। मौन रहनेके क्षणोंमें ही वह भगवान की आवाजको सुन सकते थे। ईसाई मिशनरियोंसे वह कहा करते थे "आपके होंठोंकी अपेक्षा आपका जीवन अधिक वाचाल है (your whole life is more eloquent than your lips.)।

अन्तिम मूल्यांकन (Final Estimate). संसार गांधीजी जैसे बहुपक्षीय पुरुष को आसानीसे नहीं भूल सकता जो परिश्रमी जीवन व्यतीत करते थे और अपनी प्रशंसा की परवाह नहीं करते थे। उन्होंने अपने जीवनके ४० वर्षोंसे अधिकमें सत्य और अहिंसा का पालन किया था। वह अपने बारेमें ठीक ही कहते थे "पूर्ण प्रेमकी विधि ही मेरे जीवनकी विधि है।" जिनमें गांधीजी को समझनेकी क्षमता नहीं थी वह उन्हें "पीछे फेंकने वाला" (a throw back) कहते थे जैसा कि हरबर्ट मैथ्यूज ने न्यूयार्क टाइम्स में लिखा था। वास्तविकता यह थी कि गांधीजी "आगे ले चलने वाले" और अपने समयसे सदियों आगे थे। हमारे युगके एक अत्यन्त प्रसिद्ध दार्शनिक बर्नार्डशा ने गांधीजी की हत्या पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था "बहुत अच्छा होना खतरनाक है।" अमेरिका के भूतपूर्व पर-राष्ट्र मंत्री जार्ज मार्शल ने कहा था "महात्मा गांधी सारे मानव समाजकी आत्माके प्रवक्ता हैं।" जीवन पर्यन्त भारत के मित्र स्वर्गीय सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने इसी प्रकार लिखा था "मैं किसी भी समयके या आधुनिक इतिहासके किसी ऐसे अन्य व्यक्तिको नहीं जानता

जिसने भौतिक वस्तुओंके ऊपर आत्माकी शक्तिका प्रदर्शन इतने प्रभावपूर्ण और विश्वसनीय तरीके से किया है।"

Select Readings

H. T Mazumdar—*Mahatma Gandhi, Peaceful Revolutionary, Twentieth Century Library, Charles Scribner's Sons, New York,* 1952.

Chandrashankar Shukla—*Gandhiji's View of Life, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay,* 1951

J. B. Kripalani—*The Gandhian Way, Vora & Co. Publishers, Ltd, 3 Round Building, Kalbadevi Road, Bombay 2,* 1945.

D. K. Dutta—*The Philosophy of Mahatma Gandhi. The University of Wisconsin Press, Madison,* 1953.

The Nation's Voice—Gandhiji's speeches at the Round Table Conference, Navajivan Publishing House, Ahmedabad 14, 1932.

Humayun Kabir (ed.)—*Gandhian Outlook and Techniques—Ministry of Education, Government of India,* 1953—*Papers Read at International Seminar held at New Delhi in January,* 1953 *to consider the contribution of Gandhian outlook and techniques to the solution of tensions within and among nations.*

G N. Dhawan—*The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad* 14, 1951.

Roy Walker—*Sword of Gold, Indian Independence Union, London,* 1945.

Bishan Sarup Sharma—*Gandhi as a Political Thinker, Indian Press (Publications) Ltd., Allahabad,* 1956.

Bharatan Kumarappa—*Indian Democracy—A Symposium—Article on Sarvodaya Democracy; Association Press, Calcutta,* 1955

M. K. Gandhi—*Sarvodaya, Navajivan Publishing House, Ahmedabad 14, 1945.*

M K. Gandhi—*For Pacifists, Navajivan Publishing House, Ahmedabad* 14, 1949.

Vinoba Bhave—*Swaraj Shastra, Padma Publications, Lakshmi Building, Ferozeshah Mehta Road, Bombay,* 1945.

BIBLIOGRAPHY

1. APPADORAI, A.—*The Substance of Politics*, Madras, Oxford University Press.
2. BARKER, ERNEST—*Greek Political Theory Plato and his Predecessors*, London, Methuen.
3. BARKER, ERNEST—*Political Thought in England Spencer to Present Day (H. U. L.)*, London, Oxford University Press
4. BARNES, LEONARD—*Future of Colonies*, London, Hogarth
5. BOSANQUET, B.—*The Philosophical Theory of State*, London, Macmillan.
6. BROWN, IVOR—*English Political Theory*, London, Methuen
7. BRYCE, VISC—*International Relations*, London, Macmillan
8. BUELL, R. L.—*International Relations*, London, Putnam
9. BURNS, C. D.—*Democracy (H U L)*, London, Oxford University Press.
10. BURNS, C. D.—*Political Ideas*, London, Oxford University Press
11. CARTY, P.—*Economics: A Social Science*
12. CROSSMAN, R. H. S.—*Government and the Governed: History of Political Ideas and Political Practice*, London, Christophers.
13 DAVIDSON, W. L.—*Political Thought in England: Bentham to Mill (H. U. L.)*, London, Oxford University Press.
14. DEWEY, J —*German Philosophy and Politics*.
15. DICEY, A V.—*Introduction to the Study of the Law of Constitution*, London, Macmillan
16. DUGUIT—*Modern French Legal Philosophy*
17. DUNNING, W.A.—*History of Political Theories (3 Vols)*, New York, Macmillan.
18. ELDRIDGE—*The New Citizenship*
19. ELLIOT—*Lecture at Harvard*.
20. FINER, H.—*Theory and Practice of Modern Government*, London, Methuen.
21. FORD, J.—*Social Problems and Social Policy*, London, Ginn.
22. GARNER, J. W.—*Introduction to Political Science*, London, American Book Supply Co. Limited.
23. GARNER, J. W.—*Political Science and Government*.

. GETTELL, R. G.—*Political Science*, London, Ginn.
. GETTELL, R G.—*History of Political Thought*, London, Allen & Unwin
6 GETTELL, R G —*Problems of Political Evolution.*
27. GIERKE, O —*Political Theories of the Middle Ages*, Tr. Maitland, London, Cambridge University Press.
28 GILCHRIST, R. N —*Principles of Political Science*, London, Longmans.
29. GREEN, T. H.—*Lectures on Principles of Political Obligation*, London, Longmans
30 HARRISON, FREDERIC—*On Jurisprudence and the Conflict of Law*
31. HALLOWELL, J. H.—*Main Currents in Modern Political Thought*
32. HAYES C. J H —*Essays on Nationalism*, London, Macmillan
33 HEARNSHAW, F. J. C —*Democracy at the Cross-ways.*
34 HEGEL, G. W. F.—*Philosophy of History.*
35 HOBBS, THOMAS—*Leviathan*, Ed. Pogson Smith, London, Oxford University Press.
36 HOCKING, W. E.—*The Philosophy of Law and of Rights*, New Haven, Yale University Press.
37. HOCKING, W E.—*Lectures at Harvard*
38 HOLLAND, T. E.—*Elements of Jurisprudence*, London, Oxford University Press.
39 JENKS, EDWARD—*The State and the Nation.*
40 JOAD, C. E M —*Liberty Today*, (*Thinker's Library*), London, Watts.
41. JOAD, C. E. M.—*Modern Political Theory*, London, Oxford University Press.
42. JONES, SIR HENRY—*Idealism as a Practical Creed.*
43. JOSEPH, BERNARD—*Nationality*, London, Allen & Unwin.
44. KRABBE—*Modern Idea of State.*
45. KRANENBURG, R.—*Political Science*, London, Oxford University Press
46. LAHIRI & BANERJEE—*An Introduction to the Principles of Civics.*
47. LASKI, H. J.—*A Grammar of Politics*, London, Allen & Unwin.
48. LASKI, H. J.—*Introduction to Politics*, London, Allen & Unwin.
49. LASKI, H. J.—*Liberty in Modern State*, London, Allen & Unwin.
50. LASKI, H. J.—*The State in Theory and Practice*, London, Allen & Unwin.

51. LEACOCK, STEPHEN—*Elements of Political Science, London, Constable.*
52. LINDSAY, A. D.—*I Believe in Democracy.*
53. LINDSAY, A. D.—*Parliament or Dictatorship.*
54. LORD, A. R.—*Principles of Politics, London, Oxford University Press.*
55. MACIVER, R. M —*The Modern State, London, Oxford University Press.*
56. MACILWAIN, C H —*Political Science Quarterly, March,* 1933, *Pages* 93-100.
57 MAINE, SIR H.—*Early History of Institution*
58. MARRIOTT, J A. R.—*Mechanism of Modern State, London, Oxford University Press.*
59. MAZZINI GUISSEPPI—*Life and Writings*
60. MERRIAM, C. E —*History of the Theory of Sovereignty since Rousseau.*
61. MILL, J. S.—*On Liberty (Thinker's Library), London, Watts*
62. MILL, J S —*Utilitarianism, (N Univ. Series), London, Routledge*
63. MOON, P. T —*Imperialism in World Politics, London, Macmillan.*
64 RALEIGH, T —*Elementary Politics, London, Oxford University Press*
65. RAMAIYER—*Politics.*
66 RITCHIE, D G.—*Natural Rights (Philos. Series), London, Allen & Unwin.*
67. ROUSSEAU J. J.—*Social Contract (Ev'man. Series), London, Dent.*
68 RUTHNASWAMY, M.—*Making of the State, London, Williams & Norgate Ltd.*
69. SASTRI, S.—*Rights and Duties of the Indian Citizens, Calcutta University Press.*
70 SCHUMAN, F. L —*Imperialism and World Politics.*
71. SETH, JAMES—*Study of Ethical, Principles, Edinburg, William Blackwood & Sons, Limited.*
72. SIDGWICK, HENRY—*Elements of Politics, London, Macmillan*
73. SPECTATOR BOOKLETS—*Parliament or Dictatorship, London. Methuen.*
74 SPENCER, H.—*Social Statics, London, Watts.*
75. STEPHEN, SIR, LESLIE—*Science of Ethics, London, John Murray*
76 TAWNEY, R. H.—*Equality, London, Allen & Unwin.*
77. TAYLOR & BROWN—*Human Relations.*

78. TOYNBEE, A J—*A Study of History, London, Oxford University Press.*

79. VAUGHAN, G E—*Studies in the History of Political Philosophy Before & After Rousseau, Manchester University Press.*

80. WARD, J—*Sovereignty.*

81. WILDE, N.—*Ethical Basis of the State, London, Oxford University Press*

82 WILLOUGHBY, W. W.—*Social Justice*

83 WOOLF, LEONARD—*Imperialism and Civilisation, London, Hogarth.*

84 ZIMMERIN, A E—*The Third British Empire.*

85. THE LEAGUE OF NATIONS—*Aims, Methods & Activity, London, Allen & Unwin.*

अनुक्रमणिका